# वक्तव्य

इतिहास कभी-कभी स्वयं अपने पृष्ठ उलटने लगता है जैसे सोया हुआ राष्ट्र अपनी गाढ़ निद्रा पूरी कर, निर्निमेष दृष्टि से, एक वार सम्पूर्ण विश्व को देखने लगता है, तव वह दो-एक वार अपने पलक, एक-आध क्षण को, खोलता-मूंदता और मूंदता-खोलता है और फिर एकाएक उठ वैठता है। यह उर्वरा धरा किंचित् सलिल-रंजन प्राप्त कर, नैसर्गिक रूप से, हरित-पीत दूर्वादल अंकुरित कर देती है। स्वतन्त्र राष्ट्र के अभ्युत्थान की पावन घड़ियों में, जनकल्याण की वुभुक्षित लालसाओं को पूर्ण करने के लिए, एक युगपुरुष के पश्चात् पथानुगामी अन्य साधकों और सन्तों का उदय भी सृष्टि के इसी प्रकृत नियम का द्योतक जान पड़ता है। मुनिवर आचार्य विनोवा भावे की भूदान-योजना भी उन्हीं पथ-चिह्नों पर प्रगति का एक अग्रिम पदक्षेप है, जो गान्धी-दर्शन की प्रशस्त भूमि पर एक अक्षय राजपथ के रूप में हमें प्राप्त हुए हैं।

हमारे समाज में आज ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा और प्रवंचना, जातिभेद और प्रान्तीयता आदि कुप्रवृत्तियों ने घर कर लिया है। नगरों और ग्रामों की स्थिति यह है कि उत्पादन, जीवनोपयोगी साधन तथा शासन और व्यवस्था के अधिकार जिन लोगों के हाथों में हैं, वे न्याय-अन्याय की ओर न देखकर, वहुधा सम्पर्क और स्वार्थ-साधन की ओर देखने लगते हैं। संयोगों और नवनवोत्पन्न स्थितियों से अनुचित लाभ उठाना जैसे एक परम्परा वन गई है, वेईमानी का अर्थ वुद्धिमत्ता समझा जाता है। वैभव और प्रदर्शन का मोह इस सीमा तक वढ़ गया है कि पूंजी, सम्पत्ति, अधिकार और सुविधाओं का समान वितरण दुष्कर हो

उठा है। ऐसा जान पड़ता है कि हमारा सात्त्विक, सुसंस्कृत और धर्मप्राण समाज व्यक्तिगत उन्नति की दौड़ में संघर्षरत होकर सत्य, न्याय, कर्तव्य और नैतिकता से विलग वन गया है ! कभी-कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि हमारे देशवासी शरीर, रूप और वस्त्र-सज्जा में भले ही भारतीय प्रतीत होते हों किन्तु व्यावहारिक जीवन और दैनिक कर्मधारा में सर्वथा विदेशी और विजातीय वन गये हैं ! ऐसी दशा में वापू का यह स्वप्न कैसे पूरा हो कि 'हमें यहाँ ऐसा रामराज्य स्थापित करना है कि सारे देश में समता हो, शोषण न हो; प्रसन्नता और उत्साह हो, खिन्नता और उदासीनता न हो; योग्यता और शक्ति के अनुसार सवके पास काम हो, वेकारी न हो; कोई भूखा-नंगा न हो और व्यापार में भी प्रेम का ही अनुशासन निहित हो; अन्यतम दूरदर्शी वापू ने इस रामराज्य के निर्माण का स्वप्न ही नहीं देखा था, उसको चरितार्थ करने के लिए रचनात्मक कार्य करनेवाली अनेक संस्थाओं का संगठन भी उन्होंने किया था। आज हम अपने देश में जो नवजागरण देख रहे हैं, नवनिर्माण पा रहे हैं, वह उन्हीं संस्थाओं के सतत प्रयत्न और साधना-संयम का पुण्यफल है। परन्तु वे अपने स्वप्न को पूर्णरूप से चरितार्थ करने से पूर्व अपना शरीर त्याग कर अन्तरिक्ष में लीन हो गये ! जब उनके रामराज्य का स्वप्न चरितार्थ करनेवाला कोई न रहा और वापू के सभी साथी राजकीय व्यवस्था और शासन सँभालने की चिन्ता में लग गये—विधानसभाओं में चले गये, तव मुनिवर सन्त ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया। भूदान-यज्ञ आज उसी का एक सुन्दर रचनात्मक रूप है।

मुनिवर विनोबा भावे का कथन है—"वापू ने अस्पृश्यता-निवारण आन्दोलन के क्षण सवर्णों से कहा था—'हरिजनों को अपनाकर अपने किये पापों का प्रायश्चित्त करो।'" आज मुनिवर विनोवा भी हम से पापों का ही प्रायश्चित्त कराना चाहते हैं। तभी तो वे हमसे कहते हैं—"इस नाव में पानी वड़े ज़ोरों के साथ भर रहा है। अब इस पानी को उलीचो।

जितना ही उलीच सकोगे, उतनी ही यह नाव हल्की हो जायगी और मानव प्रलय से बच जायगा !"

यहाँ मुनिवर विनोवा ने जिस नाव की ओर संकेत किया है, वह समाज की है, राष्ट्र की है और जिस जल को उलीचने के लिए वे कहते हैं, वह है कलुष—हमारे मन, वचन और कर्म का। उलीच-उलीचकर यह नाव निष्कलुष हो जायगी, तो समाज और राष्ट्र का यह जलयान जलमग्न होने से बच जायगा।

चिन्तक महान् हमारे उपराष्ट्रपति डॉक्टर राधाकृष्णन का कथन है कि आचार्य विनोवा भावे भूमि का पुनर्वितरण चाहते हैं, परन्तु इससे भी अधिक वे अपने इस देश में प्रेम और सहयोग की भावना स्थापित करना चाहते हैं। वे सम्पूर्ण राष्ट्र का नैतिक उत्थान चाहते हैं। वे हमें यह स्मरण दिलाते हैं कि प्रेम घृणा से श्रेष्ठ है, शान्ति युद्ध से उत्तम, सहयोग संघर्ष से बढ़कर है, विनम्रता हिंसा से पवित्र और समझा बुझाकर मना लेना, बलप्रयोग से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण।

इस उपन्यास की पृष्ठभूमि में पाठक इसी विचारधारा के विकसित, पावन और शालीन स्वर दिशि-दिशि में दृश्यमान पायेंगे। मेरी मान्यता है कि किसी भी विचार और दर्शन को कला के कोमल शरीर में प्राणवत् प्रतिष्ठित कर देना केवल साहित्य का ही धर्म है और साहित्य में भी उपन्यास उसका सर्वोत्तम माध्यम ! मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि उपर्युक्त विचार और दर्शन को कला का रूप देने में मैंने सृजन की मान्यताओं का पूर्ण ध्यान रखा है। मुझे पूर्ण आशा है कि मेरी यह रचना युग की माँग का प्रतिनिधित्व करने में एक सफल प्रयास मानी जायगी।

ता० १५।६।५५
८६/३३५, चन्द्रिकादेवी रोड,
देवनगर, कानपुर

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

# पात्र-परिचय

## पुरुष

| | | |
|---|---|---|
| केदारबाबू | ... | कानपुर-निवासी कपड़े के एक व्यापारी। |
| कैलाशबाबू | ... | केदारबाबू के छोटे भाई। |
| शंकर | ... | कैलाशबाबू के बड़े पुत्र—उपनाम 'मुन्नी'। |
| विष्णु | ... | शंकर का छोटा भाई। |
| ब्रह्मा | ... | विष्णु का छोटा भाई। |
| लक्ष्मीकान्त | ... | देवकी का बड़ा पुत्र। |
| पद्मकान्त | ... | मंगलपुर का एक विद्यार्थी, लक्ष्मीकान्त का छोटा भाई। |
| गयाबाबू | ... | इलाहाबाद के एक नागरिक, पोस्टआफ़िस से अवकाशप्राप्त—केदारबाबू के साढ़ू। |
| मायाबाबू | ... | गयाबाबू के पुत्र। |
| घनश्याम | ... | कानपुर के एक हिन्दी दैनिक 'लोकमान्य' में एक पत्रकार। |
| वर्मा साहब | ... | इलाहाबाद में एक वकील। |
| गोकुलसुकुल | ... | मंगलपुर का एक कृषक। |
| कामतापण्डित | ... | मंगलपुर का एक कृषक। |
| जमुनाप्रसाद | ... | मंगलपुर का एक कृषक, कानों से कम सुनता है। |
| परमेश्वरीदयाल | ... | मंगलपुर का एक प्रमुख व्यक्ति। |

## नारी

| | | |
|---|---|---|
| मुन्नी की माँ | ... | कैलाशबाबू की पत्नी। |
| यमुना | ... | गयाबाबू की पत्नी |
| कामना | ... | विष्णु की बहन, उपनाम 'कम्मो'। |
| गोमती | ... | कानपुर में एक अध्यापिका। |
| वीणा | ... | गयाबाबू की ग्रेजुएट कन्या—उपनाम 'रन्नो'। |
| मीरा | ... | मायाबाबू की पत्नी। |
| रेणु | ... | गोमती की लड़की। |
| रजनी | ... | घनश्याम की पत्नी। |
| लल्ली | ... | रेणु की छोटी बहिन। |
| देवकी | ... | केदारबाबू की भतीजी। |

---

: १ :

'खुले आकाश के नीचे चारपाई पर लेटा हुआ व्यक्ति यदि कभी ऐसी परिस्थिति में पड़ जाय कि रात-भर तारे ही गिनता रहे, तो यह कितना अच्छा होगा कि वह तारे गिनने के बजाय चांद को ही इकटक देखता रहे। लज्जा के कारण हो अथवा असफलता के दारुण आघात के कारण, यदि किसी व्यक्ति को चुल्लू-भर पानी में डूब मरने की नौबत आ जाय तो यह कितना अच्छा हो कि साधना और तप के प्रताप से, वह उस चुल्लू-भर पानी को भी अमृत बना डाले। फिर परवाह नहीं कि चांद देखते-देखते वह भोर कर दे, या चुल्लू-भर अमृत में ही एक बार डुबकी लगा ले।

'फटा जूता मैं कभी न पहनूंगा, मगर फटी कमीज़ पहनने में मुझे आपत्ति न होगी। क्योंकि फटी क़मीज़ तो मैं भीतर पहन लूंगा, मगर फटा जूता रास्ते की धूल उड़ायेगा और कभी-न-कभी पैर में भी कोई कील चुभा देगा। खाना एक ही वक्त खा लूंगा, मगर जब खाने बैठूंगा तब षट्रस-व्यंजन मुझे जरूर चाहिएं। इसलिए कि भूख की शान्ति का तृप्ति के साथ मैं वही नाता मानता हूँ जो किसी ननद का अपनी भाभी के साथ होता है। तात्पर्य यह कि एक तो वैभव के प्रति मेरी ऐसी कोई आसक्ति नहीं है कि उसके बिना मैं जी ही न सकूं। दूसरे यह कि उसको जीवन की हरियाली से विलग कोई अन्य अत्यावश्यक वस्तु भी मैं नहीं मानता, क्योंकि मेरे वैभव का सुख लोभ और मोह नहीं, संयम और साधना है।

...'तो, यह मोज़ा भी फट गया! हटाओ चर्खा। तुम यहां पड़े रहो जी। हमें अब तुम्हारी ज़रूरत नहीं है। ऐं, क्या कहा? चूना सूख गया? तो गोली मारो, पान हम नहीं खायेंगे।...यह तुमने अच्छा किया कम्मो कि रुमाल साफ़ कर दिया। बस, आज से मैं यह समझ गया कि अब

तुम्हें मेरी वात याद रहने लगी है। ···हाँ-हाँ, मुझको याद है। ड्राइंग की कापी न ? पैसे हैं मेरे पास। ···प्रविसि नगर कीजै सव काजा। हृदय राखि कौसलपुर राजा।' वस, इन्हीं भावनाओं के साथ शंकर खट-खट सीढ़ियाँ उतरता हुआ अपने मकान के नीचे आ गया।

एक अध्यापिकाजी हाथ में वैग लटकाये जा रही थीं। उनके पीछे जीभ लपलपाता और दुम हिलाता हुआ एक कुत्ता भी था। ट्रक में वकरियाँ लदी हुई जा रही थीं और सड़क पर पानी छिड़कनेवाली नगरपालिका की गाड़ी एक किनारे पर खड़ी अपनी पचासों आँखों से पानी वरसा रही थी। उसके आगे एक ट्रक में पक्की ईंटें लदी हुई थीं, जिसके एक पहिये की हवा खिसक गई थी। एक ताँगा खड़ा था, जिस पर रेल से उतरे हुए यात्री वैठे हुए थे। घोड़े के पैर की एक गाँठ पर पट्टी वँधी थी। वायें ओर सड़क पर हाथ में थाली लटकाये एक अधेड़ व्यक्ति पुकार लगा रहा था—"मक्खन की गोली!" वरफ़ की ठेलिया लिये एक अनपढ़ युवक दस सेर वरफ़ का ढेला पान की दूकान पर रख रहा था। कानों में रेल की सीटी और वाज़ार का जनरव गूँज रहा था। शंकर दो मिनट तक वाता-वरण के साथ-साथ इस दृश्य को भी ठगा-सा खड़ा देखता रहा। उसके मन में आया—इस सारे कोलाहल के वीच यह मक्खन की गोली खूव रही।

'और उस कुत्ते का जीभ लपलपाना ?

'खैर जी, मुझे तो आज परीक्षा-फल की टोह लगानी है। मगर यहाँ तो कोई रिक्शा भी नहीं है। और हो भी, तो जायगा कैसे ? मैं भी खूव हूँ, इतनी देर से यहाँ खड़ा हूँ। अगर पैदल ही मार देता तो इतनी देर में तो घंटाघर पहुँच गया होता।'

—यही सव सोचता हुआ शंकर आगे वढ़ गया।

छज्जे पर खड़ी-खड़ी लल्ली कहने लगी—"दीदी, ओ दीदी, तुम्हारे शंकर जी जा रहे हैं।"

"धुत् पगली! तुम्हारे शंकरजी क्या ? शैतान कहीं की!"

"दीदी, कहो तो बुला लूं ?"

अवस्था में लल्ली रेणु से चार वर्ष छोटी है, पर जिन्दगी के रस को समझने में कहीं अधिक बड़ी और जागरूक ।

"मगर जरूरत क्या है बुलाने की ? अपने किसी काम से जा रहे होंगे।"

रेणु ने जवाब तो दे दिया, लेकिन मुंह का साबुन अच्छी तरह से धो न सकी । झट तौलिये से मुंह पोंछती हुई छज्जे पर आ गई । देखा सचमुच शंकर जा रहे हैं । तब कमरे के भीतर आ गई और दर्पण में मुंह देखती हुई बोल उठी—"जा लल्ली दौड़, बुला ही ले । मैं (बगल के मकान में) रजनी भाभी के यहाँ बैठती हूँ । फिर कुछ धीरे से कहने लगी—"मगर किसी को मालूम न होने पाये । अच्छा !"

लल्ली प्रकट रूप में कम परन्तु अप्रकट रूप में अधिक मुस्कराई। वह जब शंकर के पास पहुँची तो शंकर भीड़ के भीतर घुसकर आगे बढ़ जाने की कोशिश में था । तब फुटपाथ से लगे खम्भे के सहारे खड़ी होकर लल्ली बोली—"अरे शंकर भाई साहब, ओ शंकर जी ! शंकर जी !!"

शंकर ने दृष्टि घुमाकर जो लल्ली को देखा तो हाथ से बुलाने का संकेत करती हुई लल्ली बोल उठी—"सुनिए सुनिए । एक बहुत जरूरी काम है आपसे ।"

शंकर लौट पड़ा । उसके पास आते ही लल्ली बोली—"इतने सवेरे कहाँ जा रहे हैं आप ?"

शंकर की भृकुटियों में गाँठ पड़ गई । बोला—"बस, यही काम था ?" और पुनः लौट पड़ा ।

लल्ली बिचारी पहले तो सकपका गई, फिर बड़ी शीघ्रता से बोल उठी—"सुनिए-सुनिए, आपको दीदी बुला रही हैं ।"

शंकर फिर खड़ा हो गया ।

"उससे कह देना फिर आऊँगा । इस समय अवकाश नहीं है ।" कहता हुआ शंकर फिर भीड़ में मिल गया ।

—"मैं कार्य के वक्त कार्य देखता हूँ। उस समय कोई भी प्रलोभन मुझे खरीद नहीं सकता।"

शंकर अपने मन की इस वाणी में निहित कथन के संयोगात्मक रूप की ओर नहीं देख रहा था; वरन् अपने-आपको समझा रहा था। उसका ध्यान उस समय एकमात्र परीक्षाफल की ओर था।

लल्ली लौटकर वापस चली आई। रजनी के घर जाकर उसने जब रेणु से कहा—"शंकर जी नहीं आये दीदी। जान पड़ता है, बहुत जल्दी में थे। बोले—इस समय नहीं, फिर आऊँगा।"

तब तक रजनी रेणु के पास नहीं आई थी। रेणु उसके कमरे में अकेली बैठी हुई थी। मगर अब झट आ गई और बोली—"तुम्हारे शंकर जी कहीं जा रहे थे, चुपचाप, कुछ सोचते-से।"

रजनी की गोद में एक बच्चा था और उसके हाथ में एक खिलौना। रेणु कुछ बोली नहीं। वह रजनी को यह बतलाना नहीं चाहती थी कि उसने शंकर जी को ऊपर ले आने के लिए, अपनी छोटी बहिन लल्ली को नीचे दरवाज़े पर भेजा भी था।

बच्चा अब सोने लगा था। उसकी पीठ पर थपकी देती हुई रजनी बोली—"बुलाया नहीं तुमने? शायद दिखाई नहीं पड़े। लेकिन इधर आये नहीं, हालांकि दरवाज़े के पास से ही निकल गये! यह बात उनके मन में भी नहीं आई कि चलो, दस-पाँच मिनट के लिए होते चलें!"

रेणु इस विषय में कुछ कहना नहीं चाहती थी; परन्तु जब रजनी ने शंकर पर यह आरोप लगाया कि अब इस घर के लिए—और विशेष-रूप से रेणु के लिए—उसके मन में कहीं कोई स्थान नहीं है, मोह और खिचाव भी नहीं है। यहाँ तक कि वह मिठास और शील भी नहीं है, जो मनुष्य की हार्दिकता के मुख्य रूप हैं, तब उसके मुंह से निकल गया—"बहुत जल्दी में रहे होंगे।"

रेणु यहाँ किस काम से आई थी, यह भी वह रजनी को बताना नहीं

चाहती थी। इसलिए उसने पूछा—"क्या कर रही थी भाभी ?"

"कुछ नहीं, यों ही मूँग के चीले बनाने जा रही थी।"

रेणु ने पूछा—"दद्दा कहाँ हैं ?"

रजनी ने जवाब दिया—"बाथरूम में।"

तब रेणु उठकर चल दी और बोली—"जाती हूँ, फिर आऊँगी।"

रजनी बोल उठी—"क्यों, क्यों ? बैठो न ? अभी दो-चार मिनट में आ जायँगे।"

रेणु ने भी कह दिया—"कोई काम नहीं था। यों ही चली आई थी। सोचा, शायद मेरे लेख का कुछ निपटारा हो गया हो।"

अब मुस्कराती हुई रजनी बोल उठी—"तभी तो कहती हूँ, बैठो न।"

रेणु ने उत्तर दिया—"आज अम्मा की दाढ़ में ज़रा दर्द है। इसलिए सारा काम पड़ा हुआ है। दाल चूल्हे पर चढ़ा दी है। कहीं चूल्हा बुझ न गया हो !" वह दरवाज़े तक गई और घूमकर अपने कमरे की ओर जाने के लिए पहला क़दम उसने आगे रखा ही था कि घनश्याम बोला—"क्यों रेणु ? कैसे आई और कैसे चल दी ? इतनी जल्दी भी क्या ! बैठो-बैठो !"

संकुचित रेणु ने किवाड़ पर अँगुली से कुछ लिखने का-सा भाव प्रकट करते हुए पूछा—"मेरे उस लेख का क्या हुआ ?"

घनश्याम ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"लेख वैसे तो न छपता; बल्कि अब तक वापस भी आ गया होता। लेकिन मैंने सम्पादकजी से कह दिया कि रेणु को मैं जानता हूँ। वह बहुत सुशील लड़की है। उसका लेख तो आपको छापना ही होगा। तुम विश्वास करो, वह बहुत जल्दी छपेगा।"

इतने में रजनी आ गई और उसके मन में आया कि हँसती-हँसती कह दे—"चूल्हा शायद बुझने के बाद फिर अपने-आप जल भी उठा होगा।" पर तब तक रेणु ऊपर चली गई।

घंटाघर के पास जो एक पैलेशियल-बिल्डिंग उत्तर और पूर्व की ओर मुंह करके सिर ऊँचा किये खड़ी है, शंकर उसके नीचे अभी आया ही था

कि झट ऊपर से किसी ने आठ-दस पुष्प उसके ऊपर फेंक दिये ! अब शंकर ने तिखण्डे की ओर जो सिर उठाकर देखा, तो उसे कोई दिखाई न पड़ा। तब वह इधर-उधर देखने लगा। फिर भी वह यह न जान सका कि ये फूल जो उसके सिर पर फेंके गये हैं, किसकी हार्दिकता का पवित्र उल्लास और किसकी बधाई के सूचक हैं।

शंकर अब फुटपाथ के भीतर आ गया। इसी मकान में उसका सहपाठी विनोद रहता है। उसने सोचा—'उसके सिवा और कौन हो सकता है ?'

शंकर ऊपर जाने के लिए दरवाज़े की ओर बढ़ा ही था कि इतने में विनोद सामने आकर उससे लिपट गया और उसकी कमर में दोनों बाँहें डालकर उसे ऊपर उछालते हुए बोला—"हज़ार-हज़ार बधाइयाँ ! फ़र्स्ट डिवीज़न में सिर्फ़ उन्नीस लड़के हैं, जिनमें एक तुम भी हो ! और भाई फ़र्स्ट डिवीज़न तुम्हारा निश्चित भी था'।"

शंकर मन-ही-मन सोचने लगा—"अभी तक तो भगवान् मेरी आकांक्षाएँ पूर्ण करता जा रहा है।' तब उसके हर्ष-गद्गद मुँह से निकल गया—"बहुत-बहुत धन्यवाद। मगर तुम्हारा क्या रहा ?"

मैं भी सेकिंड डिवीज़न में आ गया। ··· चलो, ऊपर चलो। मैंने तुम्हारे यहाँ साइकिल से एक आदमी भेजा है। पर वह शायद तुम्हें मिला नहीं। वैसे दावत तो मैंने शाम को रखी है, मगर इस वक्त पेशगी सही।"

कुछ रुकता हुआ-सा शंकर बोला—"तो फिर शाम को ही आऊँगा।"

तब आत्मीयता के प्रकार में उसे कुछ डाँटते हुए विनोद ने उत्तर दिया—"नहीं, नहीं। चलो ऊपर ! अच्छे रहे ! घर आकर ऐसे ही लौट जाओगे ?"

दोनों सीढ़ी चढ़ने लगे।

थोड़ी देर बाद इसी प्रकार रेणु के घर की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए जब शंकर ऊपर जा पहुँचा, तो उसको देखते ही लल्ली भीतर भाग गई। शंकर और आगे बढ़ गया। जिस बैठक में वह कभी-कभी रेणु से मिला

करता था, उसका दरवाज़ा खुला हुआ था; किन्तु उसके भीतर पहुँचते ही एकाएक बन्द हो गया। चकित शंकर की समझ में नहीं आया कि ऐसा क्यों हुआ। पर इसके पूर्व कि वह और कुछ सोचे, लल्ली झट उसके सामने आकर खड़ी हो गई और कुछ उत्साह के साथ मुस्कराती हुई बोली—"भाई साहब, आप इधर चले आइए मेरे साथ।"

शंकर उसके साथ निकट के दूसरे कमरे में जा पहुँचा, जहाँ इसके पूर्व वह कभी नहीं गया था।

अब अन्दर पहुँचते ही लल्ली बोली—"दीदी अभी आती हैं।"

इतना कहकर लल्ली जाने लगी, तो शंकर ने पूछा—"क्या यह कमरा सूबेदार साहब का है?"

लल्ली हँसने लगी। बोली—"हाँ, है तो उन्हीं का। आप तो सब कुछ जानते हैं। चाची भोजन बना रही हैं। घनश्याम दद्दा सिनेमा देखने गये हैं और भाभी की आजकल कुछ तबियत खराब है।"

तब कुछ सोचता हुआ-सा शंकर बोला—"अच्छा जा, अपनी दीदी से कह दे, मैं फिर आऊँगा। इस समय जाता हूँ।"

"नहीं-नहीं भाई साहब, आप बैठिए न? वे अभी आ जाती हैं। अच्छा लीजिए, मैं उन्हें बुलाये लाती हूँ। आप बैठिए तो।"

कहकर लल्ली चली गई और शंकर उस कमरे में लगे हुए एक फ़ोटोग्रुप को देखने लगा।

रेणु की माँ आज विधवा हैं। वे एक कन्या-पाठशाला में अध्यापिका हैं। भाई ब्याह हो जाने के बाद अलग रहने लगा है। रेणु स्वयं भी इण्टर कर लेने के बाद अब एक पाठशाला में अध्यापिका हो गई है। ब्याह उसका नहीं हुआ है। कब होगा, इसका कुछ निश्चय नहीं है। माँ को साठ रुपये मिलते हैं और पचास रुपये रेणु को। लल्ली पढ़ रही है। शहर का रहना, खानेवाले तीन प्राणी। रेणु की माँ सोचती रहती है; न जाने इनके भाग्य में क्या बदा है! जब तक रेणु को यह नौकरी

नहीं मिली थी, तब तक तो निर्वाह भी मुश्किल से होता था। उसका भाई प्रकाश एक शू-कम्पनी में क्लर्क है और सवा सौ रुपये पा रहा है। पर उसको इन दोनों बहनों तथा माँ के साथ रहना स्वीकार नहीं! विवाह होते ही वह अलग रहने लगा है। रेणु ने ऐसे भी दिन देखे हैं जब वह बिना खाये ही स्कूल चली गई है और शाम को जब लौटी है तब माँ उसे घर पर नहीं मिली है; खाने का कोई इन्तज़ाम नहीं है और रेणु के आते ही लल्ली रो पड़ी है; बिना पूछे रेणु समझ गई है कि वह क्यों रो रही है; सूर्यास्त होते-होते माँ लौटी है; वे झोले में राशन लिये हुए है; शाम को ही गेहूँ बीने गये हैं और उसी समय लल्ली पोटली बाँधकर उन्हें चक्की पर पिसाने ले गई है; घंटे-भर बाद जब वह आटा पिसाकर लौटी है तब कहीं चूल्हा जलाया गया है; दाल ऐसी बनाई गई है, जिसमें आधे से ज़्यादा पानी है और छिलके भी उसके निकाले नहीं गये हैं; न साग बना है, न चावल; थाली में रोटी और दाल के सिवा कभी हरी मिर्च आ गई है, कभी अमिया की चटनी और कभी सुपारी के बराबर गुड़ की डली। जब इस अवस्था में रेणु का पढ़ना दुष्कर हो गया, तब भी वह निराश नहीं हुई। कानों के टॉप्स बेचकर उसने फ़ीस जमा की, प्रवेशिका परीक्षा में वह प्राइवेट बैठी और उत्तीर्ण हुई। घनश्याम का सहपाठी होने के कारण शंकर उसके यहाँ प्रायः आया-जाया करता था। वहीं रेणु से उसका परिचय हो गया। वहीं एक दिन वह रेणु से पूछ बैठा—"कहो रेणु, पढ़ाई खूब ज़ोरों के साथ चल रही है न?"

बेचारी रेणु चुप रह गई। उसने अपना मुँह नीचे कर लिया और उसकी आँखें भर आईं।

तब घनश्याम बोल उठा था—"कहाँ? बिचारी का निर्वाह ही मुश्किल से होता है। पढ़ना कैसे जारी रहता!"

शंकर चुप रह गया, परन्तु क्षण-भर बाद वह पुनः पूछ बैठा—

"पर रेणु के तो एक भाई भी है। वह कुछ सहायता नहीं करता ?"

घनश्याम एक फीकी हँसी के साथ बोल उठा—"हाँ है भाई, मगर मैं तो उसको कसाई समझता हूँ! रेणु तुम मेरे कहने का बुरा न मानना। मैं जैसा अनुभव करता हूँ, मेरे हृदय को जैसी पीड़ा पहुँचती है, उसी के अनुसार मेरा स्वर बन जाता है।"

घनश्याम का यह उत्तर सुनकर शंकर तब अस्त-व्यस्त हो गया था। उस समय वह घर से यह संकल्प लेकर निकला था कि आज वह घनश्याम के साथ शाम को सरकस देखने जायगा। लेकिन फिर मन-ही-मन उसने वह कार्यक्रम स्थगित कर दिया था। एक ठण्डी साँस भरकर उसने उसी समय कह दिया था—"अच्छा, अब चलता हूँ, फिर आऊँगा। मगर ज़रा सुनो एक बात।" और वह उसका कन्धा पकड़कर उसे छज्जे पर लिवा ले गया था। उसने पूछा था कि इण्टर की फ़ीस कब जमा होती है ? कितने दिन बाक़ी हैं ? अच्छा खैर, तुम एक काम करो। किसी प्रकार इसकी पढ़ाई तो जारी रखवाओ ही।

तब मुस्कराते हुए घनश्याम ने कह दिया था—"हम लोगों के पारिवारिक संस्कार बड़े जड़ हैं। सच्ची बात तो यह है कि अगर मेरा विवाह न हो गया होता और रजनी यहाँ मेरे साथ न होती तो रेणु का मेरे कमरे में आना भी अम्मा को कभी स्वीकार न होता। रेणु की पढ़ाई मैं किसी प्रकार जारी नहीं रखवा सकता। समझे ? मैं इस विषय में कोई सक्रिय भाग भी ले नहीं सकता ! समझ में आया ?"

सुनकर शंकर के मुँह से निकल गया था—"अच्छा, ऑलराइट। आई विल डू इट माईसेल्फ़" और वह झपटकर तुरन्त रेणु की माँ से जा मिला था। फिर प्रणाम के बाद उसने रेणु की माँ से कहा था—"आप रेणु का पढ़ना छुड़वाकर उसकी मिट्टी क्यों खराब कर रही हैं ?"

तब रेणु की माँ गोमती ने उत्तर में कहा था—"भैया, तुम जानते नहीं हो, मेरी हालत कैसी दयनीय है !"

नहीं मिली थी, तब तक तो निर्वाह भी मुश्किल से होता था। उसका भाई प्रकाश एक शू-कम्पनी में क्लर्क है और सवा सौ रुपये पा रहा है। पर उसको इन दोनों बहनों तथा माँ के साथ रहना स्वीकार नहीं! विवाह होते ही वह अलग रहने लगा है। रेणु ने ऐसे भी दिन देखे हैं जब वह बिना खाये ही स्कूल चली गई है और शाम को जब लौटी है तब माँ उसे घर पर नहीं मिली है; खाने का कोई इन्तज़ाम नहीं है और रेणु के आते ही लल्ली रो पड़ी है; बिना पूछे रेणु समझ गई है कि वह क्यों रो रही है; सूर्यास्त होते-होते माँ लौटी है; वे झोले में राशन लिये हुए है; शाम को ही गेहूँ बीने गये हैं और उसी समय लल्ली पोटली बाँधकर उन्हें चक्की पर पिसाने ले गई है; घंटे-भर बाद जब वह आटा पिसाकर लौटी है तब कहीं चूल्हा जलाया गया है; दाल ऐसी बनाई गई है, जिसमें आधे से ज़्यादा पानी है और छिलके भी उसके निकाले नहीं गये हैं; न साग बना है, न चावल; थाली में रोटी और दाल के सिवा कभी हरी मिर्च आ गई है, कभी अमिया की चटनी और कभी सुपारी के बराबर गुड़ की डली। जब इस अवस्था में रेणु का पढ़ना दुष्कर हो गया, तब भी वह निराश नहीं हुई। कानों के टॉप्स बेचकर उसने फ़ीस जमा की, प्रवेशिका परीक्षा में वह प्राइवेट बैठी और उत्तीर्ण हुई। घनश्याम का सहपाठी होने के कारण शंकर उसके यहाँ प्रायः आया-जाया करता था। वहीं रेणु से उसका परिचय हो गया। वहीं एक दिन वह रेणु से पूछ बैठा—"कहो रेणु, पढ़ाई ख़ूब ज़ोरों के साथ चल रही है न ?"

बेचारी रेणु चुप रह गई। उसने अपना मुँह नीचे कर लिया और उसकी आँखें भर आईं।

तब घनश्याम बोल उठा था—"कहाँ ? बिचारी का निर्वाह ही मुश्किल से होता है। पढ़ना कैसे जारी रहता !"

शंकर चुप रह गया, परन्तु क्षण-भर बाद वह पुनः पूछ बैठा—

"पर रेणु के तो एक भाई भी है। वह कुछ सहायता नहीं करता ?"

घनश्याम एक फीकी हँसी के साथ बोल उठा—"हाँ है भाई, मगर मैं तो उसको कसाई समझता हूँ ! रेणु तुम मेरे कहने का बुरा न मानना। मैं जैसा अनुभव करता हूँ, मेरे हृदय को जैसी पीड़ा पहुँचती है, उसी के अनुसार मेरा स्वर बन जाता है।"

घनश्याम का यह उत्तर सुनकर शंकर तब अस्त-व्यस्त हो गया था। उस समय वह घर से यह संकल्प लेकर निकला था कि आज वह घनश्याम के साथ शाम को सरकस देखने जायगा। लेकिन फिर मन-ही-मन उसने वह कार्यक्रम स्थगित कर दिया था। एक ठण्डी साँस भरकर उसने उसी समय कह दिया था—"अच्छा, अब चलता हूँ, फिर आऊँगा। मगर ज़रा सुनो एक बात।" और वह उसका कन्धा पकड़कर उसे छज्जे पर लिवा ले गया था। उसने पूछा था कि इण्टर की फ़ीस कब जमा होती है ? कितने दिन बाक़ी हैं ? अच्छा ख़ैर, तुम एक काम करो। किसी प्रकार इसकी पढ़ाई तो जारी रखवाओ ही।

तब मुस्कराते हुए घनश्याम ने कह दिया था—"हम लोगों के पारिवारिक संस्कार बड़े जड़ हैं। सच्ची बात तो यह है कि अगर मेरा विवाह न हो गया होता और रजनी यहाँ मेरे साथ न होती तो रेणु का मेरे कमरे में आना भी अम्मा को कभी स्वीकार न होता। रेणु की पढ़ाई मैं किसी प्रकार जारी नहीं रखवा सकता। समझे ? मैं इस विषय में कोई सक्रिय भाग भी ले नहीं सकता ! समझ में आया ?"

सुनकर शंकर के मुँह से निकल गया था—"अच्छा, ऑलराइट। आई विल डू इट माईसेल्फ़" और वह झपटकर तुरन्त रेणु की माँ से जा मिला था। फिर प्रणाम के बाद उसने रेणु की माँ से कहा था—"आप रेणु का पढ़ना छुड़वाकर उसकी मिट्टी क्यों ख़राब कर रही हैं ?"

तब रेणु की माँ गोमती ने उत्तर में कहा था—"भैया, तुम जानते नहीं हो, मेरी हालत कैसी दयनीय है !"

और इसके बाद उनका कण्ठ भर आया था। अपने को किसी तरह संभालकर आगे वह इतना ही कह सकी—"खाना ही मुश्किल से चलता है, पढ़ाई-लिखाई कैसे हो ? यही हालत रही तो मुझे लल्ली का पढ़ना भी छुड़ाना पड़ेगा।"

गोमती के इस उत्तर पर शंकर ने अपना सिर ऊँचा करते हुए कहा था—"अच्छी बात है। मैं कुछ सोचूंगा।" शंकर जब इतना कहकर चलने लगा, तो गोमती बोल उठी थी—"भैया, तुमसे क्या कहूँ ! ईश्वर की इच्छा कोई नहीं जानता। नहीं तो रेणु के बाबू की अभी उमर ही क्या थी !"

दूसरे दिन ही शंकर अपने साथ एक वृद्ध शिक्षक को ले आया था। सारी बातें तय हो जाने के बाद शंकर ने उस शिक्षक को एकान्त में बुलाकर समझा दिया था—"देखिए, खूब मन लगा कर पढ़ाइएगा और महीना पूरा हो जाने के बाद मुझसे बीस रुपये ले जाया करिएगा।"

ये बीस रुपये प्रतिमास देने के लिए उसने विनोद से वचन ले लिया था क्योंकि वह एक मिल-मालिक का पुत्र था और शंकर को बहुत मानता था।

परन्तु महीना पूरा हुआ और पढ़ाई कैसी हुई है, इसकी जाँच के लिए जब उसने रेणु से दो-चार प्रश्नों के उत्तर सर्वथा असन्तोपजनक पाये, तो उन शिक्षक महाशय को पाँच-पाँच के चार नोट देते हुए गोमती के सामने ही उसने कह दिया—"चाचाजी, आप कृपा करके कल से न आइएगा। जो लोग अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते, माफ़ कीजिएगा, मैं उनकी शक्ल से घृणा करता हूँ !"

शिक्षक महाशय ने उत्तर में कहा था—"तुम तो चाहते हो कि साल-भर की पढ़ाई एक महीने में पूरी हो जाय। ऐसा न कभी हुआ है और न मैं कर ही सकता हूँ।" इतना कहकर जब शिक्षक महाशय चले गये, तब शंकर कहने लगा—"अच्छा माँ, अब फिर कोई दूसरा आदमी

देखूंगा। विना पढ़ाये तो काम चलेगा नहीं।"

गोमती वोल उठी थी—"वेटा, मैं सब समझ गई। मुझे तुम्हारे ऊपर पूरा विश्वास है। सब आदमी एक-से नहीं होते। अव तुम ऐसा करो, न ज्यादा देर के लिए और न रोज़ाना, वस कभी-कभी एक-आध घण्टे का समय इसे दे दिया करो। इतना ही इसके लिए वहुत होगा।"

शंकर हँस पड़ा। उसने आश्चर्य के साथ कह दिया—"मैं स्वयं! असम्भव। लेकिन तुम चिन्ता मत करो माँ। भगवान् के वड़े-वड़े हाथ हैं। वह कुछ-न-कुछ अवश्य करेगा।"

तव कभी-कभी—नित्य नहीं—थोड़ा-वहुत पढ़ा देने के लिए उसने घनश्याम को ही पटा लिया था। पर घनश्याम ने भी इस शर्त पर स्वीकार किया था कि वह माँ के समक्ष ही कभी-कभी थोड़ा-वहुत समय दे दिया करेगा।

इस प्रकार रेणु के साथ शंकर का वहुत आत्मीय सम्वन्ध स्थापित हो गया था। लेकिन अव स्थिति वदल चुकी थी और जिस शंकर ने रेणु के जीवन को आगे वढ़ाने में इतनी सहानुभूति और उदात्त भावना का परिचय दिया जा, वह स्वयं भी रेणु के साथ अव स्वतन्त्रता-पूर्वक वार्तालाप करने में संकोच करने लगा था।

इसका एक कारण था। गोमती ने भीतर-ही-भीतर चेष्टा की थी कि जव दोनों का मन इतना मिला हुआ है तो क्यों न इनका विधिवत् वैवाहिक सम्वन्ध हो जाय। परन्तु उसको अपने इस प्रयत्न में सफलता नहीं मिली। शंकर के ताऊ केदारवावू ने स्पष्ट कह दिया था—"अभी मुन्नी का विवाह नहीं होगा।"

दो मिनट के वाद जव रेणु उस कमरे में आई तो उसने सकुचते हुए पूछा—"सुना है, आज परीक्षाफल प्रकाशित हो गया।"

शंकर ने अपना पुलक-हास कुछ दवाते हुए जवाव दिया—"हाँ रेणु, मैंने भी, तुम्हारी भावना के अनुसार, फ़र्स्ट डिवीज़न पाया है। मैं अभी

विनोद के यहाँ से परीक्षा-फल की ववाई लेकर आ रहा हूँ !"

इतने में लल्ली एक गिलास लस्सी लेकर आ पहुँची और वोली—"अम्मा ने कहा है, चलते समय एक मिनट के लिएं मुझसे मिल लें।"

तव तत्काल रेणु वोली—"अच्छा-अच्छा। अम्मा से कह दे कि अभी आ रहे हैं। और हाँ, सुन, दो वीड़े पान तो लगा ला। भाभी के पास पनडव्वा होगा, वहीं से लगा ले आ। और देख, चूना कहीं ज्यादा न लगा देना !"

वात समाप्त करती-करती रेणु अपना अतिरिक्त हास छिपा न सकी। लल्ली चली गई। अव रेणु वोली—"ऐसा कीजिए, आज तो नहीं, क्योंकि अम्मा की दाढ़ में दर्द है। लेकिन परसों रविवार है। उस दिन मेरे यहाँ भोजन कीजिए।"

शंकर ने जवाव दिया—"उलटी वात कह रही हो रेणु। मिठाई तुम्हें मैं खिलाऊँगा।"

तव कुछ गम्भीर होती हुई सिर नीचाकर रेणु तुरन्त वोली—"वह तो मेरा अविकार है। उसको मैं थोड़े ही छोड़ सकती हूँ।" फिर उसने सिर कुछ ऊपर उठा लिया। साहस के साथ सहसा वह वोल उठी—"आप ही सोच देखिए, आपने हमारे यहाँ कभी खाना नहीं खाया !"

शंकर ने उत्तर दिया—"खाना भी खाऊँगा। मगर रेणु, एक वात अगर तुमसे कहूँ तो तुमको वुरा नहीं मानना चाहिए। क्या किसी वहाने, अपने साथ की लड़कियों के संग, तुम मेरे घर नहीं आ सकती थीं?—मेरी माँ से नहीं मिल सकती थीं?"

रेणु ने शंकर के इस कथन का कुछ उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर वाद जव लल्ली पान लेकर आ पहुँची तो रेणु छज्जे की ओर चली गई।

जव शंकर लल्ली के हाथ से लस्सी का गिलास ले रहा था, तो पड़ोस के मकान में रेडियो-संगीत का एक मवुर स्वर सुनाई दे रहा था—"वसो मेरे नैनन में नन्दला······ल।" और रेणु छिपकर आँसू पोंछ रही थी।

लस्सी पी लेने पर लल्ली ने उसे पान दे दिया। रेणु रजनी के यहाँ चली गई।

इसके बाद शंकर गोमती के पास जा पहुँचा और उसके चरण स्पर्श करते हुए बोला—"माँ, तुम्हारा शंकर पास हो गया! आज परीक्षा-फल निकल आया। हमारे कालेज में केवल उन्नीस छात्र फ़र्स्ट डिवीज़न में आये हैं, जिनमें एक तुम्हारा यह बेटा शंकर भी है।"

गोमती हर्ष-विह्वल होकर बोली—"जीते रहो मेरे लाल, जुग-जुग जियो।"

इतने में रेणु भी आ पहुँची। तब गोमती बोली—"तूने तो भैया को केवल लस्सी में टरका दिया! फ़र्स्ट डिवीज़न में वह पास हुआ है, तो कम-से-कम मुँह तो उसका मीठा कर दिया होता! अरे लल्ली, मंगली हलवाई की दूकान से अच्छी-सी मिठाई तो ले आ। जा, दौड़ जल्दी से।"

शंकर ने लल्ली को रोकते हुए कहा—"ठहरो लल्ली, कहीं जाने की ज़रूरत नहीं है। आज तो पेट बहुत भरा हुआ है। विनोद किसी तरह भी नहीं माना। इस वक्त भी पेट-भर खिला दिया है और शाम का निमन्त्रण दे दिया है सो अलग। लेकिन माँ, मिठाई तो आज मुझको खिलानी चाहिए।" और पाँच रुपये का एक नोट जेब से निकालकर लल्ली को देते हुए उसने कहा—"ले, जब मिठाई तू लेने जा ही रही है, तो पूरी तरह ले आ।"

गोमती बहुत संकुचित हो उठी। बोली—"ना बेटा, तुम्हारे एहसानों के बोझ से हम लोग यों ही बहुत काफ़ी दबे हुए हैं···।"

गोमती अभी शायद और कुछ कहती, पर तभी शंकर बोल उठा—"बस माँ, तुम्हारी यही बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं। अब जो कभी एहसान-वहसान का नाम लिया, तो मैं फिर कभी झाँकने भी न आऊँगा! रेणु, तुम माँ को समझा दो। इस तरह की बातें वे मुझसे न किया करें। ···अरे लल्ली, तू अभी खड़ी ही है!"

"चल, मैं तेरे संग चलती हूँ," रेणु बोली, और गुलाब के तत्काल खिले हुए पुष्प की भाँति हास-विलसित मुद्रा में उसने कह दिया—"आपकी मिठाई तो मैं कभी छोड़ नहीं सकती।"

गोमती हंस रही थी। लेकिन उसकी आँखों में आँसू भरे हुए थे।

एकाएक उसके मुंह से निकल गया—"बेटा, आज मेरी दाढ़ में बड़ा दर्द है और इस बात का मुझे बड़ा अफ़सोस है कि···।"

शंकर दीवार की ओर देखता हुआ सोच रहा था— "जब दर्द असीम हो उठता है तब वह साधारण औषधि नहीं, अमृत का घूंट बन जाता है। क्योंकि मरण के बिना मनुष्य कभी अमर नहीं होता।' पर प्रकटरूप से बोला—"दर्द चाहे जितना हो, मगर रसगुल्ले का रस जिस समय तुम कण्ठ के नीचे उतारोगी, कम-से-कम उस समय तो उसकी मधुरता दाढ़ की पीड़ा को शान्त कर ही देगी।"

थोड़ी देर बाद जब रेणु मिठाई लेकर आई तो बोली—"अम्मा, मिठाई तो अब हम ले आये। मगर सोनेलाल की माँ जो बीमार थी, सड़क पर ही उनकी अरथी मिल गई थी। आज सवेरे उनका स्वर्गवास हो गया! कई आदमी आपस में बातचीत कर रहे थे कि तीन दिन से उसके घर में खाने को न था। एक आदमी का तो यह भी कहना था कि इधर कई दिन से वह बीमार भी थी। लड़का बहू को लेकर रेल-बाज़ार में रहता है। उसे माँ की बीमारी की कोई सूचना न थी। लोग कह रहे थे—अगर वह माँ की खोज-खबर रखता, तो वह इतनी जल्दी कभी न मरती। उसके इस मरण का सारा उत्तरदायित्व अम्मा, मैं तो उसके बेटे का ही मानती हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि हमारी यह नई पीढ़ी बन कैसी रही है!"

लल्ली दाल बीनती-बीनती कभी-कभी बातें सुनने लगती, पर बीच में बोल न पाती।

गोमती ने रेणु की इस बात के उत्तर में केवल इतना कह दिया—

"बात तो तू बिल्कुल ठीक कह रही है, रेणु। मुझको भी ऐसा ही जान पड़ता है कि सारी दुनिया अब स्वार्थ की हो गई है। क्यों हो गई है, यह मैं नहीं जानती। लेकिन हो तो ज़रूर गई है।"

गोमती जब यह कह रही थी, तब शंकर का मुख एकदम से गम्भीर हो उठा और वह बोला—"माँ, तुम बिल्कुल ठीक कह रही हो। सचमुच...मैं पग-पग पर नित्य यही देख रहा हूँ। कौन क्या कह रहा है, इस बात को कोई नहीं सुनता, जब तक कि उसके स्वार्थों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। अपने देश के नागरिकों में हमको यह भाव ही नहीं मिलता कि हमारे पड़ोस में जो आदमी मर रहा है, उसके प्रति भी हमारा और हमारी नागरिकता का कोई कर्त्तव्य होता है। जब कोई आदमी कला, शासन और व्यवस्था के क्षेत्र में, अधिकार और पद के लिए, प्रतिद्वन्द्विता करता है, तब वह भले ही मुहल्ले और नगर के द्वार-द्वार पर चक्कर काटे, किन्तु कुरसी पर बैठ जाने के बाद वह फिर सब-कुछ भूल जाता है। वह अपने उन मित्रों तक को भूल जाता है, जिनका सक्रिय समर्थन प्राप्त करके उसे वह कुरसी नसीब हुई है।"

गोमती ने मिठाई आने के अनन्तर ऐसे गम्भीर विषय को और आगे बढ़ाने से रोकते हुए कह दिया—"बात तो बहुत दुःख की है बेटा! और मुझे सदा याद रहेगी; लेकिन यह समय इन सब बातों का नहीं है। मिठाई जब तूने अपने पास होने की खुशी में मँगवा ही ली है, तो उसके साथ न्याय करने का······।"

शेषांश पूरा करते हुए शंकर ने कह दिया—"आनन्द लेने में अब देर नहीं करनी चाहिए। क्यों माँ?"

रेणु एकाएक हँस पड़ी और लल्ली ने ताली पीट दी।

जिस समय रेणु हँस रही थी, उस समय शंकर ने एक बार उसके मुँह की ओर देखा और सिर नीचा कर लिया।

गोमती मिठाइयों के चार हिस्से लगाने लगी।

शंकर बोला—"अब मेरे साथ अन्याय कर रही हो, माँ ! मैं बिल्कुल न खा सकूँगा ।"

गोमती ने उत्तर दिया—"यहाँ नहीं खा सकोगे तो घर तो ले जा सकोगे ? शाम को खा लेना ।"

शंकर ने उत्तर दिया—"शाम को तो···मैंने अभी तुमसे कहा न कि······विनोद के यहाँ दावत है । इसलिए वास्तव में शाम को भी मैं नहीं खा सकूँगा ।"

गोमती बोली—"तो फिर कल सवेरे खा लेना ।"

शंकर हँसते-हँसते बोला—"झूठ बात है । मिठाई तो मैं ताज़ी ही खाना पसन्द करता हूँ।" और यह कहकर जब उसने रेणु की ओर देखा, तो रेणु ने मुस्कराहट छिपाने के लिए अपने होंठ दबा लिये। लेकिन अपने प्रकृत उल्लास को वह न दबा सकी ।

इतने में शंकर बोला—"मेरा हिस्सा लल्ली खायेगी । क्यों लल्ली ?"

तत्काल उत्तर में लल्ली कुछ कहने ही वाली थी कि रेणु बोली—"लल्ली अकेली कैसे खायेगी ? उसमें फिर आधा हिस्सा मेरा जो हो जायगा !"

तब लल्ली बिना बोले न रह सकी—"हूँ, जैसे फिर तुम्हारे हिस्से में मेरा हिस्सा न होगा !"

तभी गोमती प्रसन्नता के साथ बोल उठी—"यह सब-कुछ नहीं । तुमको मिठाई ले ही जानी होगी । तुम्हारे घर में बहिन है, दो भाई हैं । क्या बात करते हो तुम भी, भैया !"

गोमती ने हिस्से कर दिये । लल्ली और रेणु मिठाई खाने लगीं । तब शंकर बोला—"तो अब मैं चलूँ न माँ ?"

"जाओगे ? अच्छा ।" और इतना कहते-कहते गोमती गम्भीर हो गई । शंकर भी जाने को उद्यत होने लगा ।

गोमती अब तक कमरे में बैठी थी, किन्तु अब भीतर जाती हुई

बोली—"ज़रा यहाँ आना शंकर ! तुमसे एक बात कहनी है ।"

शंकर उसके पीछे-पीछे दूसरे कमरे में चला गया। गोमती कमरे का दरवाज़ा बन्द कर चारपाई पर बैठ गई। पास ही एक दूसरी चारपाई भी बिछी हुई थी। उसकी ओर संकेत करके वह बोली—"बैठो।" फिर एक ठण्डी साँस लेकर कुछ धीरे से बोली—"बेटा शंकर, मेरे जीवन का दुःख-सुख तुमसे कुछ छिपा तो है नहीं। मैंने तो बहुत चाहा था कि रेणु सदा के लिए तुम्हारी हो जाय, लेकिन तुम्हारे दादा न माने। उन्होंने मेरा प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। शायद तुम्हें कुछ मालूम भी हुआ हो।"

शंकर ने अपना सिर नीचा कर लिया। बहुत संकोच के साथ धीरे से उसने कह दिया—"लेकिन माँ, अभी बहुत जल्दी भी तो है। यद्यपि आश्वासन-जैसी चीज़ मेरे पास नहीं; पर तुमको अपना धीरज खोना नहीं चाहिए। तुम्हें शायद नहीं मालूम होगा कि दुनिया में ऐसे भी लड़के हैं, जो पूरी तैयारी न कर सकने के कारण, परीक्षा के समय, कभी-कभी यह भी सोचने लगते हैं कि परीक्षा में बैठूं कि न बैठूं। लेकिन अगर वे बैठ जाते हैं तो फिर बाद में जीवन-भर पछताते हैं ! तुम जानती हो माँ, इस विषय में मैं कुछ कहने का अधिकारी नहीं हूँ। लेकिन जब तक मेरा अधिकार स्थापित न हो, तब तक मेरे मन को टटोलने की चेष्टा भी······। अधिक अब मैं क्या कहूँ ! इन बातों को मेरी अपेक्षा तुम कहीं अधिक समझती हो।"

गोमती पहले चुप हो गई, फिर कुछ सोचकर बोली—"कहते तो तुम बिल्कुल ठीक हो। लेकिन मैंने बहुत दुनिया देखी है, बेटा। सयानी लड़की की रुचियों को अधिक समय तक लटकाये रखना कम-से-कम मैं उचित नहीं समझती। इसलिए मैं अब चाहती यह हूँ······। ख़ैर अभी मैं कुछ नहीं कहती। तुम खुद समझदार हो। मुझे पूरी आशा है कि मेरा सुख-दुःख जैसे अब तक तुम अपना समझते आये हो, वैसे ही आगे भी समझते रहोगे।"

गोमती की बात सुनकर शंकर बहुत गम्भीर हो उठा। बोला—"क्या बताऊँ माँ, मैं सचमुच ऐसी परिस्थिति में हूँ कि कम-से-कम इस समय तो न कुछ कह सकता हूँ, न कुछ कर सकता हूँ। मुझे आशा है कि तुम इसका बुरा नहीं मानोगी और मुझको ग़लत भी न समझोगी।"

एक लम्बी ठण्डी साँस भरती हुई गोमती बोली—"न जाने मेरी रेणु के भाग्य में क्या बदा है!" और इस कथन के साथ ही उठकर उसने किवाड़ खोल दिये।

जब शंकर चप्पल पहनकर जाने लगा, तो रेणु झटपट मुँह पोंछकर सामने आ खड़ी हुई।

शंकर की मुद्रा अब कुछ म्लान हो उठी थी। रेणु सोचने लगी—'हो न हो, अम्मा ने कुछ ऐसी बात कह दी है जो इनको पसन्द नहीं आई है। अथवा यह भी हो सकता है कि इन्होंने ही उन्हें कोई कड़ा जवाब दे दिया हो, यद्यपि ऐसा स्वभाव तो इनका नहीं है।'

उसी समय शंकर ने जाते हुए कहा—"तो अब मैं जाता हूँ, रेणु।"

रूमाल मुँह से लगाती हुई संकोच के साथ रेणु बोली—"कैसे कहूँ!"

पर शंकर जब सीढ़ी उतर रहा था, तो रेणु एकाएक बोल उठी—"मगर ठहरिए, ठहरिए, अपनी मिठाई तो लेते जाइए।"

शंकर ठहर गया। रेणु ने एक रूमाल में मिठाई बाँधकर उसे दे दी। शंकर मिठाई की पोटली हाथ में लटकाकर चल दिया।

घर पहुँचने पर वह पोटली उसने विष्णु को दे दी और कह दिया—"घर-भर के लिए बराबर हिस्से कर देना।"

विष्णु ने ज्यों ही पोटली खोली, त्यों ही उसमें मिठाई के नीचे लपेटा हुआ एक काग़ज़ दिखाई पड़ा।

इतने में ब्रह्मा के साथ लक्ष्मी भी आ गया। उसी समय विष्णु बोल उठा—"अरे, इसमें तो पाँच रुपये का नोट है!"

शंकर आश्चर्य-चकित होकर विष्णु, ब्रह्मा और लक्ष्मी के मुँह की ओर देखता रह गया।

## : २ :

मंगलपुर ग्राम अपने साथ एक गौरवपूर्ण इतिहास रखता है। इस ग्राम की जन-संख्या ढाई-तीन हज़ार थी। उसमें सम्पन्न और प्रतिष्ठित परिवारों की कमी न थी। वे परिवार कहीं बहुत निकट बसे हुए थे, कहीं थोड़ा अन्तर देकर। यह अन्तर कुछ तो सर्वथा मानवी था और कुछ दैवी। कहीं उनके बीच में नीम और बरगद के पेड़ खड़े थे, जिन्हें छाया और शीतलता के लिए लोगों ने एक साध क साथ रोपा और बढ़ाया था। जैसे-जैसे वे बढ़े और पनपे थे, वैसे-वैसे उनकी कामनाएँ भी आगे बढ़-बढ़कर पल्लवित होती गई थीं। कहीं उनके बीच में मन्दिर खड़े थे और कहीं उनके पास पक्के कुएँ बन गये थे। कहीं बीच में मकान गिर गये थे और अब उनके ध्वंसावशेष खण्डहरों के रूप में विद्यमान थे। कहते हैं वे खण्डहर कभी-कभी बोल उठते थे। यह बात दूसरी है कि उनकी बोली बिरले ही सुन पाते हों। कभी-कभी वे हँसने भी लगते थे। यह बात दूसरी है कि उनका हँसना कोई देख न पाता हो। जब दो-चार ईंटें कहीं से आप-ही-आप एकाएक खिसक पड़तीं, तो शिक्षित मानस यह सोचने का अवसर पा जाता कि कोई कुत्ता या बिल्ली कूदा होगा।

ग्राम के पश्चिम और दक्षिण कोने पर पक्की ईंटों का एक बड़ा टीला था, जिसे अब 'भूरे बाबा का टीला' कहते हैं। इस टीले पर भी एक उपग्राम बसा हुआ था, जिसे सन् ५७ के विद्रोह में शान्ति-स्थापन के नाम पर ध्वस्त कर दिया गया था।

यह ग्राम अपनी उर्वरा शक्ति, उत्पादन-गरिमा, आम के बाहुल्य और साग-भाजी के लिए जिले-भर में प्रसिद्ध था। चारों ओर आम के ऐसे

आराम थे कि उनके बीच आकर पथिकों को रुकना ही पड़ता था। चारों ओर ऐसे सरोवर थे, जिनका पानी कभी सूखता न था। चारों ओर गंगा नहर की इटावावाली शाखा से निकले हुए दो वम्वे थे, जो समय-समय पर प्रवाहित होकर ग्राम की भूमि को हरा-भरा और उपजाऊ वनाये रखते थे। यदि कभी सरोवर का पानी कम हो जाता, तो उसे वम्वे का पानी देकर पुनः भर दिया जाता था। दो सरोवर तो विल्कुल पक्के थे, जिनके किनारे आठ-दस मन्दिर अव तक वने हुए हैं। इन मन्दिरों और सरोवरों के वीच में पक्की सीढ़ियाँ हैं और उसके वाद सरोवर का निर्मल जल। किनारे-किनारे वरगद और नीम के वृक्ष, वाँस तथा नरकुल के झाड़ और केलों के दर्जनों सपल्लव स्तम्भ। वस्ती से लगे वृक्षों पर वैठे कभी मोर वोलते हैं, कभी आमों के झुरमुट से कोयल कूकती है। जव वर्षा-ऋतु आती, सरोवर तृप्ति से लहरा उठते, तव उनके ऊपर श्वेत वतखें तैरतीं हुई वड़ी शोभनीक प्रतीत होतीं। वहाँ प्रातःकाल से लेकर संध्या तक स्नानार्थियों का मेला-सा लगा रहता। यह क्रम वहाँ अव तक स्थिर वना हुआ है।

इस ग्राम में मंगल और शनिवार को सप्ताह में दो वार वाज़ार लगता है। यों तो साधारण रूप से नित्य ही मिठाई, अनाज, किराना, विसातखाना, पान, सिगरेट, तम्वाकू, सायकिल-मरम्मत, पैट्रोमेक्स क़िराये पर देने आदि की दूकानें खुली रहती हैं, वस्ती में चार-पाँच जगह वैटरीवाले रेडियो भी गूँजते रहते हैं। कहीं चौपाल पर वैठे हुए लोग विनोदवार्त्ता करते रहते हैं और कहीं छप्पर के नीचे चारपाइयाँ डाले युवक और प्रौढ़ लोग ताश खेलते हैं। कहीं-कहीं कोई किसान मशीन से अपने चौपायों के लिए चारा काटता है, कहीं कोई चारपाई वुनता है। कहीं कोई रस्सियाँ वटता है, कहीं गाड़ी सुधारी जाती है। कहीं मकान के अन्दर ही अपनी कुटिया वनाये, पीपल-वृक्ष की जड़ों के निकट आसन जमाये, भगवान् के भक्त श्री मणिराम और रघुनन्दन रामायण की कथा कहते हैं, और कहीं कुछ मनचले मनोरंजन के वहाने किसी मकान के भीतर-ही-

भीतर बैठकर, छिपे तौर से कभी-कभी जुआ खेलते ; । सरोवर, मन्दिर और बाजार का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। बाजार करने को लोग निकट के गाँवों से आते हैं, वे सरोवर में स्नान करते हैं और मन्दिरों की दालान में बैठकर पहले दर्शन करते हैं, फिर विश्राम।

कोई पचास वर्ष की बात है, इन मन्दिरों में भगवान् की सेवा के लिए एक पुजारी नियुक्त थे। उनकी जीविका के लिए जमीन लगी हुई थी, जिसकी उपज से वे देव-मन्दिरों को सजाये रखते; समय-समय पर दीपोत्सव करते, भगवान् का भोग लगाते और दर्शनार्थियों को प्रसाद बाँटते। कुछ ऐसे भी मन्दिर थे जिनमें कोई पुजारी तो नियुक्त नहीं था, किन्तु सायंकाल उनमें आरती अवश्य होती; जिसे उन मन्दिरों के उत्तराधिकारी कभी स्वयं करते, कभी किसी आत्मीय को भिजवाकर करवा लेते। वर्ष में दो बार वहाँ मेला लगता। एक बार दीपावली और कार्त्तिकी पूर्णिमा के लगभग, और एक बार कृष्ण-जन्म के अवसर पर। विजयदशमी, रामनवमी, शिवरात्रि, रक्षा-बन्धन आदि पर्वों पर भी विशेष आयोजन होते रहते। इन अवसरों पर ग्राम की प्रौढ़ा और वृद्धा नारियाँ अपने-अपने पुत्र और पौत्रों, नाती-नातिनों को लेकर तो आतीं ही, इनके अतिरिक्त तरुण और वयस्क बहू-बेटियाँ भी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर आया करतीं। छोटे दुधमुँहे बालक माताओं की गोद में मुँह छिपाये, वक्ष या कन्धे से चिपटे रहते, या किलकारी मारकर हँसते और रबर के बने हुए खरगोश के खिलौने को दूकान पर लटकता देखकर उसे प्राप्त करने के लिए तर्जनी से संकेत करते। जो शिशु पैरों चल सकते, वे माता या दादी की अंगुली पकड़े रहते और झट से आगे बढ़कर उन्हें घसीटने लग जाते। वृद्धा दादियाँ इतनी जल्दी चल न पातीं, अतः उन्हें कहना पड़ता—"धीरे चल रे मुन्ना।" पर मुन्ना अपनी धृष्टता दिखाये बिना न मानता। वह उत्तर दे देता—"दादी, हमारे गुरुजी कहते थे—धीरे तो कछुआ चलता है!" मन्दिरों में सदा कथा और भागवत का पारायण

होता रहता। कभी-कभी संध्या से लेकर रात के ग्यारह-बारह बजे तक संगीतोत्सव होते। और दीपावली, कार्त्तिकी पूर्णिमा के सिलसिले में तो कृष्णलीला भी होती। प्रह्लाद-लीला, ध्रुवलीला, बाललीला, सत्य-हरिश्चन्द्र, महाभारत आदि नाटक भी खेले जाते। दीपोत्सव के अवसर पर मन्दिरों से सरोवरों तक बनी हुई पक्की सीढ़ियाँ जब दीपावली से सजा दी जातीं, तब रात्रि में उनका प्रतिबिम्ब सरोवर के ऊपर लहराता हुआ इतना सुन्दर प्रतीत होता, मानो यह ग्राम सचमुच ही कोई अमरपुरी है।

मन्दिरों में पुजारियों के रहन-सहन की एक विचित्र परम्परा थी। यह पद उन्हें तभी दिया जाता, जब वे अपने गृहस्थ-जीवन के उत्तर-दायित्व के प्रति सर्वथा निश्चिन्त हो जाते थे। ऐसे लोग प्राय: विधुर होते। उनके आचार-विचार के सम्बन्ध में संयम, सदाचार और पवित्रता का विशेष ध्यान रखा जाता। ऐसे भी पुजारी इन मन्दिरों में रहते थे, कहते हैं जिनको भगवान् स्वप्न दे-देकर अपना मन्तव्य प्रकट करते थे!

एक बार दीपावली से पूर्व भगवान् की चतुर्भुजी मूर्ति इस ग्राम के मार्ग से कहीं जा रही थी। सायंकाल जब मूर्तिवाहक लोग नैश विश्राम के लिए इस रमणीक स्थान पर ठहरे, तो भगवान् ने पुजारीजी से स्वप्न में कह दिया—"अब हम यहीं रहेंगे। यह स्थान मुझे बड़ा रमणीक जान पड़ता है।" ऐसा सुना जाता है कि उसके पश्चात् मूर्त्तिवाहकों ने आगे बढ़ने के लाख प्रयत्न किये, पर गाड़ी के पहिये एक इञ्च भी आगे न बढ़ सके! तब मूर्ति ले जानेवाले व्यक्ति को, वहीं पर मन्दिर बनवाकर, भगवान् की उस चतुर्भुजी मूर्त्ति की स्थापना करनी पड़ी। बस, तब से वहाँ दीपावली के अवसर पर मेला लगने लगा।

इन्हीं पुजारियों में एक तिवारी शीतलाप्रसाद थे। एक बार जब उन्होंने यशोदा मैया का अभिनय किया तो कृष्ण के वियोग में उनके नयनों से वास्तव में अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। लोग कहते हैं—'इसका

परिणाम यह हुआ था कि उस रात-भर भगवान् उनकी शय्या के निकट खड़े दिखाई देते रहे !'

यह स्मृतियाँ भी अब धुंधली पड़ गई हैं। काल ने उन पर विस्मृति की एक चादर डाल दी है। किन्तु उस युग के जो प्रभाव मानस पर अब तक स्थिर हैं, धुंधले होने पर भी इतने निश्चित और दृढ़ हैं कि उनकी छाप अमिट-सी हो गई है। अब तक वे साकार, सजीव और सप्राण बने हुए हैं।

स्मरण आता है, लक्ष्मीनारायण के मन्दिर का यह जो चिकना-चिकना धरातल है, जिसके ऊपर एक दीवार से दूसरी दीवार तक लगभग छः इंच मोटे चन्दन का लट्ठा लगा हुआ है, यहीं पर पुजारी शीतल-प्रसादजी कुशासन जमाये बैठा करते थे। काया से वे स्थूल थे, किन्तु मन के बड़े सूक्ष्म और निर्मल। वर्ण उनका कुछ-कुछ श्याम था और शरीर लम्बा किन्तु सुगठित। वे कमर तक का तनीदार अँगरखा और पटलीदार धोती पहनते। यह अँगरखा गाँव के ही बने हुए गाढ़े का होता और धोती मारकीन की। कोरी धोती को पहले वे एक बार धो डालते, जिससे उसका माड़ निकल जाता। तदनन्तर वे हिरमिजी के हलके रंग से उसे रंग लिया करते थे। पुजारी जी पैरों में जूते कभी नहीं पहिनते थे, वे सदा खड़ाऊँ धारण करते थे। अब उनकी आयु अड़तालीस की हो चुकी थी, इसलिए पंचांग देखते या कोई पुराण पढ़ते समय वे चश्मा लगा लेते। इस चश्मे की कमानियाँ पीतल की होतीं और शीशा काँच का। वे महीने में दो बार क्षौरकर्म करवाते और जब करवाते तब दाढ़ी के साथ मूछें भी बनवा डालते। इस प्रकार महीने में केवल दो दिन को उनका मुख, दाढ़ी-मूछ-विहीन स्वच्छ देखने को मिलता। फलतः क्षौरकर्म के दिन जो लोग उन्हें देख न पाते और संयोगवश दो-चार दिन बाद उन्हें उनके दर्शनों का अवसर मिलता, वे यह जान भी न पाते कि पुजारीजी कभी क्षौर भी करवाते और कभी लोमहीन सुचिक्कण भी हो जाते हैं !

यों तो इस ग्राम का बच्चा-बच्चा इन पुजारीजी से परिचित था।

किन्तु उनका नाम क्या है—इसका ज्ञान केवल दो-चार व्यक्तियों को ही था सो भी उन व्यक्तियों को, जिनके साथ उनका व्यवस्थाजन्य सम्बन्ध था। इन लोगों में तीन व्यक्ति प्रमुख थे—एक तो थे बाबा दीनदयाल, दूसरे पं० बांकेविहारीलाल चतुर्वेदी, तीसरे पं० रामचरण दीक्षित।

बाबा दीनदयाल का जीवन साधना, संयम और तप का जीवन था। साधारण अध्यापक के जीवन से उठकर वे एक सम्पन्न और मर्यादाशील सद्गृहस्थ बन गये थे। वे मुख्यरूप से लेन-देन का व्यवसाय करते थे। इस व्यवसाय की योग्यता और उनके अनुभव में वे बहुत ही व्युत्पन्न और कुशल थे। कहते हैं, सोने की परख उनकी इतनी पक्की थी कि तपाये बिना ही वे यह बतला देते थे कि यह सोना इतने बट्टे का है। गुरुत्व के सम्बन्ध में उनका अनुमान इतना सच्चा उतरता था कि एक-दो बार हाथ पर उछालकर वे यह जान लेते थे कि इस आभूषण में अन्य धातु की मिलावट इस अनुपात से होगी।

बाबा दीनदयाल अपने जीवन में अति सावधान रहनेवाले व्यक्ति थे। गाँव में थाना होने पर भी वे अपने मकान की चौकसी स्वयं रखते थे। उनकी श्वान-निद्रा अब इतनी प्रसिद्ध हो गई थी कि रात को कोई व्यक्ति दस बजे उन्हें पुकारता अथवा तीन बजे, ऋतु गरमी की रहती अथवा सरदी की, लेकिन उनका उत्तर प्रायः पहली पुकार के बाद ही मिल जाता था। रात में दो-तीन बार वे छत पर टहलते हुए अवश्य दिखलाई पड़ते। द्वार पर लकड़ी का एक पीढ़ा डाले वे दिन-भर बल्कि रात के नौ-दस बजे तक बैठे मिलते। वह चबूतरा जो नीम के वृक्ष की छाया के नीचे अब एक पक्के मकान का सहन बन गया है, एक दिन उनका कर्म-क्षेत्र था। वहीं बैठकर वे नित्य सैकड़ों और कभी-कभी हजारों रुपये इधर-से-उधर कर दिया करते थे। कहते हैं—अपने जीवन-काल में उन्होंने कोई गाँठ कभी निराश वापस नहीं की। और उनकी स्मरण-शक्ति का तो यह हाल था कि वे शक्ल देखते ही यह बता सकते थे कि इससे मुझको

इतना मूल और इतना व्याज पाना है !

इन गुणोंके साथ बावा दीनदयाल ज्योतिषी भी थे। उनका बतलाया हुआ फलाफल कभी मिथ्या नहीं होता था। जीवन में वे घोर आशावादी थे। यदि कोई परीक्षार्थी उनसे यह पूछने आता—"मैं पास होऊँगा या फ़ेल" तो वे उत्तर देते—"पास तो तुम होगे, मगर पास होनेवाला जो विद्यार्थी मन में यह शंका रखता है कि मैं कहीं फ़ेल न हो जाऊँ तो वह प्राय: फेल हो जाता है।"

बाबाजी कहा करते थे—"शंका डायन होती है। वह भविष्य को खा जाती है।"

बाबाजी के परिवार में गृहिणी के सिवा दो बच्चे भी थे, जो उन दिनों पढ़ रहे थे। पर अपने इस छोटे-से परिवार के लिए पानी वे स्वयं भरते थे। लेकिन कहते हैं, उनको पानी भरते हुए केवल वही लोग देख पाते थे जो सूर्योदय से घण्टे-भर पूर्व अँधेरे में घर से कहीं बाहर जाते, या खेत जोतने के लिए हल-बैल लेकर निकलने के क्रम में उन्हें यदा-कदा यत्र-तत्र मिल जाते थे।

बावा दीनदयाल परम आस्तिक, निस्पृह, स्वावलम्बी, भगवद्भक्त और तपस्वी व्यक्ति थे। पर इन गुणों के साथ-साथ वे इतने लोभी और सूम भी थे कि उनकी सन्तान तक को रहन-सहन के सामान्य सुखों से भी वंचित रहना पड़ता था।

पण्डित बाँकेविहारीलाल का व्यक्तित्व कम प्रभावशाली न था। वे शरीर से स्थूल और ठिगने थे, मुँह गोल था और केश भी वे प्राय: छोटे रखते थे। वदन पर वे खाली कुरता पहनते थे, जो प्राय: खादी का होता था। जब सरदी अधिक पड़ने लगती तब वे इस कुरते के भीतर रुईदार सलूका और धारण कर लेते। सिर पर वे गाँधी टोपी पहनते और अपने-आपको बापू का परम भक्त मानते थे। जूता वे गाँव का बना हुआ पहनते और उसे कोमल बनाये रखने के लिए महीने-दो-महीने में एक

वार स्नेह से सिक्त अवश्य कर देते। स्वभाव के वे वड़े विनोदी, निष्कपट और तेजस्वी थे और अपनी मण्डली में वैठकर आचार-विचारहीन दुष्ट और धूर्त्त व्यक्तियों की सदा तीव्र आलोचना करते रहते थे। भोजन के सम्वन्ध में उनकी रुचियाँ वड़ी विलक्षण थीं। वे नमक, खटाई और अचार के वड़े भक्त थे। कहते हैं, जव निमन्त्रणों के अवसर पर उन्हें अचार-खटाई से असन्तोष रहने लगा, तो वे थोड़ा-सा अचार एक क़ाग़ज में लपेटकर अपने साथ ले जाने लगे थे। वे मिठाई के भी वड़े प्रेमी थे और कहते हैं, अपने एक गाँव की भूमि इसी निमित्त उन्हें गाँव के एक हलवाई को लिख देनी पड़ी थी। चतुर्वेदीजी में युवकों के चरित्र-निर्माण की उदात्त भावना थी। उनकी संगति का लाभ जो लोग उठा सके वे काँच के टुकड़े से हीरा वन गये। स्वभाव के वे वड़े ही शीलवान्, विद्या-व्यसनी और साहित्य-रसिक थे। यों तो नवों रसों पर उनका सामान्य अधिकार था, पर शृंगाररस के वे परम उपासक और कुशल कवि थे। मिश्रवन्धु-विनोद में उनका उल्लेख पाया जाता है।

पर इन चतुर्वेदीजी के जीवन का सवसे वड़ा दुःखद प्रसंग यह है कि जन्म के समय वे सात गाँव के ज़मींदार थे, पर शरीरान्त के दो-तीन वर्ष पूर्व, कहते हैं, किसी-किसी दिन एक समय का भोजन भी उनके लिए दुर्लभ हो जाता था!

इसका एक कारण था। वह कारण इतना असाधारण था कि आज के युग में उसकी चर्चा-भर हो सकती है। उसकी आलोचना भी हम कर सकते हैं; पर उसे जीवनाधार वनाकर निर्वाह नहीं कर सकते। वात यह थी कि वे अपने सिद्धान्त, विचार और आदर्श को प्राणों की अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान् समझते थे। यही कारण था कि अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करने के लिए उस व्यक्ति की प्रशंसा करना तो दूर रहा, कभी उससे वात करना भी उन्हें स्वीकार न होता था जिसको वे चरित्र-भ्रष्ट, दम्भी और पामर समझते थे। किन्तु पूंजीवाद के इस युग में ऐसे व्यक्तियों

से सहयोग रखे विना काम कैसे चल सकता था, जबकि कुछ अपवादों को छोड़कर सम्पूर्ण ज़मीदार-समाज ही अपनी अन्य गुणावली के साथ-साथ इस गुण में भी पूर्ण रूप से अग्रणी बन गया था।

पण्डित रामचरण दीक्षित इन दोनों व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न व्यक्तित्व के सत्पुरुष थे। उनकी शरीर-सम्पदा बाबा दीनदयाल तथा चतुर्वेदी श्री बाँकेविहारीलाल से कहीं अधिक प्रभावशाली थी। पर शिक्षा के क्षेत्र में वे एकदम कोरे थे। कहते हैं, अपने नाम के पाँच अक्षर भी वे बड़ी कठिनाई से लिख पाते थे। यह सब-कुछ था, किन्तु सांसारिक अनुभव, वार्तालाप के ढंग और स्वभाव में वे सर्वथा विलक्षण और मेधावी थे। व्यवस्था के सम्बन्ध में उनकी बात का लोग सम्यक् समादर करते और उसे मान्यता देने में भी उन्हें आपत्ति न होती थी। उस समय अँग्रेज़ी शासन का प्रभुत्व हमारे देश पर पूर्णरूपेण छाया हुआ था और दीक्षितजी गाँव के मुखिया होने के कारण उस प्रभुत्व को स्थिर रखने में बहुत सजग रहा करते थे। फलतः उनकी व्यवस्था पुलिस की मान्यताओं के सर्वथा अनुरूप रहती थी।

कालान्तर में ग्राम के इन्हीं रत्नों की परम्परा में एक नाम और जोड़ दिया गया। और वे थे केदारबाबू।

---

## : ३ :

केदारवावू वचपन में ही कानपुर चले आये थे और थोड़े ही दिनों में फिर वहीं वस भी गये थे। नगर में वस जाने के कारण अव उनके संस्कार भी नागरिक वन गये थे। कभी-कभी धोवी जो कपड़ा लाने में देर कर देता, तो वे अपनी वनियान, कमीज़ और धोती स्वयं धो लिया करते। लोहा करने से वे डरते थे। कहीं कपड़ा अधिक ताव न खा जाय, कहीं कोयले की कोई चिनगारी ही उसमें छेद न कर दे। अतः इस काम के लिए वे स्वयं किसी धोवी के यहाँ चले जाया करते थे। खाना खाने के वाद उन्हें पान खाने का मर्ज़ था। खाने के समय उनके लिए जैसे और सव तैयारी होती, वैसे ही रामगोपाल की दूकान से चार पान भी अवश्य मँगवा लिये जाते। यद्यपि दूसरे-तीसरे दिन घर में पान आते ही रहते थे और कामना साधारण रूप से अच्छा पान लगा लेती थी पर उनका कहना था कि वाज़ार की चीज़ों को सदा घर पर तैयार करने की चेष्टा करने में कोई वुराई नहीं। वरन् संस्कारों के परिष्कार की दृष्टि से तो यह आवश्यक भी है। पर केवल इसीलिए वाज़ार से चीजें न मंगाई जायँ, यह घर की सीमाओं के अन्दर विकसित होनेवाले जीवन के उस सौष्ठव को नष्ट करना है जो केवल व्यक्तिगत रुचियों के परिष्कार की अपेक्षा रखता है।

परिवार के सभी सदस्यों के साथ यद्यपि केदारवावू का व्यवहार उदार वना रहता था; किन्तु कोई व्यक्ति उनकी धोती नहीं पहन सकता था। उनका कहना था—"दैनिक उपयोग की वस्तुएँ केवल उसी के लिए वनाई गई हैं जो उसका वास्तविक अधिकारी है। जो अधिकारी नहीं है वह किसी दूसरे की वस्तु का उपभोग अगर उनकी अनुमति के विना कर लेता है, तो यह अनुचित है। यह तो प्रकारान्तर से उसकी असभ्यता है।"

केदारबाबू की इन रुचियों के अन्दर उनके जीवन का एक लम्बा इतिहास छिपा हुआ था। जो कुछ भी उन्होंने स्थिर किया था, उसकी मूलधारा उनके स्वभाव की स्वच्छन्दता न होकर वह मान्यता होती थी, जिसे जीवन के सत्य और कटु अनुभवों ने जन्म दिया था। इसीलिए वे एक बार जो निश्चय कर लेते, फिर उसको बदलना न जानते थे।

शंकर को अपने पिता कैलाशबाबू की कोई बात पसन्द न थी। इसलिए वह कभी उनके पास नहीं बैठता था। और संयोग से कैलाशबाबू के बड़े भ्राता केदारबाबू के लड़कियाँ ही हुई थीं इसलिए वे अपने भतीजे शंकर को बहुत प्यार करते थे। बचपन में शंकर उन्हीं के पास सोता, उन्हीं के पास बैठता और उन्हीं के साथ भोजन भी करता था। कभी पैसे की ज़रूरत पड़ती, तो उन्हीं से माँगता और कभी इधर-उधर से पैसे मिल जाते, तो उन्हीं के पास जमा भी करता। स्वभाव से शंकर सीधा और सच्चा था। बड़ों के आज्ञापालन में वह कभी देर न करता था। किन्तु निजी जीवन के सम्बन्ध में वह सर्वथा निर्बन्ध और स्वच्छन्द था। उसकी कुछ विशेष रुचियाँ थीं और वे इतनी स्थिर और दृढ़ थीं कि उनके विषय में वह किसी का कोई तर्क नहीं मानता था। वह जब सवेरे उठता, तो नित्य-क्रिया से निवृत्त होने के लिए तब उठता जब पहले चाय पी लेता। और प्रातःकाल स्नान तो वह कभी कर ही नहीं सकता था। उत्तरप्रदेश में अरहर की दाल और आलू का साग बहुत लोकप्रिय है। शंकर भोजन के साथ इन दोनों वस्तुओं को अनिवार्य मानता था। दूध का व्यवहार वह भोजन के साथ कभी नहीं करता था। दूध के लिए केवल एक समय निश्चित था—सोने से पूर्व। और सायंकालीन भोजन के साथ एक-न-एक मिष्टान्न उसके लिए अनिवार्य था। दैनिक आवश्यकताओं की इन साधारण वस्तुओं में जब कभी कोर-कसर रह जाती, तब वह बिगड़ उठता। और उसके बिगड़ने का अर्थ होता था—दादा के पास चुपचाप जाकर लेट जाना और अपने मन से कोई बात न करना। शंकर का प्यार का नाम

मुन्नी था। कैलाशबाबू के कान में कहीं यह आवाज़ पड़ जाती कि आज मुन्नी परसी थाली छोड़कर उठ गया है तो वे बड़बड़ाने लगते—"उठ गया है तो उठ जाने दो। अब उसको मनाने की ज़रूरत नहीं है। इसी तरह बच्चे बिगड़ जाते हैं।"

लेकिन माँ की ममता का समाधान इन बातों से कैसे होता! वह घूंघट की ओट दादा के पास जाकर खाँस उठती। केदारबाबू समझ जाते, मुन्नी की माँ आई है। तब वे बोल उठते—"मुन्नी देख, तेरी माँ बुला रही हैं।"

शंकर कोई उत्तर न देता। तब उसकी माँ धीरे से बोल उठती—"दद्दा, यह परसी थाली छोड़कर भाग आया है।"

"क्यों रे?" शंकर की ओर देखकर केदारबाबू बोल उठते। शंकर फिर भी चुप ही बना रहता। तब केदारबाबू पूछते—"बात क्या है? खाना छोड़कर क्यों भाग आया?"

शंकर की माँ घूंघट की ओट से मुस्कराती हुई कह देतीं—"बात कुछ नहीं है। इस समय साग बैंगन का बना है। सवेरे आलू-गोभी का बना था। तुम चलो तो भले ही खा ले; मेरे कहने से तो मानेगा नहीं।"

"लेकिन मुझको तो इस समय बिल्कुल भूख नहीं है मुन्नी की माँ। और बिना भूख खा लेना मौत को निमन्त्रण देना है। और तुम भी मुन्नी की माँ, उसके साथ ज़िद्द करती हो। जब जानती हो कि वह आलू के बिना भोजन नहीं करेगा, तब उसका प्रबन्ध क्यों नहीं रखती हो? जाओ, बिलायती को भेजकर बाज़ार से भुने हुए आलू मँगवा लो।" और इतना कहकर वे दुअन्नी उसके आगे फेंक देते।

केदारबाबू का एक नौकर था, जिसकी आँखें कंजी थीं। इसलिए वे उसको बिलायती कहने लगे थे।

इस तरह घंटे-भर बाद जब शंकर खाने बैठता तो हँसते-हँसते विष्णु और ब्रह्मा भी उसके साथ बैठ जाते। कामना मुस्कराती हुई बोल

उठती—"दद्दा, आज बैंगन का साग इतना स्वादिष्ट बना है कि खाते तो महीनों याद करते ।"

पर तभी शंकर बोल उठता—"तो महीने-भर के लिए उसे डब्बे में रख छोड़, कौन मना करता है !"

और विष्णु कहने लगता—"अपनी-अपनी रुचि की बात है । क्यों दद्दा ?"

और ब्रह्मा बोल उठता—"पर भुने हुए आलुओं की बात ही और है ।"

उसके इस समर्थन में शंकर प्रसन्न हो दो आलू उसकी थाली में भी छोड़ देता । यह दृश्य देखकर कामना खिलखिलाकर हँस पड़ती ।

इन बातों को सुनकर कैलाशबाबू कह उठते—"दद्दा ने ही उसकी आदतें बिगाड़ रक्खी हैं । अन्यथा मैं तो उसे एक दिन में ठीक कर देता ।"

तब केदारबाबू मुस्करा उठते और साथ ही यह भी कह देते—"तुम्हारी आदतें भी तो मैंने ही बिगाड़ डाली हैं, अन्यथा किराये के इस मकान के बजाय आज यहाँ हमारी कोठी खड़ी होती ! समझे ?"

कैलाशबाबू उनसे उमर में बहुत छोटे थे, इसलिए उनकी उपालम्भ की वाणी यहीं समाप्त हो जाती थी ।

केदारबाबू की कपड़े की एक दूकान थी और कैलाशबाबू एक सेठ के यहाँ मुनीम थे । अपनी नौकरी में उन्हें सौ रुपये मिलते थे । पर यह सौ रुपये उन्हें कब मिलते हैं और कहाँ चले जाते हैं, यह उस घर में कोई नहीं जानता था । केदारबाबू न उनसे एक टका कभी माँगते थे और न कैलाशबाबू उन्हें कभी एक धेला देना जानते थे । लेकिन परिवार उनका बड़ा था । शंकर उन दिनों बी० ए० में पढ़ रहा था । उससे छोटा विष्णु इण्टर में था । और फिर उससे छोटा ब्रह्मा दसवीं में । इन भाइयों के बीच एक बहिन भी थी—कामना, जो अब विवाह-योग्य हो गई थी । केदारबाबू के जो दो लड़कियां थीं—शोभा और सुशीला, उनका विवाह हो चुका था ।

केदारबाबू अब विधुर हो चुके थे। पर कैलाशबाबू सृष्टि के क्रम में अब भी अग्रसर थे। यह बात दूसरी है कि अभी गत वर्ष ही उनकी डेढ़ वर्ष की बेबी चेचक के प्रकोप से मृत्यु के मुंह का कौर बन चुकी थी।

इस प्रकार घर में बड़ी-बूढ़ी अगर थी, तो शंकर की मां और बहू-रानी अगर थीं तो भी शंकर की ही मां। इस कारण विग्रह और कलह के लिए इस परिवार में कहीं स्थान न था। यह बात दूसरी है कि केदार-बाबू की छोटी लड़की शोभा जो कभी दस-पाँच दिन को आ जाती तो किसी-न-किसी प्रसंग से उसके मन में यह भाव आये बिना न रहता कि इस घर में अलमारियाँ, पलँग, नक़द रुपये और आभूषण, बर्तन-भाँड़े, कीमती कपड़े—यहाँ तक कि गाय भी मेरे ही पिता की कमाई का फल है। इसलिए जिस समय किसी वस्तु की आवश्यकता हो, वह मुझे उसी समय मिल जानी चाहिए। उसके इस दावे का और कोई नया परिणाम तो न हो पाता था, पर केदारबाबू के प्रबन्ध-कौशल से शंकर की माँ उसके लिए बढ़िया-से-बढ़िया खाने और जलपान का विशेष ध्यान रखती थी। अन्त में जब वह जाने लगती तो विदाई में दो-चार सेर मिठाइयाँ और नमकीन के सिवाय दस रुपये का एक नया नोट भी उसे अवश्य दे देती थी; यद्यपि दामाद के पल्ले केवल पाँच ही रुपये पड़ते थे।

तो इस प्रकार साधारण रूप से केदार-परिवार की शान्ति सदा स्थिर बनी रहती थी। यह बात दूसरी है कि कभी ऐसा संयोग आ गया, जब शोभा और सुशीला दोनों बहनें एकत्र हो गईं तो दोनों में एक-आध दिन इतनी कहा-सुनी हो गई हो कि शोभा ने सायंकालीन भोजन के समय कह दिया हो—"मुझे भूख नहीं है।"—तो सुशीला हँसती-हँसती आकर उसे मनाने आ पहुँची हो और पूरा नाटक न सही, तो एकांकी तो लगभग पूरा हो ही गया हो! भले ही उपसंहार में शोभा को अपने पास से कुल्फी-मलाई अथवा हलुवासोहन मँगाना पड़ गया हो!

जून का अन्तिम सप्ताह प्रारम्भ होते ही शंकर का परीक्षाफल प्रकाशित हो गया। विदित हुआ कि उसे फ़र्स्ट डिवीज़न प्राप्त हो गया। तव उसने केदारबाबू से कहा—"वस, अव आज से मेरा अन्न-जल इलाहावाद की ओर अभिमुख हो रहा है, दादा।"

तव दायाँ पैर पसारते और कुछ चौंकते हुए-से केदारबाबू बोले—"क्यों?"

शंकर तव उसी पैर पर पुटपुटी लगाता हुआ बोला—"दादा, वैसे तो मैं कुछ नहीं हूँ। पर जव से तुम्हारे इन पावन चरणों की सेवा करने का अवसर मैंने पाया है, तव से मेरा मन मुझसे कहने लगा है कि अगर पी० सी० एस० न किया तो कुछ न किया।"

"यह सी० पी० एस० क्या मुन्नी? साफ़-साफ़ कह, मैं तेरी यह अँग्रेजी क्या समझूंगा भला! ए······अरे, धीरे-से रे।" कहते हुए केदार-बाबू ने करवट वदल ली।

तव शंकर ने पैर की अँगुलियाँ मलते-मलते उत्तर दिया—"पी०सी० एस० का मतलव है दादा, प्राविंशियल सिविल-सर्विस—अर्थात् डिप्टी-कलेक्टर हो जाने की परीक्षा में उत्तीर्ण होना।"

कमरे में एक अलमारी थी, जिसकी फ़िटिंग कुछ ढीली रह गई थी, इसलिए उसके किवाड़ों के नीचे थोड़ा-सा अंश खुला रहता था। उसमें जो लड्डू रखे थे, उन्हीं का कहीं कोई टुकड़ा नीचे भूमि पर पड़ा रह गया था। एक चूहा उसी को अगले दोनों पंजों से थामे हुए चुपके-से खुतर-खुतरकर खा रहा था। शंकर के इस कथन के साथ वह नीचे कूद-कर सर्र से भाग गया!

'सव प्रभु की माया है। अपना कुछ नहीं है'—मन-ही-मन कहते हुए केदारबाबू बोले—"···हाँ, तो क्या यह 'एमे' की पढ़ाई यहाँ नहीं हो सकती मुन्नी?···अरे वस कर। अव यह नहीं चटकेगी रे।" कहते हुए केदारबाबू का रोम-रोम पुलकित हो रहा था।

"चटकेगी कैसे नहीं। यह लीजिए, और फिर यह !···हाँ दादा, पढ़ाई तो वैसे यहाँ भी होती है पर इलाहाबाद की बात और है। दो वर्ष में एम० ए० और फिर आठ मास बाद पी० सी० एस०। अभी तीन वर्ष तक घोर परिश्रम करते जाना है दादा। इसलिए इलाहाबाद में मौसी के यहाँ रहने का प्रबन्ध करना होगा।"

शंकर जब अपनी बात पूरी कर रहा था, तब केदारबाबू सोच रहे थे—"वैसे डिप्टी-कलेक्टरी भी बुरी नहीं है, लेकिन मिनिस्टर जो कहीं हो जाय मेरा लाल, तो मज़ा आ जाय !···उस दिन शास्त्रीजी ने कथा के समय वह जो भजन गाया था—'रघुवर तुमको मेरी लाज।' बस वही बात है। उनको अगर मेरी लाज है तो सब-कुछ संभव है। फिर एकाएक बोल उठे—"अरे बस कर, बस कर !···हाँ, अच्छा तो फिर, कब चलना होगा मुन्नी ?"

शंकर ने पलँग से उठते हुए कह दिया—"बस, परसों चलना होगा। वैसे तो अभी काफ़ी समय है। विश्वविद्यालय खुलेगा सोलह जुलाई को, मगर ऐडमिशन के लिए पहले से जाना ठीक रहता है।"

इतने में कामना गिलास में दूध लेकर आ पहुँची।

रात को कैलाश ने शंकर को इलाहाबाद भेजने की बात जो पत्नी से सुनी तो सवेरे उठते ही वे केदारबाबू के पास आकर बोले—"दद्दा, मुन्नी इलाहाबाद जाने को कहता है।"

केदारबाबू बोले—"ठीक तो कहता है। तुम्हारी तरह उसको दूसरों का बही-खाता तो लिखना नहीं है। उसको तो बढ़ना है और बराबर बढ़ते जाना है। बीच में कहीं भी रुकना नहीं है। समझे !"

"तो क्या उसका पढ़ना यहाँ कानपुर में नहीं हो सकता ? आखिर यहाँ भी तो एम० ए० तक की पढ़ाई होती है। इलाहाबाद की पढ़ाई में ऐसे कौन-से सुरख़ाब के पर लगे हुए हैं, जो···।"

कैलाशबाबू अपना वाक्य पूरा भी न कर पाये थे कि केदारबाबू

बोल उठे—"तुम जिस बात को समझ नहीं सकते, उसमें बेकार टाँग अड़ाते हो। मैं कहता हूँ, इलाहाबाद-विश्वविद्यालय की-सी पढ़ाई जब यहाँ नहीं होती, तब यह यहाँ कानपुर में क्यों पड़ा रहे? समझे! वह अपना भविष्य जब स्वयं बनाना चाहता है, तो उसे बनाने क्यों नहीं देते? मेरा बस चलता तो मैं तो उसे लन्दन भेजता, लन्दन; तुम उसके इलाहाबाद जाने पर ही आपत्ति करने चल खड़े हुए! जाओ, अपना काम देखो।"

तब कैलाशबाबू तो चुपचाप लौट गये। पर थोड़ी देर बाद शंकर की माँ आ पहुँची। कमरे के आगे एक चबूतरा था। केदारबाबू वहीं बैठे दातुन कर रहे थे अतः किवाड़ों पर थपथपी की आवाज़ सुनकर बोले—"कौन? मुन्नी की माँ!"

और मुन्नी की माँ ने खाँस दिया। स्पष्ट था कि वह बतला रही हैं—'हाँ दद्दा, मैं ही हूँ।'

तब केदारबाबू बोले—"हाँ, कहो।" और किवाड़ों के निकट जा खड़े हुए।

सिर पर हाथ रख अवगुण्ठन को कुछ और नीचे लटकाती हुई मुन्नी की माँ बोली—"दद्दा, मुन्नी···।" और इसके पश्चात् रुक गई। बोल और आगे न बढ़ सका।

केदारबाबू ने लक्ष्य किया, स्वर कुछ बदलता हुआ-सा है। तब वे बोले—"मैंने कैलाश को समझा तो दिया है सब-कुछ। अब उसमें ऐसी कौन-सी बात रह गई है जो तुम मुझसे समझना चाहती हो?"

शंकर की माँ की आँखों में आँसू भरे हुए थे। कण्ठस्वर भारी हो गया था। फिर भी वह बोली—"दद्दा, तुम्हारी आज्ञा मैं सदा मानती रही हूँ और आगे भी मानती रहूँगी, पर······।"

और शंकर की माँ इसके आगे फिर रुक गई।

तब केदारबाबू बोले—"हाँ, कहो न मुन्नी की माँ! चुप रहने का

यह समय नहीं है। मैं जानता हूँ, तुमने उसे पैदा किया है—तुम उसकी माँ हो। उसे वाहर परदेस भेजने में तुम्हारा जी घवरा उठा है। पर तुमको यह भी जानने और समझने की ज़रूरत है कि इलाहावाद गये विना उसकी उन्नति का मार्ग रुक जायगा। जव उसे आगे वढ़ना है, अपने पैरों खड़ा होना है, तव अपनी ममता और माया के वशीभूत होकर उसे आगे वढ़ने से रोकना हमारा धर्म नहीं। यह वात मैं खूव सोच-समझकर कह रहा हूँ, इतना समझ लो।"

"धर्म तो नहीं है दद्दा।" शंकर की माँ कुछ रुकती-रुकती वोली—"पर वह इलाहावाद में रहेगा कैसे? लाख वहाँ यमुना है और उसमें शील भी वहुत है, मुन्नी को वह प्यार भी वहुत करती है; पर अपना-पराया तो सभी जगह चलता है। वहाँ अगर मुन्नी को किसी वात की तकलीफ़ हुई तो? तुम उसके स्वभाव को जानते ही हो। अगर उसे मन का खाना न मिला, अगर रात को सोते समय उसे मलाई पड़ा हुआ गरम दूध न मिला···!"

शंकर की माँ इसके आगे फिर रुक गई। उसकी आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे!

अव केदारवावू ने दातुन चवूतरे के नीचे फेंक दी। अन्दर पलँग पर जाकर वैठते-वैठते वे वोले—"मुन्नी की माँ, एक तो ऐसा होगा नहीं, मैं इन सभी वातों का पूरा प्रवन्ध कर आऊँगा। पर अगर कभी ऐसा हुआ भी, तो वह खुद वाज़ार से अपने मन का दूध पी आया करेगा। जव उसके पास पैसा रहेगा, तव उसे किसी वात की तकलीफ़ कभी हो ही नहीं सकती।"

तव शंकर की माँ चुप रह गई; लेकिन केदारवावू चुप न रह सके। विजली के पंखे को थोड़ा और तेज़ करते हुए वे पुनः वोल उठे—"धीरज धरो मुन्नी की माँ। छोटी-मोटी वातों के लिए इतना घवराना उचित नहीं है। ज़रा समझो, मैं क्या कह रहा हूँ। तुम अगर उसकी माँ हो, तो···

तो मेरा भी तो वह कुछ है ! मेरे आगे कोई पुत्र होता तो क्या मैं उसे मुन्नी से अधिक प्यार करता ? कम-से-कम इतना तो तुम्हें समझना चाहिए ! तुम मेरे दिल से क्यों नहीं पूछतीं कि अब सेवा कौन करेगा ? उसको परदेस भेजते हुए क्या मुझे कोई सुख मिल रहा है ! समझीं ? मगर मैं यही सोचता हूँ कि जब वह पूरी तरह पढ़कर किसी बड़े पद पर पहुँचेगा, तब मुझसे अधिक सुखी कौन होगा ! जाओ, हँसी-खुशी के साथ उसकी तैयारी करो। जो भगवान् यहाँ उसकी रक्षा करता रहा है, वही वहाँ भी करेगा।"

केदारबाबू अभी अपनी बात पूरी कर ही पाये थे कि कामना बोली—"दादा, विष्णु कहता है—दद्दा के साथ हम भी जायँगे।"

तब केदारबाबू हँस पड़े। बोले—"तू विष्णु को यहाँ भेज तो दे; मैं उसे अभी ठीक किये देता हूँ।"

जब मुन्नी की माँ घूँघट के भीतर आँसू पोंछती हुई धीरे-धीरे चल दी, तब चारपाई के नीचे से झाँकता हुआ एक न्योला मुँह उठाकर उन्हें देखने लगा !

---

## : ४ :

केदारबाबू का वह घर जो गाँव में था, आधे से अधिक कच्चा था। ग्राम में निरन्तर निवास न रहने के कारण उसकी देख-रेख के लिए उन्होंने अपनी गृहिणी की एक भतीजी को रख दिया था, जो दैवयोग से विधवा थी। उसका नाम देवकी था। देवकी की शिक्षा-दीक्षा उन्होंने इस स्तर तक पहुँचा दी थी कि अब वह गाँव की कन्या-पाठशाला में अध्यापन का कार्य करने लगी थी। अध्यापन के कार्य से जब वह अवकाश पाती तो घर-द्वार स्वच्छ बनाये रखने के साथ-साथ खेती-बारी की भी देख-रेख करती रहती। उसके आगे दो बच्चे थे, जिनमें से एक लक्ष्मीकान्त केदार-बाबू के साथ रहता और वहीं नगर में पढ़ता था। महीने में एकाध बार वह गाँव में भी फेरा डाल जाता था। इस प्रकार नगर और ग्राम के सम्बन्धों और कार्यक्रमों में बराबर एक सामंजस्य बना रहता था।

केदारबाबू के इस घर के पास कुछ घर उन ब्राह्मणों के भी थे, ज़मींदारी-प्रथा के युग में जिनके पूर्वजों का बड़ा बोलबाला था। उनकी इच्छाएँ आदेश का जामा पहिनकर प्रकट होती थीं और उनके आदेश लड़ाई-भिड़ाई, हिंसा और गाली-गलौज की सामर्थ्य को अपनी मुट्ठी में रखकर सामने आते थे। यद्यपि अब ज़मींदारी-प्रथा का जनाज़ा निकल चुका था, लेकिन उन ज़मींदारों के नाते-रिश्ते के लोगों और उत्तराधिकारियों के संस्कार पूर्ववत् बने हुए थे। भय और आतंक उनका बल था और तर्क के स्थान पर धमकियाँ उनका अवलम्ब। आवश्यकता के समय वे लोग न्याय-अन्याय न देखकर देखते थे अपना स्वार्थ, सोचते थे अपना अधिकार। परिणाम क्या होगा, इस पर विचार करना

उन्होंने अब तक सीख नहीं पाया था। इसलिए वे सदा इस फेर में रहा करते थे कि केदारबाबू के मकान के पास जो भूमि बेकार पड़ी है, अवसर पाकर क्यों न उसे हस्तगत कर लिया जाय! किन्तु देवकी अपना उत्तरदायित्व समझती थी। कोई ऐसा अवसर ही वह न आने देती, जिससे किसी को अपना अनुचित स्वार्थ-साधन करने का उत्साह मिल सकता। तथापि कालान्तर में एक बार ऐसा संयोग आ ही गया।

सन् १९५४ का इलाहाबाद का कुम्भ-पर्व अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। कहते हैं कुम्भ-पर्व के इतिहास में इलाहाबाद के मेले में न तो इतनी भीड़ ही कभी हुई थी, न इतनी जन-हानि। देवकी जब इस पर्व के अवसैर पर इलाहाबाद जाने लगी, तभी पड़ोस के गोकुल-सुकुल ने एक दिन मकान के दक्षिण भाग में ऐसे स्थल पर नींव खुदाना प्रारम्भ कर दिया, जिसकी भूमि वास्तव में केदारबाबू की थी। गली में पानी भरने के लिए जब देवकी अपने घर से बाहर निकली तो अपनी अधिकृत भूमि में खुदाई होती देख वह उत्तेजित हो उठी। पानी के बर्तन उसने वहीं चौपाल पर रख दिये और आगे बढ़ती हुई खोदनेवाले मजदूरों को लक्ष्य कर बोली—"यह क्या हो रहा है? एं!...अरे मैं तुम्हीं से पूछ रही हूँ!"

जो मजदूर खुदाई कर रहे थे, उनमें से एक बोला—"देख तो रही हो कि नींव की खुदाई शुरू है। मकान बनेगा यहाँ।"

देवकी बोली—"बन्द करो खुदाई। मकान-वकान यहाँ कुछ नहीं बनेगा। खबरदार जो अब एक भी फावड़ा चलाया।"

इतने में एक मजदूर ने उत्तर दिया—"सुकुल महराज से कहो, उन्हीं के हुकुम से हम खोद रहे हैं।"

तब देवकी बोली—"सुकुल महराज से बाद में कहूँगी, पहले तुमसे कहती हूँ। अगर अब तुम्हारा फावड़ा उठा तो फिर किसी की लाठी भी उठेगी, समझे!"

तब वह मजदूर फावड़ा अलग रखकर कुछ जोर से बोल उठा—“अरे सुकुल महराज ! ओ सुकुल महराज ! !”

इतने में भीतर से सुनाई दिया—“क्या है ?”

मज़दूर ने उत्तर दिया—“सुकुल महराज, यह झगड़ेवाला काम हमसे न होगा। हम यहाँ काम करने आये हैं, फ़ौजदारी कराने नहीं।”

सुकुलजी तत्काल वहाँ आकर बोल उठे—“कौन माई का लाल है फ़ौजदारी करनेवाला ? मैं उसकी शकल तो देखूँ ज़रा !”

देवकी बोल उठी—“तो सुकुल जीजा, यहाँ जबरदस्ती मकान बनाने का इरादा है क्या ? तुमको मालूम नहीं, यह ज़मीन दादा की है।”

सुकुलजी ने अपना सारा दर्प एक ही वाक्य में भरते हुए जवाब दिया—“अरी जा, बड़ी दादावाली बनी है ! हम देख लेंगे दादा-बादा सब को !”

तब देवकी उभरते हुए क्रोध को पीती हुई बोली—“सुकुल जीजा, यह बात बहुत बुरी है। समझ लो, इसका नतीजा क्या होगा !”

गोकुल सुकुल के दिमाग़ में गरमी भर गई थी। उसे निकाले बिना उन्हें कैसे चैन मिलती ! नाक फुलाते हुए वे बोले—“हमने बड़ों-बड़ों का नतीजा देख लिया, तुम चीज़ क्या हो उनके आगे ! हमने जब काम छेड़ दिया है तो वह बन्द न होगा। हम किसी का दिया नहीं खाते। अपनी कमाई का भरोसा रखते हैं। यहाँ से हाईकोर्ट तक लड़ने को तैयार हैं। अगर अपना भला चाहती हो तो मुँह मूँदकर चुपचाप घर बैठो !”

अब देवकी की वाणी को भी उसके अधिकार के गौरव ने स्पर्श कर लिया। उसने यह नहीं सोचा कि मैं अबला नारी हूँ। उसने यह भी नहीं सोचा कि मुहल्ले और पास-पड़ोसवाले हमारा पक्ष-समर्थन करेंगे या नहीं। उसने केवल यह सोचा कि जब तक दादा यहाँ नहीं आ जाते, तब तक इस भूमि की रक्षा करना मेरा धर्म है। उसने मन-ही-मन संकल्प कर लिया—‘मैं आज यहाँ जान दे दूँगी; पर अपना कर्त्तव्य न छोड़ूँगी।’

अतएव देवकी बोल उठी—"तो फिर सुकुल जीजा, मैं आपको चुनौती देती हूँ, आप यहाँ मकान बनवा तो लीजिए ! दादा भले ही आपको यहाँ महल बनने की इजाज़त दे दें, मगर मैं जीते-जी उनकी इंच-भर भी ज़मीन आपको न छूने दूँगी !"

इतना कहते-कहते उसने आगे बढ़कर फावड़े को दूर फेंकते हुए, कह दिया—"दादा की ज़मीन पर ज़बरदस्ती क़ब्ज़ा करना आसान नहीं है !"

गोकुलसुकुल को क्रोध तो बहुत आ रहा था। यहाँ तक कि वे मन-ही-मन यह भी कल्पना करने लगे—'यह मैंने देवकी का झोंटा पकड़ा··· यह मैंने उसके मुँह पर तमाचे जड़ दिये ! ये मज़दूर फावड़ा चलाने लगे, नींव खुद रही है—दीवार उठ रही है—मकान बन रहा है !'

पर देवकी ने आवेश में आकर अपने वाक्य कुछ इतने जोश के साथ कह दिये थे कि उनके पूर्ण होते-होते आस-पास के लोग झट से बाहर निकल आये।

द्वार पर आते ही कामतापंडित ने पूछा—"क्या बात है बिटिया ?"

उस समय देवकी का मुख ज्वलन्त हो उठा, उसके सिर के घने केश बिखर गये। उसने संयम के साथ उत्तर दिया—"दद्दा, आपको मालूम है कि मेरा यहाँ कुछ नहीं है। जो कुछ है, सो दादा का है। पर जब उन्होंने मेरे यहाँ रहने की व्यवस्था की है, तब उनकी जगह-ज़मीन की रक्षा का भार भी मुझ पर है। और ये सुकुल जीजा दादा से पूछे बिना ज़बरदस्ती यहाँ मकान बनवाना चाहते हैं ! मैं जीते-जी ऐसा अन्याय कभी न होने दूँगी।"

कामतापंडित कन्धे पर बनियान डाले हुए थे। झट उसे पहिनकर उन्होंने मुँह में भरी हुई तम्बाकू की लुगदी द्वार पर ही फूक दी। तब वे बोले—"सुकुलजी, बिटिया कहती तो ठीक है। आपको दादा से पूछ-कर यहाँ काम शुरू कराना चाहिए था।"

पर गोकुलसुकुल स्वभाव के बहुत ज़िद्दी थे। काम के समय वे किसी की बात नहीं मानते थे। और जब कोई उनकी बात में हस्तक्षेप करने

लगता था तव वे प्रतिवादी को छोड़कर उसके समर्थक की ही चुटिया साफ़ करने पर तुल जाते थे !

अतएव गोकुलसुकुल वोल उठे—"देखो कामतापंडित, अगर तुम हमारे वीच में पड़ोगे, तो अच्छा न होगा ! दादा यहाँ रहते तो हैं नहीं। और जव रहते नहीं हैं तो क्या इस ज़मीन को सिर पर लाद ले जायँगे ! फिर, जो ज़मीन वेकार पड़ी है वह उनकी कैसे हो सकती है ! मैं पूछता हूँ, तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि यह ज़मीन दादा की है ? जिसकी होगी, हम उससे निपट लेंगे। तुम इस वीच में वेकार वोलते हो !"

कामतापंडित प्राय: किसी मामले में वोलते न थे; पर जव वोलते थे तो फिर पीछे पैर धरना उन्हें कभी स्वीकार न होता था। गाँव के सभी लोग उनको दद्दा कहकर पुकारते थे। नाम लेकर उन्हें कोई वुलाता न था। ये दोनों ही वातें एक-साथ गोकुलसुकुल के विरोध में जा पड़ीं। अतः उत्साह के साथ आगे वढ़ते हुए वे वोल उठे—"तो सुकुल जीजा, अव आपका मकान तो यहाँ वन नहीं सकता। वैसे चाहे दादा आपको यह ज़मीन दे भी देते, पर उनके सूने में आप इंच-भर भी ज़मीन छू नहीं सकते ! ए मुल्ला, सुनते हो कि नहीं, खिसको यहाँ से ! और रैंदास तुम भी चाल दिखाओ ! फावड़े में अगर हाथ भी लगाया तो हड्डी-पसली सव एक कर दूँगा। आसान है मकान वनाना ! सुकुलजी के भरोसे न रहना। अव यहाँ कुछ होकर रहेगा !"

कामतापंडित गाँव-भर में वड़े लोकप्रिय थे। उनके गमछे में तम्वाकू सदा वँधी ही रहती थी। रास्ते में कोई वन्धु मिल जाता तो वात करते-करते चाहे एक घण्टा वीत जाय, वे आगे वढ़ना नहीं जानते थे। हाथ में लिये हुए वर्तन को वे वहीं पास के चौपाल पर रख देते और जव तक वात समाप्त न हो जाती और इसके साथ ही एकाध वार तम्वाकू का आदान-प्रदान न हो जाता, तव तक उनकी तवियत न भरती थी। उनकी इस लोकप्रियता का फल यह होता कि जव वे वोलते, तो अन्य लोग भी चुप

न रह सकते थे।

अब घटना के मर्म को बिल्कुल प्रत्यक्ष अनुभव करके जमुनाप्रसाद भी बोल उठे—"बड़ी बेजा बात है सुकुलजी। आपको इतना धीरज न हुआ कि कम-से-कम दादा को आ तो जाने देते! हम लोगों के रहते आप देवकी बिटिया की आँखों में धूल झोंकना चाहते हैं! एक अबला नारी के मुँह लगते आपको लज्जा नहीं आती! मकान बनेगा, जहाज़ बनेगा, विलायत बनेगी! हम देखेंगे, कैसे यहाँ बनता है तुम्हारा महल! मैं साफ़ कहे देता हूँ सुकुल महराज, दादा के आये बिना अब यहाँ कुछ नहीं हो सकता। देवकी बिटिया, तुम आज दादा को साफ़-साफ़ लिख तो दो कि चिट्ठी पाते ही यहाँ चले आवें।"

जमुना का इतना कहना था कि गोकुलसुकुल का आसन हिल गया। मन-ही-मन काँपते, पर ऊपर से ललकारते हुए वे बोले—"तो एक बात हम भी कहे देते हैं जमुनाप्रसाद, कान खोलकर सुन लो! मकान यहाँ बनेगा, बनेगा, फिर बनेगा। आ जायँ दादा। क्या हम दादा से डरते हैं! उनकी ज़मीन होती तो भला अब तक बेकार पड़ी रहती! हम सब जानते हैं और यह भी जानते हैं कि आप इस बीच में क्यों बोल रहे हो। लेकिन हम किसी की परवा नहीं करते। एक-एक को देख लेंगे।" और इतना कहते-कहते धोती सँभालते हुए गोकुलसुकुल अपने मकान के अन्दर घुस गये।

जिस समय गोकुलसुकुल मकान के भीतर जा रहे थे, उसी समय एक कुत्ता उनके द्वार पर खड़ा होकर कान फटफटाने लगा।

अब कामतापंडित इधर-उधर देखते हुए धीरे-से बोले—"देवकी बिटिया, तुम डरना नहीं। इस मामले में गोकुलसुकुल के किये-धरे कुछ न होगा। दादा उनको मकान बनाने की इजाज़त कभी न देंगे।"

जमुनाप्रसाद पूरी बात तो न सुन पाये, पर अन्दाज़ से वह मामले को कुछ-कुछ समझ रहे थे। अतः वे बोल उठे—दादा बड़े सीधे आदमी हैं।

सुकुलजी अगर उनके पास चले जायँ और पहले उनके पैर छू लें, फिर हाथ जोड़कर विनती करें; कहें कि हमको यहाँ वस जाने दो। वस एक कोठरी-भर की ज़मीन दे दो, तो मैं तो समझता हूँ, वह कभी इन्कार न करेंगे। देवकी विटिया, तुम दादा को साफ़-ही-साफ़ लिख देना कि गोकुल-सुकुल ने जव उनसे पहले नहीं पूछा, तो अव अगर पूछें भी तो उनके चक्कर में न आयें।"

कामतापंडित ने हथेली में रखी हुई तम्वाकू पर ताल देते और सिर हिलाते जमुनाप्रसाद को तम्वाकू देकर, फिर एक चुटकी अपने निचले ओंठ के भीतर रखते हुए कहा—"हाँ, यह सलाह मैं तुम्हारी मानता हूँ। देवकी विटिया, जमुना ने जो कुछ कहा, वही ठीक है। ऐसा ही तुम दादा को लिख देना। आज चिट्ठी चली जाय, भला।"

तव मुस्कराती हुई देवकी वोली—"पर दद्दा, आपने सुकुल जीजा को सुनाई खूव खरी-खरी। और जमुना चाचा, आपने तो हमारी इज़्ज़त रख ली। अगर आज आप लोग सहारा न देते, तो वड़ा गड़वड़ हो जाता!"

जमुनाप्रसाद ने तम्वाकू की पीक चौपाल के नीचे पिच-से करते हुए कह दिया—"यह आदमी वड़ा घमंडी है। हज़ार-वारह सौ रुपये, जो अठारह छटाँक की राई वेच-वेच कर इसने इकट्ठे किये हैं, उन्हीं की चरवी इसकी आँखों पर चढ़ गई है। कुछ इसी पर वात नहीं है। आदमी अगर घमण्डी हुआ तो अक्सर वह नहीं वोलता, उसकी चरवी वोलती है। कितनी मूर्खता की वात है कि इसने दादा से पूछा तक नहीं!"

देवकी ने उत्तर दिया—"पूछता कैसे? सास ने ताव पर धर दिया होगा कि दादा देवपुरुष हैं, वे कुछ नहीं वोलेंगे। तुम मकान वनाओ, कोई वात पैदा न होगी।···तुम जानते नहीं हो दद्दा, ये सुकुल जीजा अपनी वुद्धि से नहीं, कान से काम लेते हैं!"

अव कामतापंडित हँस पड़े। वोले—"वस-वस, तत्त्व की वात कह दी तुमने विटिया। हमको भी ऐसा ही जान पड़ता है। मगर अव तुम चूकना

नहीं, चिट्ठी अभी लिख देना। वल्कि अच्छा हो, हमको भी दिखला देना। दो शब्द हम भी उसमें जड़ देंगे।"

उत्साहित होकर देवकी वोली—"वहुत अच्छा दद्दा।" और इतना कह कर वह उठ खड़ी हुई। दाहिने हाथ में कलसा और वायें में वाल्टी लेकर वह आगे वढ़ गई।

गोकुलसुकुल ने कभी न सोचा था कि जमुनाप्रसाद और कामता-पंडित दोनों-के-दोनों मेरे सामने आकर देवकी का पक्ष लेकर हमारा सामना कर वैठेंगे। इसलिए उनको आज की घटना के इस अकल्पित अन्त पर वड़ा दुःख था। और गोकुलसुकुल को जव कोई आघात लगता था, तव वे चुपचाप चारपाई पर लेटे रहते थे। आज भी उन्होंने ऐसा ही किया।

अव दोपहर हो गई थी। गृहिणी ने निकट आकर कहा—"चलो, खाना खा लो।"

"अव खाना मैं कैसे खाऊँ हीरा, कौर तोड़ा ही था कि दाल में मक्खी गिर पड़ी!" गोकुलसुकुल ने करवट लेते हुए उत्तर दिया।

गोकुलसुकुल को अपनी प्रशंसा सुनने का मर्ज था। उनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान तव होता था, जव कोई व्यक्ति उनकी प्रशंसा करने लगता था। उनके खेतों में तिलहन खूव होता था। पास वैठने-उठनेवाले लोग प्रायः कह डालते—"आजकल तो वस सुकुल जीजा की घूम है। खूव चाँदी काट रहे हैं!"

इस वात को सुनकर गोकुलसुकुल की वाँछें खिल जातीं। राह चलते हुए भी वे वोल उठते—"मगर तुम तो जा रहे हो राजा भैया। अरे तम्वाकू तो खाते जाओ।"

गोकुलसुकुल की इस कीर्ति-लोलुपता पर पंडित राजाराम मन-ही-मन हँस देते। पर दस-पांच मिनट के भीतर चित्र का दूसरा पहलू भी एक वार देखे विना न मानते। मिट्ठू ठाकुर को गली से निकलता

देखकर झट धान के खेतों की चर्चा चल पड़ती और सधे हुए अनुभूत शब्दों में वे बोल उठते—"धान तो बस मिट्ठू ठाकुर के पच-बिगहा में दिखलाई देता है। आषाढ़ जो एक बार जी खोलकर बरस गया, तो पचास मन धान कहीं गया नहीं है !"

गोकुलसुकुल को दूसरे व्यक्ति की प्रशंसा सुनकर इतना बुरा लगता कि फिर वे वहाँ और बैठ न सकते। उनको कुछ ऐसा भान होने लगता, मानो सामने दंगल लगा है, जिसमें कुश्तियों के जोड़ छोड़े जा रहे हैं। गाँव के मुखिया और दरोगा, बाज़ार के लखपती सेठ, तहसील के कानूनगो और हाईस्कूल के हेडमास्टर—सभी बड़े आदमी आगे कुर्सी डाले बैठे हैं। उन्हीं के सामने जोड़ीदार ने मुझे ऐसी पटकी दे दी है कि मैं चारों खाने चित हो गया हूँ ! हाय, अब मैं कहाँ भाग जाऊँ, किसको मुँह दिखाऊं !

मिट्ठू ठाकुर के धानवाले खेत की प्रशंसा सुनकर गोकुलसुकुल को कुछ ऐसा ही जान पड़ता और वे तुरन्त उठकर चल देते।

स्वामी की ऐसी बात सुनकर हीरादेवी बोली—"चलो हटो। आगे बढ़कर पीठ दिखलाते हो। हिम्मत बाँधो तो क्या नहीं कर सकते ! तुम्हें कमी किस बात की है ! मकान अगर यहाँ न बना, तो मैं प्राण खो दूंगी ! इस देवकी राँड को मैं कभी यहाँ पनपने न दूंगी। इसको अपनी पढ़ाई का इतना घमण्ड हो गया है कि वह सीधे मुँह बात नहीं करती। अभी उस दिन मैंने मुगौड़ी लगाने को बुलाया तो कह दिया—'मुझे छुट्टी नहीं है।' अगर इसको यहाँ से निकाल बाहर न किया, तो मेरा नाम हीरा नहीं ! लो, अब भी लेटे हो ! चलो उठो, पहले खाना खा लो, फिर उपाय सोचते रहना।"

गोकुलसुकुल ने भोजन तो किया, मगर बे-मन से। चिन्ता जब एक बार मन में घर कर लेती है, तब मन का अपना घर छूट जाता है। अन्य स्थान में घर बनाने को वह भागा-भागा फिरता है। तब मनुष्य

खाना नहीं खाता, वल्कि खाना ही मनुष्य को खाने लगता है।

गोकुलसुकुल भी दो फुलके खाकर उठ खड़े हुए। उनके घर में रसोई से लगी एक कोठरी थी, जिसमें उनकी चारपाई सदा पड़ी रहती थी। अभी-अभी भोजन से पूर्व जिस पर वे लेटे हुए थे, उसी पर पुनः आकर वैठ गये। पास ही तोते का पिंजरा टँगा था। अव तक उन्हें उसका ध्यान न था। तव उन्होंने तुरन्त उसको एक कटोरी में भीगी हुई दाल के दाने छोड़ दिये, फिर उसके छोटे से गिलास में पानी भी डाल दिया। पिंजरे में वन्द शुक जव अपनी चोंच उन दानों पर चलाने लगा, तव गोकुलसुकुल ने उससे पूछा—"पंछी, हमारा कारज सिद्ध होगा?"

तोते ने पिंजड़े की तीलियों में दो चोंचें मारीं। दाल के दानोंवाली कटोरी को एक ओर से चोंच में दवाकर उलट दिया! पानी की गिलसिया में दो-चार वार चोंच डुवा दी और फिर वह इधर-से-उधर चक्कर लगाकर कुछ कहने लगा। क्या कहने लगा, इसको गोकुलसुकुल तो न जान सके, लेकिन जिस व्यक्ति के घर उसने अनेक वर्ष विताये थे, जहाँ से उड़कर किसी तरह वह इस घर में आ पहुँचा था, वहाँ उसने जो चौपाई सीख ली थी, वह वड़ी सारगर्भित थी—

"हुइहै सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क वढ़ावै साखा।"

---

: ५ :

गयाप्रसाद केदारबाबू के साढ़ू थे। उमर में वे उनसे दस-ग्यारह वर्ष छोटे थे। पोस्ट-आफ़िस से अवकाश ग्रहण किये हुए उनका यह दूसरा वर्ष चल रहा था। साठ रुपये मासिक उनको पेन्शन मिलती थी। इसके सिवा कोई निकट का ट्यूशन किसी लड़की का जो मिल जाता, तो उसको भी वे स्वीकार कर लेते थे। उनके दो ही सन्तानें हुई थीं। एक पुत्र और एक पुत्री। पुत्र मायाप्रसाद पोस्ट-आफ़िस में क्लर्क हो गया था और पुत्री वीणा इण्टर में पढ़ रही थी।

मायाबाबू का विवाह हो गया था। उनकी पत्नी 'मीरा' सुशील, व्यवहार-कुशल और रूपवती नारी थी। वीणा से उसकी बहुत पटती थी। यमुना बहुत सरल प्रकृति की माँ थी। वहू अभी हाल ही आई थी, इस कारण घर में बड़ा उत्साह और आनन्द बना रहता था।

मायाबाबू अब डेढ़ सौ रुपये मासिक पा रहे थे। उनके पिता गया-बाबू की भी कुल मिलाकर लगभग सौ रुपये मासिक की आय हो जाती थी। भविष्य की सम्भावनाएँ अवश्य अधिक व्यय-साध्य थीं; क्योंकि वीणा पन्द्रह वर्ष की हो गई थी; पर अभी उसके विवाह को दो-तीन वर्ष की देर थी। फिर, उसके लिए गयाबाबू ने अलग से तीन हज़ार का बीमा भी करा रखा था। इस प्रकार साधारण रूप से गृहस्थी भली भाँति चल रही थी। आमदनी अगर अधिक नहीं थी, तो परिवार भी इतना बड़ा न था कि खर्च मुश्किल से चलता। तात्पर्य यह कि पैर ही इतने बड़े न थे कि पसारने पर चादर छोटी पड़ जाती।

यों तो गयाबाबू के केश अब श्वेत हो गये थे और दो-तीन दाँत भी

गिर चुके थे, पर स्वास्थ्य उनका अच्छा था। परिश्रमी व्यक्ति का स्वास्थ्य तभी उत्तम रहता है, जब वह भोजन में कोई त्रुटि नहीं रखता।

गयाबाबू साग-भाजी स्वयं खरीदते थे और दूध भी वे स्वयं सामने दुहाकर लाते थे। गंगा-स्नान वे नियम से करते और घर वापस लौटने में सवारी कभी न करते। इस कारण घर पहुँचते-पहुँचते वे काफ़ी थक जाते थे। यह एक ऐसा व्यायाम होता था, जिसमें चूक कभी पड़ती न थी और इसका परिणाम यह होता कि क्षुधा सताते ही वे तुरन्त जल-पान के स्थान पर दुग्ध-पान कर लेते। इससे भूख का ज़ोर थम जाता और फिर दोपहर तक के लिए वे चेतन, सजग और तत्पर बने रहते थे।

उस दिन जब केदारबाबू शंकर को साथ लेकर बादशाहीमंडीवाले मकान में जा पहुँचे तो उत्साह की एक लहर-सी सारे परिवार में दौड़ गई। केदारबाबू के चरणों का स्पर्श कर गयाबाबू बोले—"धन्य भाग्य, जो एक युग के बाद इस कुटिया में आपका पदार्पण तो हुआ!"

केदारबाबू ने गयाबाबू के सिर पर हाथ धरते हुए उत्तर दिया—"भगवान् करे सदा सुखी रहो।······हाँ, पदार्पण की न पूछो गया। मुन्नी पीछे पड़ गया कि मैं तो अब इलाहाबाद में ही पढ़ूँगा। बल्कि छोटी तो भेजने को तैयार भी न थी। बहुत समझाने-बुझाने पर राज़ी हुईं।···तुम्हारा यह कमरा तो काफ़ी हवादार है। बिजली की रोशनी का भी प्रबन्ध है। पर क्या ऐसा ही एक छोटा-सा कमरा मुन्नी के लिए अलग······अलग से मेरा मतलब यह कि पढ़ते समय जिसमें उसे दिक्कत न हो। समझे?'

गयाबाबू कुछ संकोच में पड़ गये। सिर नीचा करके व्यावहारिक शब्दावली में बोले—"कमरे की क्या बात है! सब ठीक हो जायगा बड़े भैया।" फिर कुछ साहस के साथ अपने भाव को स्पष्ट करने के लिए सिर खुजलाते हुए कहने लगे—"वैसे यह कमरा माया का है। मैंने तो उधर खपरैलवाले कमरे में अपनी बैठक बना ली है। आइए देख ही लीजिए न। मगर ठहरिए, पहले कुछ···अरी रन्नो! अपने मौसिया को नमस्ते तो

कर जा बेटी !"

वीणा आज सकारण कालेज नहीं गई थी। मीरा रसोईघर में सास यमुना के साथ बैठकर भोजन कर रही थी। और यमुना वीणा से कह रही थी—"लड्डू लेती जा, कटोरी में रखकर—और दो गिलासों में दूध। नहाकर न चले होंगे, तो झट नहा लेंगे। क्योंकि खाना बनाने में थोड़ी देर तो लगेगी ही।"

वीणा जाने लगी तो मीरा ने धीरे से कह दिया—"मगर अम्मा, बिटिया को यह धोती बदलकर जाना चाहिए। जल्दी में कहीं……।"

तभी यमुना गिलास उठाकर दो घूंट पानी कण्ठगत करती हुई बोली—"हाँ, हाँ, धोती बदलकर जाना रन्नो। बल्कि कोई अच्छी-सी साड़ी एकाध-बार की पहनी हुई पहन लेना।"

संकोच से वीणा वहीं ठिठुककर धीमे स्वर में बोली—"मुझे देर लग जायगी। मैंने अभी स्नान भी नहीं किया है। तुम्हीं चली जाओ अम्मा।"

काना-फूसी का अन्दाज लगाकर उधर गयाबाबू ने कह दिया—"मैं अभी आया, बड़े भैया।" और वे तुरन्त उठकर जाने लगे, तो रास्ते में एक बिल्ली उनके आगे से निकल गई।

गयाबाबू जब इधर आ गये, तो उधर केदारबाबू कहने लगे—"पराये घर में निर्वाह करना हो तो बहुत धैर्य और समझदारी से काम लेना चाहिए। गया ने जिस कमरे में ठहराने का इरादा ज़ाहिर किया है, इस समय तुम उसी को स्वीकार कर लेना मुन्नी। समझे ?"

पहले शंकर कुछ सोचने लगा, फिर बोला—"जब तक कहीं कमरा नहीं मिलता, बस तभी तक को दादा।"

केदारबाबू अपने साथ केले एक दर्जन, सन्तरे आधा दर्जन तथा मिठाई सेर-भर ले आये थे। जब गयाबाबू दो कटोरियों में मगद के लड्डू और दो गिलासों में दूध ले आये और इस सामग्री को उन्होंने शृंगार-प्रसाधन वाली टेबल पर रख दिया, तब फलों और मिठाइयों से भरा झोला केदार-

बावू ने गयाबावू को देते हुए पूछा—"माया का विवाह हुए कई वर्ष हो गये। भगवान् की कृपा से अब तक तो पोता भी···?"

तब प्रसन्नता से मुस्कराते हुए गयाबावू बोले—"बड़े भैया, अब तक तो ऐसा कुछ संयोग नहीं आया था, पर अब भगवान् कृपा करेंगे, तो आपका यह आशीर्वाद भी सफल हो जायगा···मगर इतने सारे फल और मिठाइयाँ! ग़ज़ब करते हैं आप। भला इन्हें कौन खायेगा? केला अलबत्ता मैं एकाध खा लूंगा, सन्तरे की भी दो फाँकें चल जायेंगी। मगर ये मिठाइयाँ?···राम कहिए, ज़बान तक से तो लगा नहीं सकता!"

"क्यों, ऐसी क्या बात है?" केदारबावू ने आश्चर्य से पूछा।

"डायबिटीज़।" गयाबावू ने कुछ इस भाव से उत्तर दिया जैसे मिठाइयाँ लाकर केदारबावू ने जान-बूझकर कोई अपराध किया हो! फिर आँगन की ओर बढ़ते-बढ़ते अपनी बैठक के अन्दर रुककर झोले का मुंह खोलकर देखने लगे, "कौन-कौन-सी मिठाइयाँ हैं?"

केदारबावू गयाबावू का उत्तर सुनकर एक बार उन्हें देखते रह गये। वैसे चाहे उनसे पूछते भी कि यह डायबिटीज़ कैसे हो गई तुमको? कुछ तो इसका कारण होगा। पर साथ में मुन्नी जो था। सम्भव था कि प्रासंगिक कारणों की बात उठने पर गयाबावू को उत्तर देने में कुछ असुविधा हो उठती। इस कारण फिर यह प्रश्न उनके भीतर उभरते-उभरते दब गया।

घर के भीतर प्रवेश करते समय वीणा ने देखा था, बड़े मौसिया के साथ में एक युवक भी है। उसका व्यक्तित्व यदि बिल्कुल असाधारण नहीं तो उसे एकदम साधारण भी नहीं कहा जा सकता। पैंट उसका मक्खन-ज़ीन का है, कमीज़ भी वह एकदम दुग्ध-धवल पहने हुए है। जूता सफ़ेद किरमिच के बीच ब्राउन-लेदर से मिश्रित, जिसका तल्ला क्रेप का है। अच्छा, तो यह शंकर भैया हैं, जो अपनी रुचियों में किसी प्रकार का फेर-फार सहन न करने के कारण कभी-कभी परिवार-भर में एक हलचल मचा देते हैं! तब वह सोचने लगी, 'मैंने जो इस अवस्था में उनके सामने जाना

उचित नहीं समझा, सो विल्कुल सटीक वैठ गया !'

उधर केदारवावू वोले—"नहीं मुन्नी। मेरी तो यही राय है कि तुम रहो यहीं। एक तो यहाँ तुम्हें कोई तकलीफ़ होगी नहीं। दूसरे, मान लो, थोड़ी-वहुत कभी हो ही गई तो उसका ख्याल न करना। धीरे-धीरे ये लोग जव तुम्हारी रुचियों को समझ जायँगे, तव कहाँ तक उनका ख्याल न रखेंगे ! मनुष्य अपने स्वभाव की मिठास से शत्रु को भी वश में कर लेता है; ये लोग तो फिर भी अपने सगे-सम्वन्धी हैं।"

"ना दादा," शंकर कुछ गम्भीर होता हुआ वोला—"विना मतलव के कोई किसी का ख्याल नहीं करता। दुनिया में सभी लोग तुम्हारी तरह न मेरे दादा हैं—न स्त्रियों में सभी अम्मा की तरह मेरी माँ।"

केदारवावू शंकर के इस उत्तर को सुनकर प्रसन्न मन और प्रफुल्ल-मुख सोचते रह गये—'मुन्नी, अव इस दुनिया को थोड़ा-थोड़ा समझने लगा है। सव प्रभु की माया है। अपना कुछ नहीं है।'

मिठाइयाँ कई क़िस्म की थीं। दूध का वना पेड़ा, केसरिया लम्वा गुलाव जामुन, नुक्ती के लड्डू और सफ़ेद रसगुल्ला। गयावावू ने एक वार उधर देखा, एक वार इधर। कहीं किसी पर दृष्टि नहीं पड़ी। एक खिड़की का कपाट थोड़ा खुला रह गया था। उसे भी झट वन्द कर दिया। वातायन से काफ़ी प्रकाश अव भी आ रहा था। फिर लम्वा गुलाव-जामुन समूचा उठाकर आधा दाँत से काटकर मुँह में डालते हुए मन-ही-मन कहने लगे—'एक टुकड़े की तो वात है, इतने से भला क्या हानि होगी !'

भोगी व्यक्ति को भविष्य की अपेक्षा वर्तमान कहीं अधिक प्राणमय लगता है।

गुलावजामुन अपने में काफ़ी घुला हुआ था। गयावावू के मुँह में जाते ही तालु और रसना के वीच आकर और भी घुलकर झट से कण्ठ के नीचे उतर गया। तभी गयावावू ने सोचा—पूरा खा लेने में भी

कोई हर्ज न होगा।' और उसका शेष भाग भी उन्होंने झट मुंह में डालकर रूमाल के आधे बंधे और आधे खुले हुए दोनों कोनों को यथापूर्व बाँध लिया। फिर झट उसे दायें हाथ में लटकाये हुए गृहिणी के पास जाकर कह दिया—"लो, बड़े भैया यह फल और मिठाइयाँ ले आये हैं। फल तो खैर ठीक ही ले आये, मगर मिठाइयाँ इतनी सारी न भी ले आते, तो कोई हर्ज न था। मगर हाँ, यह भी ठीक है कि बच्चों का ख्याल तो रखना ही पड़ता है।"

यमुना खाना खा चुकी थी। आचमन के बाद तौलिये से मुँह पोंछकर जब वह झोले की सामग्री देखने लगी, तब एकाएक उसके मुँह से निकल गया—"हाय, यह तो ढाई-तीन रुपये का सामान है। और तुम उनको जल-पान के लिए व्यवहार में आये सिर्फ़ चार लड्डू और दूध दे आये। वेजिटेबिलवाले घी में बने लड्डू उनको भला क्या पसन्द आये होंगे! और वह शंकर न जाने क्या कहता होगा! खैर, अब जो होना था, सो तो हो ही गया। कहाँ गई रन्नो? अँगीठी पर साग चढ़ा, बेटी। अब इस वक्त रोटी तो बनाऊँगी नहीं। परांठे ही बनाये लेती हूँ।"

हार्दिकता और उदारता का ध्यान भी मनुष्य को प्रायः तब होता है, जब उसकी श्रेणी का ही व्यक्ति उससे आगे—बहुत आगे—दिखाई पड़ता है।

गयाबाबू के मुंह से निकल गया—"यह सब तुम्हारी लीला है। मैं बाजार से दही ले आता और दो गिलास लस्सी बन जाती, तो कितना उत्तम होता!"

"खाक उत्तम होता। कहते लाज नहीं आई—सब मेरी लीला है!"

"तुम्हारी नहीं तो और किसकी है?"

"तुम्हारी-तुम्हारी-तुम्हारी! और किसी की नहीं। तुम कोई भी मिठाई खरीदते हो भला! खुद नहीं खा सकते, तभी तो दूसरों को खिलाने में तुम्हारी छाती फटती है! लस्सी बन जाती, लस्सा बन जाता!"

"बको मत माया की माँ ! नहीं तो फिर मुझे क्रोध आ जायगा।"

"अरे जाओ। बड़े क्रोधवाले बनते हो।" कहते-कहते मिठाई की डलिया में गुलाब-जामुन का एक स्थान रिक्त देख यमुना का ध्यान जो स्वामी की मुद्रा पर जा पड़ा, तो सहसा आँखें फाड़कर वह बोल उठी—"बाप-रे-बाप ! इस बीच में एक गुलाबजामुन निकालकर तुमने खा भी लिया।"

"झूठ ! बिल्कुल झूठ !!"

अब यमुना के ओठों पर मुस्कराहट दौड़ गई। सिर हिलाती हुई वे बोलीं—"तो हमारी देह पर हाथ धरकर क़सम खाओ माया के बाबू कि तुमने गुलाबजामुन नहीं खाया !"

"राम-राम ! एक गुलाबजामुन के लिए मैं तुम्हारी क़सम खाऊँगा।" गयाबाबू यमुना के गोल मुख पर इकटक दृष्टि डालकर बोल उठे—"तुम मुझे इतना हलका समझती हो !"

गयाबाबू की शरीर-सम्पत्ति साधारण नहीं है। इसलिए उनके इस 'हलका' शब्द पर यमुना और भी पुलकित हो उठी। बोली—"क्यों, अब अगर मैं मर भी जाऊँ तो तुमको भला क्या दुःख होगा !"

मुँह बनाकर तब गयाबाबू बोल उठे—

"राम-राम ! फिर वही बात। मरने-गलने की बात जब तुम करने लगती हो माया की माँ, तो मेरे हृदय की धड़कन बढ़ जाती है !"

इतने में वीणा कपड़े बदलकर आ पहुँची और फल तथा मिठाइयों का ढेर देखकर मुस्कराती हुई बोली—"लाओ ज़रा देखूँ तो सही, कोई मिठाई खाने लायक भी है !"

तब गयाबाबू चुपचाप उस कमरे से बाहर चल दिये और यमुना बोली—"जो पसन्द आये वह बस एक ले ले।"

तब दो अँगुलियाँ, दिखलाती हुई वीणा मधुर हास के झकोर में बोली—"एक नहीं, दो, अम्मा। बस, दो।"

उधर केदारबाबू कह रहे थे—"हमेशा हर क़दम पर विद्रोह नहीं

किया जाता मुन्नी। समझौता भी हमें करना ही पड़ता है। मैं खुद भी बचपन में कम ज़िद्दी नहीं था। जब कहीं पास-पड़ोस में सत्यनारायण की कथा होती और घर में प्रसाद-रूप में और चीज़ों के साथ पंजीरी आ जाती तो फिर दूसरे दिन, कहते हैं, अम्मा को भी मेरे लिए उसी तरह की पंजीरी बनानी पड़ती थी! लेकिन फिर यह ज़िद् भी अपने-आप दूर हो गई। समझे? इसीलिए……।"

इतने में गयाबाबू के पीछे-पीछे वीणा भी वहाँ जा पहुँची और केदारबाबू की बात अधूरी रह गई।

शंकर ने वीणा की ओर एक बार देखा और सिर नीचा करते-करते फिर ऊँचा कर लिया। क्योंकि उसी समय गयाबाबू ने केदारबाबू से उसका परिचय देते हुए कहा—"यह तुम्हारी लड़की वीणा है, बड़े भैया। इण्टर में इस साल इसका यह दूसरा वर्ष है।"

तभी खिली कली-सी वीणा हाथ जोड़कर बोली—"नमस्ते मौसिया जी और नमस्ते शंकर भैया।"

अब संकोच से दबे-दबे गयाबाबू बोले—"लड्डू आपको भला क्या पसन्द आये होंगे! मगर मैंने सोचा बड़े भैया, घर की तो बात है। अब कौन नीचे उतर कर बाज़ार जाय! बात यह है कि…।" कुछ अटकते हुए गयाबाबू बोले—"इधर कई वर्ष से कुछ ऐसा गड़बड़ हो गया है कि चढ़ने-उतरने से दिल में धड़कन होने लगती है। माया अपने आफिस गया है। वह जब घर में रहता है तब मैं बेफ़िकर हो जाता हूँ। इसीलिए कभी-कभी घर से बाहर निकलने के मामले में मुझे अब थोड़ा आलस्य भी सताने लगता है। यों भी सच बात कहने से मुझे कभी संकोच नहीं होता, फिर आप तो बिल्कुल अपने हैं। छिपाना भी चाहूँ, तो भला आपसे छिपा सकता हूँ!"

इतने में हास्य-गर्भित वीणा बोल उठी—"बचपन में एक बार आपके यहाँ गई थी, मौसिया जी। मगर यह उस समय की बात है

जब मैं बहुत छोटी थी। अब तो उस जीवन की सुधियाँ भी कुछ धुंधली पड़ गई हैं। केवल इतना-भर याद है कि मौसी ने ऐसा मट्ठा मुझे पीने को दिया था, जिसमें ढेर-सा नवनीत पूरे गिलास में समा नहीं रहा था!"

कथन तो उसका समाप्त हो गया, पर जैसे भरे तक्र के गिलास को खाली कर देने के बाद भी नवनीत के छोटे-बड़े टुकड़े गिलास की आन्तरिक गुलाई और तरी में चिपके रह जाते हैं, वैसे ही पुलक हास के अमन्द चिह्न उसके शुभ्र आनन पर अब भी विद्यमान थे।

"तो अब के फिर चल तू मेरे साथ। मैं तुझे वैसा ही मट्ठा फिर पिलाने को तैयार हूँ। उसी गैया की एक बछिया आज भी मेरे यहाँ बनी हुई है और दूध भी उससे कम नहीं देती।"

"रहने दीजिए। इन बातों में कुछ दम नहीं है, मौसिया जी। जब से मेरी मौसी नहीं रहीं, तब से आपका आना ही इधर कहाँ होता है।"

कथन के प्रकार में वीणा ऐसे स्थल पर खड़ी थी कि उसका प्रतिबिम्ब शृंगार की टेबिल के दर्पण में स्पष्ट झलक रहा था और शंकर चुपचाप उसे एकटक देख रहा था।

अब केदारबाबू को ऐसा जान पड़ा मानो रन्नो की बात ही ठीक है। इस विषय पर बहस करना उचित नहीं है। तब केदारबाबू ने पहले तो गयाबाबू से कह दिया—"मगर तुम इस तरह खड़े कब तक रहोगे? बैठो, बैठो, इधर निकल आओ, इसी पलँग पर।" फिर वीणा के उलहने के उत्तर में बोल उठे—"कहती तो तू ठीक ही है रन्नो। लेकिन तुझे यह नहीं मालूम कि तब और अब में कितना फ़र्क पड़ गया है। माना कि शोभा और सुशील अपने-अपने घर जा लगीं, पर मुन्नी के सिवा तुम्हारे और भी तो भाई हैं विष्णु और ब्रह्मा। इधर लक्ष्मी भी आ गया है, देवकी का बड़ा लड़का। उन सबकी देख-रेख, फिर दूकान पर रात-दिन की ड्यूटी। यहाँ चला आया हूँ, फिर भी चिन्ता लगी है कि छुट्टी का दिन है। एकाध आसामी के घर धावा बोल देता, तो कुछ लहना ही

वसूल होता। व्यापार में वीस उलझनें रहती हैं और ज़माना इतना नाजुक आ गया है कि विश्वास तो किसी का रह ही नहीं गया।"

"मगर मौसिया, यह तो आपका रोज़ का धन्धा ठहरा, चलता ही रहता है। पर इसका यह अर्थ तो नहीं कि कभी हम लोगों की सुधि ही न लें।"

वीणा जव यह उपालम्भ देने लगी तो शंकर सोचने लगा—"वात करने में रन्नो कभी हिचकती नहीं।"

अब केदारवावू वोले—"पहले पूरी वात सुन ले रन्नो। हाँ, तो मैं कह रहा था कि वूढ़ा हो गया हूँ, मगर धोखा अव भी खा ही जाता हूँ। पार-साल इन्हीं दिनों फ़ौजदारी के मामले में मुलाहिज़े में आकर एक मित्र की जमानत कर दी थी, अव उसका रुपया मुझे भरना पड़ रहा है। रोज़ मिलते हैं। खातिरदारी इतनी कि कोई अपने सगे-सम्वन्धी की भी क्या करेगा! मगर रुपये के नाम पर केवल वादा करना जानते हैं। आदमी में 'शील' नाम की एक ऐसी चीज़ होती है जो कभी-कभी उनके सारे दर्प को खा जाती है। गुस्सा वहुत आता है कि जव मित्र वनकर सरासर विश्वासघात कर रहा है, तव क्यों न एक वार समाज के सामने इसका मुँह काला कर दूँ। मगर फिर यही सोचकर हाथ मलता रह जाता हूँ कि मित्र का भी एक नाता होता है। रुपये की चाहे जितनी क़ीमत हो, है तो आखिर वह हाथ का मैल ही। और मित्र जो एक वार खो जाता है तो फिर उसका मिलना दुर्लभ हो जाता है। क्या-क्या वताऊँ तुझे! इन्हीं झंझटों के कारण घर से निकलना नहीं होता। मगर तू तो पहले विल्कुल चुहिया-सी थी रन्नो! यह इतनी जल्दी विलौटा-सी कैसे हो गई?"

केदारवावू का इतना कहना था कि वीणा खिलखिलाकर हँस पड़ी। वोली—"यह तो अपनी-अपनी दृष्टि की वात है मौसिया।"

शंकर के मन में आया—"मोहि अतिशय प्रतीति जिय केरी, जेहि

सपनेहुँ परनारि न हेरी ।" इस कथन में यह जो 'परनारि' शब्द आया है इसमें बड़ी गुंजायश है। फिर भी आदर्श-रक्षा के इस पावन पथ पर चलते-चलते कभी फिसलूँगा नहीं, संसार की इस मोह-लीला के नव-नव आकर्षणों, नाना रूपों और प्रसंगों के अलस, मधुर कम्पन मेरे स्वप्निल मानस का कठोर रुद्र संयम कभी भंग न कर पायेंगे।...वैसे वीणा नाम भी कम प्यारा नहीं है। मगर रन्नो की बात ही और है और केश-गुच्छ की यह लट तो जैसे पहले से सोचा और स्थिर किया सब-कुछ उलट-पलट देती है।"

गयाबाबू बोल उठे—"अब कुछ पूछो मत बड़े भैया; यह लड़कियाँ इतनी जल्दी बाढ़ पर आ जाती हैं कि सावन-भादों की गंगा भी इनके आगे हलकी पड़ जाती है।"

यह यमुना केदारबाबू की सगी साली न थी। सगी तो गया के साथ ब्याह हो जाने के दो ही वर्ष बाद प्रसूत-पीड़ा में स्वर्ग सिधार गई थी।

केदारबाबू बड़ी देर से सोच रहे थे—'यमुना नहीं आई, यमुना क्यों नहीं दिखाई दी ?' मन के भीतर प्रश्न उठता था, मगर फिर बैठ जाता था। फिर वह सोचने लगते—'अब वह भी गृहस्थी के नानारूपों के जाल-जंजाल में पूरी तरह फँस गई है। कहीं अटक गई होगी।' पर तभी संयोग से गयाबाबू ने ऐसी बात कह दी कि बिना बोले उनसे रहा नहीं गया और एकाएक उनके मुँह से निकल ही पड़ा—"बड़े उस्ताद हो तुम भी, गया। यानी गंगा के साथ यमुना नाम जान-बूझकर छोड़ गये।"

पर यमुना ही वास्तव में केदारबाबू की सगी साली का नाम था। इसलिए स्थान-पूर्ति के प्रकार में वे इसे भी यमुना कहने लगे थे।

उधर वीणा शंकर के पास जाकर पूछने लगी—उस दिन की याद है शंकर भैया, जब तुमने मेरा यह कान इतनी ज़ोर से मल दिया था कि मैं रो पड़ी थी ?"

इतने में अवगुण्ठन को भाल की बिन्दी तक लाकर मुस्कराती हुई

यमुना द्वार पर आकर वोल उठी—"उनके छोड़ देने से होता क्या है जीजा मैं तो कभी छोड़ सकती नहीं।" पलँग के नीचे एक वोरा पड़ा हुआ था। उसी को आगे खिसकाकर यमुना केदारवावू के पास जा वैठी।

अव गयावावू उठकर चल दिये।

एकाएक खिड़की खुल जाने पर जैसे वन्द पवन कभी-कभी वड़े वेग से वाहर भाग खड़ा होता है वैसे ही शंकर के उर-अन्तर के रुद्ध द्वार एकाएक खुल गये। वह वोला—"याद है। पर तुम्हें भी क्या यह याद है कि जव तुम रोने लगी थीं, तव दादा के पास से झट चार आने पैसे लेकर मैं तुम्हारे लिए पट्टी कड़ाकेदार ले आया था!"

"मगर मैंने खाई कहाँ थी। तुम्हीं को तो सारी-की-सारी लौटा दी थी।"

"झूठी कहीं की। मैंने अपने हाथ से उठाकर नहीं खिलाई थी? और फिर एक वार मेरे खिला देने से ही तुम्हारी सारी नाराज़गी दूर नहीं हो गई थी!"

"हुँ। अव तक तो दूर हुई नहीं!"

तव उसके इस उत्तर को सुनकर शंकर को ऐसा जान पड़ा, मानो रन्नो ने उसकी छाती पर एकदम से पिस्टल ही दाग़ दी हो तभी उसके मुँह से अनायास निकल गया—"तो अव मैं उसे दूर करके ही जाऊँगा।"

इस पर वीणा कुछ गम्भीर हो गई। नयनों की संकेत-भाषा में एक वार उसने अपनी और मौसियों की उपस्थिति की ओर दृष्टिक्षेप कर सावधान हो जाने की मुद्रा भी व्यक्त कर दी। वातें शायद कुछ और चलतीं, पर तव तक यमुना वोल उठी—"अरी रन्नो, अपने मौसियाजी के लिए पान तो ले आ झट से। दुलहिन ने लगा लिये होंगे।"

तव वीणा मूक शिथिल भृकुटियों में तनाव, अधर में संयम और केशों की लट में झूलन डालती हुई चल दी।

शंकर ने मन-ही-मन लक्ष्य किया—'पढ़ाई यहाँ वास्तव में खूव होगी।

कोई दूसरा स्थल होता तो एक वार वह हा-हा हा-हा करके हँस पड़ता। तभी वह यमुना की ओर उन्मुख हो, उनके चरणों का स्पर्श करते हुए वोला—"क्षमा चाहता हूँ, मौसी। तुम जब आई तब मैं रन्नो से वात करने की धुन में था। कई वर्ष के वाद पहली वार देखने का अवसर मिला था। लेकिन तुम्हारे इन पावन चरणों का आशीर्वाद लेना भला कैसे भूल सकता हूँ!"

"कोई वात नहीं मुन्नी।" शंकर के सिर पर हाथ रखकर यमुना वोली—"आशीर्वाद मेरा तुझे हर घड़ी मिलता ही रहता है। मुँह से कहा तो क्या, न कहा तो क्या!" फिर झट से केदारवावू की ओर मुँह फेर-कर वोल उठी—"हाँ, तो मैं कह यह रही थी जीजा कि इनके शरीर की हालत तो तुम देख ही रहे हो। ऐसी दशा में रन्नो के विवाह को वरा-वर टालते जाना क्या उचित होगा?"

---

: ६ :

सन्ध्या होने पर जब गोकुलसुकुल अपनी ससुरालवालों से मिले तो उनके चचिया ससुर परमेश्वरीदयाल ने प्रश्न किया—"हमने सुना है, तुमने नींव खुदवाना बन्द करवा दिया।"

सुपारी काटते हुए गोकुलसुकुल बोले—"बन्द मैंने करवा दिया, यह तुमसे किसने कहा? जब पड़ोसी मार-पीट पर तैयार दिखाई पड़े तो मज़दूर खुद ही डर के मारे भाग खड़े हुए। लेकिन कक्का तुम तो कहते थे—पुराने नक्शे में यह ज़मीन केदार दादा की कभी निकल नहीं सकती। पर कामतापण्डित और जमुनाप्रसाद कहते थे—'उन्हीं की है।' मुझे अगर मालूम होता कि यह ज़मीन दादा की है, तो मैं काहे को इस झगड़े में पड़ता।"

परमेश्वरीदयाल गोकुलसुकुल की ससुराल के बड़े उत्साही सदस्यों में से थे। आपकी प्रशंसा यह थी कि आप सदा ओखली के भीतर और चोट के बाहर रहते। आपका पूरा परिचय यह था कि शारीरिक हो चाहे मानसिक, प्रत्यक्ष हो चाहे परोक्ष, लाभ के नाम पर आप कोई भी कार्य सहर्ष कर सकते थे। पता-भर लग जाय कि आपको अपने लड़के के विवाह के अवसर पर दस मन साग की ज़रूरत है, बस, परमेश्वरी काका वहीं दिखलाई पड़ेंगे जहाँ आप चारपाई डाले बैठे लैया और चना टूंग रहे होंगे। बातचीत प्रारम्भ होगी इस बात से कि आजकल गर्मी बहुत पड़ रही है। फिर इस सिलसिले में बात मिनटों में तरकारी-भाजी पर आ जायगी। क्योंकि गरमी के दिनों में वह बहुत जल्दी बिगड़ जाती है।

होते-करते अन्त में कह देंगे—"शाम को हम आपके साथ चलेंगे और वरम्हां काछी से पांच मन सीताफल, तीन मन वैंगन और तीन मन आलू सस्ते में दिलवा देंगे। दामों की फ़िकर मत करना, चाहे जव दे देना। समझे कि नहीं ?"

अतः प्रपंच-भरी मुस्कराहट के साथ परमेश्वरीदयाल वोले—"मकान वनने को दो दिन में वन सकता है। इस करेजे में वनवाने की हिम्मत और इस भेजे में तरकीव-भर होनी चाहिए। समझे कि नहीं ?"

परमेश्वरीदयाल का इतना कहना था कि गोकुलसुकुल की वांछें खिल गईं। सुपारी-कत्था, लौंग का चूरा और साथ ही में चूने की गोली परमेश्वरीदयाल की ओर वढ़ाते हुए वोल उठे—"फिर वह तरकीव मुझे वताओ न कक्का ? मुझसे तो आज पेट-भर रोटी भी नहीं खाई गई। अगर यह मामला जल्दी तय न हुआ, तो मैं तो इस चिन्ता में चारपाई से लग जाऊँगा !"

पान के अभाव में उसका मसाला गोकुलसुकुल के हाथ से लेते हुए परमेश्वरीदयाल वोले—"अव तुम एकदम चुप लगा जाओ और भीतर-ही-भीतर भेद लेते रहो कि देवकी कव शहर को जाती है। जव कभी ऐसा मौक़ा देखो कि वह चार-पाँच दिन को गई है तो सव काम छोड़कर मकान वनवाने पर तुल जाओ। एक-साथ मज़दूर लगा दो और तीन दिन में दीवारें उठवा लो। इसके वाद धीरे-धीरे फिर सव आप-ही-आप ठीक हो जायगा। दादा के स्वभाव को तुम जानते नहीं। एकदम देवपुरुष हैं, देवपुरुष ! जव देखेंगे कि अव तो दीवारें भी खड़ी हो गईं, तो फिर कुछ न कहेंगे। समझे कि नहीं ? और वेटा, अगर कुछ कहें भी तो कह लेने देना। 'लात खाय पुचकारिये, होय दुधारू वेनु।' कह भी तो गये हैं।"

आशा का गरल भी मीठा होता है। वात गोकुलसुकुल के मन के भीतर पूरी उतर गई। होठों पर विकास झलक उठा। मुस्कराते हुए वोले—"कक्का, तरकीव तो तुमने ठीक वताई। आज मंगल का दिन

है। अगर काम सिद्ध हो गया तो सवा रुपये का हनुमान्‌जी का परसाद बाँटूँगा इसी जगह बैठकर।" फिर दक्षिणी दालान की ओर उन्मुख हो उठे। कहने लगे—"कहाँ गई छोटी अम्मा ? कुछ खिलाती-पिलाती हैं कि जायँ!"

"लोग कहते हैं कि देश के स्वतन्त्र हो जाने पर भी जनता की दशा नहीं सुधरी।······कहाँ गई लल्ला की अम्मा ? अरे और कुछ नहीं है, तो लड्डू तो होंगे घर में।···हाँ सुकुल, मैं यह कह रहा था कि पहले हमारे घरों में गुड़ चला करता था। लोटा-भर मट्ठा और छटाँक-भर की गुड़ की डली चलती थी कि नहीं। मगर अब ?" कहते-कहते पहले परमेश्वरीदयाल कुछ रुके, पर जब अन्दर से कोई उत्तर न मिला, तो फिर गोकुलसुकुल को बातों में उलझाने लगे।

छोटी अम्मा पर भगवान् की असीम कृपा थी। उन्हें नींद खूब आती थी। लेकिन उनको शिकायत थी कि मुझे नींद बहुत कम आती है। वे खाना दिन-भर में चार बार खाती थी, लेकिन उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध यह था कि वे निमन्त्रण में खाना खाने को नहीं, बल्कि चखने को जाती हैं। केवल तबियत बदलने के लिए। तिस पर वे हमेशा बीमार बनी रहती थीं। सिर का दर्द तो उनका कभी जाता न था। पिछली विजयादशमी को जब वे सरसैयाघाट से लौट रही थीं तो रास्ते में पड़ गया मूलगंज का चौराहा, जहाँ सड़क पर एक किनारे, दो पैसे में शरीर का वज़न बता देनेवाली मशीन रखे हुए लोग अक्सर बैठे मिल जाते हैं। कहते हैं, उस समय जब छोटी अम्मा ने अपना वज़न लिया था, तो वह पौने तीन मन के निकट जा पहुँचा था!

छोटी अम्मा उस समय भीतर दालान में चारपाई डाले सो रही थीं। स्वामी की पुकार सुनकर एकाएक उठ बैठीं! दृष्टि पैरों पर जा पड़ी, तो यह देखकर चौंक पड़ीं कि अरे दो लच्छे टेढ़े पड़ गये। झट से उनको ठीक किया। फिर उठकर एक अँगड़ाई ली। और आँगन की ओर देखती

हुई बोलीं—"अरे, अभी तो दुपहरी ही बनी हुई है।"

इतने में उन्हें मालूम हुआ कि स्वामी किसी से बैठे बात कर रहे हैं। तब दालान के बाहर आकर झाँकने लगी और वहीं से एकदम बोल उठीं—"अरे सुकुल, तुम कब आये? मुझे ज़रा झपकी लग गई थी। बात यह है कि रात में तो नींद आती नहीं बेटा!" फिर इतना कहकर उसी ओर जा पहुँची, जहाँ दूध गरम होते-होते पककर आधा रह गया था, ऊपर मलाई की एक मोटी पर्त भी जम गई थी और रंग भी उसका बिस्कुटी हो गया था। अतः एक मटकी में हाथ डालकर दो लड्डू उठाकर छोटी कटोरी में रख लिये और गिलास-भर पानी साथ लेकर गोकुलसुकुल के आगे बढ़ाती हुई बोलीं—"दूध अभी-अभी गरम होने को रक्खा है, इसलिए नहीं ले आई।"

यह दृश्य देखकर परमेश्वरीदयाल चारपाई की पाटी पर हाथ मारते हुए खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—देखो सुकुल, मैं कहता न था कि देश आगे बढ़ा न होता तो गुड़ की डली के स्थान पर आज ये लड्डू कैसे सामने आते!"

छोटी अम्मा मुस्कराते हुए बोलीं—"चलो हटो, बड़े आये लड्डू वाले। न पेड़ा, न जलेबी, चले लड्डू का वर्णन करने। मगर सुकुल, तुमने यह क्या किया कि शुक्र और शनीचर के कहे में आकर मकान की नींव ही खुदवाना बन्द कर दिया! वैसे देवकी बिटिया का स्वभाव तो बहुत अच्छा है। दमयन्ती को ऐसे मन से पढ़ाती है कि बराबर हर दरजा में पास होती जाती है। लेकिन फिर तुमको भी तो मकान के लिए जगह चाहिए। हमारी बड़ी मुश्किल है। तुम्हारा पक्ष लेती हूँ तो डरती हूँ कि कहीं दादा नाराज़ न हो जायँ और उनका ख्याल करती हूँ तो देखती हूँ कि तुमको मकान के लिए ज़मीन कहाँ से मिलेगी! वैसे बेटा, मकान तो मुझको भी चाहिए।"

गोकुलसुकुल से अब नहीं रहा गया। बोले—"छोटी अम्मा, यह

तुमने अच्छी कही······।"

तब छोटी अम्मा ने बात काटते हुए कहा—"बात सुनो बात। देखो, तीन कमरे तो चाहिएँ तीन बिटियों के लिए। क्योंकि जब कभी दामाद आ जायँगे, तो उनको ठहराने के लिए अलग-अलग कमरे चाहिएँ। चाहिएँ कि नहीं? सच्ची कहना सुकुल बेटा।" और इतना कहते-कहते छोटी अम्मा ने गोकुलसुकुल के कन्धे पर हाथ धर दिया।

यह दृश्य देखकर परमेश्वरीदयाल उठ खड़े हुए। बोले—"मकान नहीं, तुमको किला चाहिए। सुना सुकुल? जब इसका यह हाल है, जो इतने बड़े पक्के मकान में रहती है, तब भला तुम्हारा क्या हाल होगा? हमने जो तरकीब बताई, बस तुम उसका ख्याल रखना। अच्छा, मैं अब जाता हूँ।"

दूसरे की आँख की छर मनुष्य झट देख लेता है, किन्तु अपनी आँख का टेंट उसे दिखाई नहीं पड़ती। दोष-दर्शन की यह मानवी प्रवृत्ति संतोष और तृप्ति के जीवन में बिल्कुल उलट जाती है। अपना रत्ती-भर अभाव तो उसे मन-भर जान पड़ता है, किन्तु दूसरे का मन-भर अभाव उसे रत्ती-भर भी छू नहीं पाता।

गोकुलसुकुल भी अपना दोष तो न देख पाते थे, किन्तु दूसरे का दोष उनके लिए असह्य हो उठता था। लड्डू झटपट उन्होंने समाप्त कर डाले, क्योंकि छोटी अम्मा को भी अब मकान की ज़रूरत पड़ गई, यह बात उनके हृदय पर वज्र के समान जा लगी। मनुष्य के इस सर्वग्रासी रूप को देखकर उनके शरीर का लोम-लोम जल उठा। वे तुरन्त उठकर खड़े हो गये और बोले—"छोटी अम्मा, मुझे तो अब वहाँ जगह मिलने से रही, लेकिन तुम्हारा बस चले तो तुम ज़रूर वहाँ मकान बनवा लो!" और इतना कहकर वे वहाँ से एक-दो-तीन हो गये।

✿ ✿ ✿

देवकी जव पाठशाला से लौटी तो संध्या हो गई थी। वकरी ववूल की डाल पर दो पैर रक्खे हुए जल्दी-जल्दी मुँह चला रही थी, और उजियारे आसामी पड़ोस के मकान में वैठा वीड़ी पी रहा था। देवकी ने वकरी के कान थामकर मकान खोला। वकरी को अन्दर किया और सदर दरवाज़ा वन्द करके, वरोठे में जाकर, वह एक चारपाई पर लेट गई। एक वार वह अपने एकाकी जीवन पर दृष्टिपात करती हुई सोचने लगी—'लक्ष्मी कानपुर में मालूम नहीं क्या कर रहा होगा!' फिर उसे ध्यान आया लक्ष्मी के दादा उमाकान्त का, जो लगभग ४०० मील दूर मध्य-प्रदेश के एक गाँव में रहते थे। फिर कल्पना की एक दृष्टि मुड़ गई कानपुर में रहनेवाले दादा केदार पर। 'चिट्ठी तो आज उनको लिख ही दी, अव आना-न-आना उनकी तवियत की वात है। वैसे तवियत की वात उतनी नहीं, जितनी अवकाश की है। अगर वे कानपुर में मौजूद होंगे तो आयेंगे ज़रूर।'

प्रातःकाल सात वजे से इस समय साढ़े पाँच तक देवकी वरावर काम में लगी रही थी। घर की सफ़ाई, गोकुलसुकुल से झाँव-झाँव, कामता-पंडित और जमुनाप्रसाद से वार्तालाप, फिर पानी भरना, स्नान करना, थोड़ी-सी खिचड़ी वना-खाकर पाठशाला जाना। और अव जव वह पाठशाला से लौटी है, तो फिर उसे चूल्हे-चौके की फ़िकर करनी है। एकाएक एक ठंडी सांस लेकर वह मन-ही-मन अपने-आपसे वोल उठी—"उठो देवकी। थोड़ा-सा काम अभी वाकी है, उसे भी कर ले। सदा यही दिन न रहेंगे। कभी तो आमों में वौर लगेंगे ही। कभी तो अमरैया फलेगी। कभी तो रसाल टपकेंगे। कभी तो उनमें वैठकर मोर कूकेंगे, पानी वरसेगा और कोयल वोलेगी।" और अपने मन से इतना कहते-कहते खिचड़ीवाली वटलोई की काली पड़ी हुई जली तलहटी को वह पास पड़े जूने से रगड़ने लगी।

'समझ में नहीं आता, इन गोकुल जीजा को क्या हो गया है! आज

तक ऐसी भाषा में कभी उन्होंने मुझसे बातें न की थीं। फिर आज उनको हो क्या गया ! इस हीरा ने तो मेरे विरुद्ध कहीं उनके कान नहीं भर दिये !··· उसी ने कुछ भर दिये होंगे। दुनिया भर दे, दुनिया-भर मेरा विरोध करती रहे, मुझे अपने काम-से-काम है। मुझे तो उस आदमी की मौत प्यारी लगती है जिसकी अन्तिम साँस कर्त्तव्यपालन में टूटती है ···यह बटलोई भी अब घिस चली। मगर चली बहुत। अबकी जो कानपुर गई तो एक दूसरी लानी होगी। अब इससे चावल बनाने का काम लूँगी।··· चिट्ठी आज की डाक से कानपुर पहुँच जायगी। दादा को कल मिलेगी। मगर, यह द्वार कौन खटखटा रहा है ?' और तुरन्त उसके मुँह से निकल गया—"आई छोटे दादा, आई !"

देवकी स्वच्छ पानी में हाथ धोकर द्वार की ओर चल दी। अब थोड़ा अँधेरा होने लगा था। दरवाजा आँगन से लगा हुआ था। इसलिए थोड़ा प्रकाश भी वहाँ बना हुआ था। पर दरवाजा खोलते ही उसने देखा कि परमेश्वरी दादा आये हैं। अतः तुरन्त बोल उठी—"ज़रा लालटेन जला लूँ तब बैठूं। आपको तकलीफ़ तो होगी, मगर सिर्फ़ एक मिनट।"

इतने में पद्मा स्कूल से आ गया। देवकी बोली—"दादा के पैर नहीं छुए, उल्लूचन्द !"

पद्मकान्त ने परमेश्वरीदयाल के पैर छू लिये और हाथ जोड़कर मुस्कराते हुए कह दिया—"मैं सोच ही रहा था···"

देवकी लालटेन जलाकर ले आई और परमेश्वरीदयाल को अन्दर कमरे में ले जाकर बिठलाते हुए उसने कह दिया—"लालटेन जलाने के सिलसिले में मेरे हाथ कुछ गन्दे हो गये हैं। मैं उन्हें ज़रा साफ़ कर लूँ। अरे पद्मा, तू ज़रा आग तो बना बेटा। छोटे दादा, मैं आज बहुत थक गई हूँ, बहुत ही थक गई हूँ। फिर आज मेरा जी न जाने कैसा-कैसा हो रहा है ! अच्छा, मैं अभी आई। छोटे दादा, अच्छी तरह से बैठ जाओ। बड़ी ठंड पड़ रही है।"

थोड़ी देर में जब देवकी बदन पर एक पुरानी शाल डालकर कमरे के अन्दर आई और परमेश्वरीदयाल के पास एक बोरा डालकर बैठ गई और धोती की खूंट से चुटकी-भर तम्बाकू निकालती हुई परमेश्वरीदयाल के हाथ पर रखने लगी, तो उतनी ही चुटकी-भर तम्बाकू उसने स्वयं भी अपने नीचे के ओंठ के अन्दर रख ली।

परमेश्वरीदयाल तम्बाकू स्वीकार करते हुए बोले—"बिटिया, मैं तुमसे यह कहने आया हूँ कि सवेरे मैं घर पर था नहीं और सुकुलजी तुमसे बेकार उलझ पड़े। बिटिया, बात यह है कि पढ़े-बढ़े तो वे हैं नहीं...। समझी कि नहीं?"

देवकी मुस्कराती हुई बोली—"तुम समर्थ आदमी हो। सीधी कहोगे तो, उल्टी कहोगे तो, तुम्हारी सब लह जायगी। लेकिन तुम जानते हो, मैंने तो कोई बात उनके विरुद्ध कभी कही नहीं।"

अब परमेश्वरीदयाल हँस पड़े। बोले—"बस बिटिया, मेरा भी ऐसा ही स्वभाव है। मैं ही किसी के विरोध में कभी कुछ कहता हूँ? कभी तुमने देखा मुझे किसी की बुराई करते हुए? मैंने तो कहा था सुकुल से कि धीरे-धीरे चलो, धीरे-धीरे। इतनी जल्दी न चलो कि गिर पड़ो! दादा लंका में तो रहते नहीं। पैर तले कानपुर है। कुल जमा सवा दो रुपये का खर्च है। सवेरे जाओ और शाम को लौट आओ। दादा से पूछ लेने में तुम्हारी जात न छोटी हो जायगी। मगर वह बेवकूफ़ आदमी है। अपनी ही कहे जाता है, किसी की सुनता है नहीं।

इतने में पद्मा आ गया और बोला—"अम्मा, मैंने आग बना दी। और दाल का अदहन भी रख दिया। जो बर्तन तुम छोड़ आई थीं उनको भी मैंने साफ़ कर लिया।"

देवकी बोली—"छोटे दादा, वैसे तो मैं कभी चाय पीती नहीं। लेकिन आज मेरी तबियत है चाय पीने की। कहो तो तुम्हारे लिए भी एक गिलास बना लूं?"

परमेश्वरीदयाल सोचने लगे—'मुझे तो ऐसा लगता है कि यह लड़की, लड़की नहीं बिल्कुल गऊ है। इसके विरोध में कुछ कहना भी पाप कमाना है। लेकिन फिर हीरा भी तो अपनी लड़की है।' फिर एकाएक बोल उठे—"नहीं, मैं चाय-वाय नहीं पीता, बिटिया। तुम अपने भर के लिए बना लो। मैं भी अब जाऊँगा। मैं तो तुमसे सिर्फ़ यह कहने चला आया कि इस मामले में मेरा पक्ष तुम अपना पक्ष समझ लो। समझी कि नहीं? मेरे लिए जैसी तुम, वैसी हीरा।"

अब देवकी के मुँह से निकल गया—"छोटे दादा, इसमें पक्ष-विपक्ष की बात मैं नहीं कहती हूँ। मेरा तो यही कहना है कि जो बात सच्ची हो, उसी का समर्थन करना चाहिए। भगवान् की दया से आप भी बाल-गोपाल से भरे-पूरे व्यक्ति ठहरे। धर्म का रास्ता ही आपको पकड़ना चाहिए। वही आपको शोभा देता है। इससे अधिक मैं क्या कह सकती हूँ। मैं भी आपकी बच्ची के समान हूँ।"

परमेश्वरीदयाल अब तक मुख्य दरवाज़े तक पहुँच चुके थे। बोल उठे—"तुम इतमीनान रक्खो बिटिया, मुझसे कोई पूछेगा तो मैं बिल्कुल दो-टूक बात कहूँगा। समझी कि नहीं? धर्म के मामले में झूठ बोलकर मैं भला अपना मुंह काला कराऊँगा! राम राम!!"

इतना कहकर परमेश्वरीदयाल ज़ब मकान से बाहर हो गये, तो देवकी किवाड़ बन्द करके अन्दर जाकर बोली—"चाय-वाय नहीं बनेगी पद्मा, दाल चढ़ाओ दाल।"

---

: ७ :

केदारबाबू जब दूसरे दिन कानपुर लौटने को तैयार हुए, तब उस खपरैलवाले कमरे में उनके पास केवल एक शंकर था। स्टेशन तक भेज आने को जब वह तत्पर हो उठा; तब केदारबाबू अपनी भाषा पर थोड़ा और अधिक संयम का भार डालकर बोल उठे—"सारी बातें मैंने तुमको बहुत अच्छी तरह समझा दी हैं, मुन्नी। लेकिन जो बात मैं अब तक तुमसे कहते-कहते रह गया, वही अब इस समय कह देना चाहता हूँ।"

शंकर मन-ही-मन थोड़ा सहम गया। फिर भी उनके मुँह की तेजोमयी आकृति, बल्कि कहना होगा केवल भृकुटि वंक की ओर देखता हुआ बोला—"दादा, आप जो भी आज्ञा देंगे, उसका मैं प्राणपन से पालन करूँगा। आप बिना सोचे-विचारे बस अब उसे कह ही डालिए।"

केदारबाबू उस समय अपना पुराना किन्तु धुला हुआ रेशमी कुरता पहनते-पहनते चारपाई पर ही क्षण-भर के लिए बैठ गये। सिरहाने की ओर बिस्तर लपेटा हुआ रक्खा था, उसी का सहारा लेकर उन्होंने एक पैर पूरा फैला दिया, दूसरा गाँठ के बल खड़ा रक्खा। सामने खुला हुआ आँगन पड़ता था, जिसके नीचे कोई किरायेदार रहते थे। आज उनके यहाँ सत्यनारायण की कथा थी। चौकी के पावों में रम्भा-पल्लव बाँधे जा रहे थे। शंकर तब तक खड़ा था। उसी क्षण केदारबाबू बोल उठे—"यहीं खिड़की पर बैठ जाओ तो कहूँ।"

शंकर उस खिड़की के फ़र्श को, रूमाल की हवा से, एक-दो बार झाड़ते हुए जब बैठने लगा, तभी केदारबाबू बोल उठे—"वैसे कोई खास बात मुझे नहीं कहनी है मुन्नी। सिर्फ इतना भर चेताये जाता हूँ कि अब

तुम इतने समझदार तो हो ही गये हो कि अपना भला-बुरा समझ सको। किसके साथ हमारे कैसे सम्बन्ध हैं, कैसे नहीं, इस बात का ज्ञान तुमको न हो, अब इस अवस्था को तुम क़रीब-क़रीब पार कर चुके हो। इसलिए तुमको अब यह कहने का अवसर नहीं है कि ऐसा मैं जानता नहीं था। समझे ?"

केदारबाबू अभी मुख्य विषय की भूमिका ही जमा रहे थे, स्पष्ट कुछ कह नहीं पाये थे कि शंकर बोल उठा—"दादा, मैंने अभी आपसे यही विनय की थी कि आप आज्ञा दीजिए, पर आप तो कुछ इस प्रकार बोल रहे हैं; जैसे परामर्श के रूप में कुछ कहना चाहते हों।"

अब केदारबाबू हंस पड़े। बोले—"वही कह रहा हूँ मुन्नी, चाहे तो उसे आज्ञा ही समझ लेना।...हाँ, तो मैं कहना यह चाहता था कि कभी मेरी भी यह उमर थी, जैसी अब तुम्हारी है। उस समय मेरे पिता का प्रत्यक्ष साया मुझ पर न था, क्योंकि वे देहात में रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जो-कुछ भी मुझे सुझाई पड़ा, वह मैंने कर डाला। कभी यह नहीं सोचा कि इसका परिणाम क्या होगा !...तो अब संक्षेप में इतना ही कह दूं कि सुशीला के जन्म के बाद जो तुम्हारे कोई भाई नहीं हुआ और दो-चार वर्ष के अन्दर ही तुम्हारी बड़ी अम्मा का पीछा भी हो गया, उसके मूल में विधि का विधान उतना नहीं था, जितनी थी मेरी अपनी नैतिक हीनता ! मैं नहीं चाहता कि ज्ञान से या अज्ञान से इस उमर में तुमसे भी कहीं कोई ऐसी गलती हो जाय, जिसके लिए, तुमको भी आज मेरी तरह... ...!"

बात पूरी न हो पाई थी कि केदारबाबू की आँखों में आँसू आ गये।

शंकर अपने इस दादा के प्रति इतनी अधिक श्रद्धा रखता आया है, जिसका अन्त नहीं। लेकिन यह उसने कभी न सोचा था कि उनका प्यार पिता का ही प्यार नहीं, एक गुरु और मित्र का-सा निर्मल और स्वच्छन्द प्यार भी है। तभी उसने केदारबाबू के चरण थाम लिये।

वोला—"इन चरणों के पावन स्पर्श के साथ कहता हूँ दादा, ऐसा ही होगा । आपकी आज्ञा का ही नहीं, आशाओं का भी मैं सदा ध्यान रखूंगा ।"

जिस समय शंकर ऐसी गम्भीर शपथ ले रहा था, उस समय वारम्वार उसके भीतर से यही स्वर उठ रहा था—'दादा ने सव कुछ जान लिया है । उनकी दिव्य दृष्टि से कोई वात—सम्भावना के रूप में भी—छिप नहीं सकी है ।'

इतने में गयावावू आकर वोले—"चलो वड़े भैया, ताँगा आ गया ।"

सामान कुछ विशेप था नहीं । एक वैग मात्र था । उसे शंकर ने उठा लिया । अव उस कमरे से वाहर आते ही गयावावू यमुना तथा वीणा सामने आ गई । गयावावू वोले—"मुन्नी जव यहाँ रहेगा, तव कभी-कभी आप आयेंगे ही । मेरे लिए यह वड़े भाग्य की वात है ।"

केदारवावू को यमुना पान देने लगी, तभी उसे मुँह में रखते हुए केदारवावू वोले—"भाग्य की कह लो या आत्मीयता के आनन्द की । वात एक ही है । पर वह केवल तुम्हारे ही लिए नहीं, मेरे लिए भी है तुमसे रत्ती भर भी कम नहीं ।"

वीणा चुपचाप केदारवावू के मुँह की ओर देख रही थी । अव अवसर निकालकर वोल उठी—"शोभा और सुशीला दीदी को कितने दिनों से नहीं देखा । कभी उसको भी ले आइएगा मौसिया । और मौसी को मेरा नमस्ते कहिएगा और विष्णु तथा ब्रह्मा से कह दीजिएगा—तुमको रन्नो वहुत-वहुत याद कर रही थी । अव वे भी काफ़ी वड़े हो गये होंगे ।"

केदारवावू हँसते-हँसते उसके सिर पर हाथ रखकर वोले—"सवको एक-साथ देख लेगी रन्नो । थोड़ा-सा धीरज धर वेटी ।"

यमुना की आँखों में आँसू भर आये थे । रुद्ध कण्ठ और भीगी पलकों के साथ वह वोल उठी—"दीदी के साथ रहकर ही मैंने यह घर पाया

था। आज अगर वे बनी होतीं तो बात ही कुछ और होती !"

"कोई खास बात न होती यमुना। तुझे देख लेता हूँ तो यही जान पड़ता है कि सामने गंगा ही तो लहरा रही है।" केदारबाबू कहते-कहते सीढ़ियाँ उतरने लगे। यमुना आँसू पोंछने लगी। तभी गयाबाबू बोले—"मगर ज़रा ठहरो बड़े भैया। आपके चरणों की रज अब तक मस्तक से...। हाँ, बस। सी-ऑफ़ करने वैसे मैं भी स्टेशन तक चला जा सकता था। पर यही सोचकर नहीं जा रहा हूँ कि वहाँ सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ेंगी। इसलिए बड़े भैया, कुछ ख्याल न कीजिएगा।"

ताँगे में आगे बैठे केदारबाबू, पीछे मायाबाबू और शंकर। जब ताँगा चलने लगा तो वीणा बोली—"अच्छा नमस्ते मौसिया जी।" फिर क्षण-भर बाद कहने लगी—"सामने मछलीवाली आ रही है मौसिया। यात्रा बहुत ही शुभ है।" और इतना कहती हुई एक बार आगे को बढ़ी, पर फिर ताँगे की ओर देखने लगी। शंकर चुपचाप ताँगे पर बैठा यही सोच रहा था—'इससे तो अच्छा होता, मैं होस्टल में चला जाता। खैर कोई बात नहीं। अब सही।' इतने में मायाबाबू बोल उठे—"मौसिया न तो आप अक्षयवट देखने गये, न आपने आनन्दभवन देखा। एकाध दिन तो और रहते।"

केदारबाबू पान का रस कण्ठ के नीचे उतारते हुए बोले—"बीसों बार देख चुका हूँ माया। कुछ भी देखना बाकी नहीं रखा है।" फिर ठहरकर शंकर को लक्ष्य करके कहने लगे—"हफ्ते में अगर दो चिट्ठियाँ भी मिलती रहें, तो ऐसा जान पड़ता है आदमी यहीं-कहीं शहर में रहता है। लेकिन इस दुनिया की हालत ही कुछ ऐसी अजीब है कि... अब क्या बताऊँ ! एक बार छोटे भैया अपने सेठ के किसी काम से कलकत्ता गये थे। गये थे सिर्फ चार दिन के लिए कहकर, मगर फिर लौटे पन्द्रह-बीस दिन बाद। और तारीफ़ यह कि एक भी पत्र मुझे नहीं लिखा। सुनते हो मुन्नी ?"

शंकर सोच रहा था—'मैं अपने कमरे के किवाड़ सदा वन्द रखूंगा, वल्कि भीतर से कुण्डी भी लगा लिया करूँगा। तव भी क्या रन्नो मुझे तंग करने आती रहेगी ! नहीं-नहीं, ऐसी क्या वात है। संकेत-भाषा में एक-दो वार कह देना मात्र काफ़ी होगा। लेकिन अगर वह कभी दस-पाँच मिनट के लिए आ ही जाया करेगी तो ? पानी पीना है, दूध भी रात को पीता ही हूँ। कभी धोवी को कपड़े डालने हैं और रन्नो इसी वात की सूचना देने आई है, या उसी को मुझसे कोई चीज मँगवानी है और...। अभिप्राय यह कि विश्वविद्यालय से लौटते समय मैं उसे लेता आऊँ। तव क्या मुझे मुंह सीकर, आँखें मींचकर, कानों में तुलसी की डाट लगाकर रहना होगा !"

इतने में सुनाई पड़ा—"सुनते हो मुन्नी ?"

शंकर जैसे चौंक पड़ा हो। फिर भी सँभलकर वोला—"सुन रहा हूँ दादा !"

इसी क्षण मायावावू वोल उठे—"मौसिया, वात तो आपने ठीक ही कही। मगर चिट्ठी लिखने के मामले में मैं भी कम आलसी नहीं हूँ। आज लिख दूँगा। ख़ैर, आज नहीं लिख सका तो कल तो अवश्य ही लिख दूँगा, सोचते-सोचते सप्ताह-के-सप्ताह और कभी-कभी तो महीनों वीत जाते हैं। फिर एक वार याद दिमाग़ से जो उतरी, सो उतरी।"

अव शंकर को प्रस्तुत विपय का परिचय मिल गया। वह वोला—"आपकी वात दूसरी है, लेकिन मेरी तो हालत यह है कि दादा की तवियत का हाल मुझे नित्य नहीं तो दूसरे दिन तो मिलना ही चाहिए। हैं न दादा ? मैं विष्णु से कह तो आया हूँ कि दादा की तवियत का हाल मुझे नित्य देते रहना। अव देखना है कि मेरी वात का वह कहाँ तक ध्यान रखता है। वह अगर पत्र लिखने में आलस करेगा, तो फिर व्रह्मा को ही यह काम सौंप दूँगा। आप भी ज़रा ध्यान रखिएगा।"

"तू मेरी चिन्ता न कर, रे मुन्नी। वस पढ़ने की ओर ध्यान रख।

वैसे मैं कहता तो रहूँगा ही ।"

केदारबाबू जब बोले तो माया ने कह दिया—"रोज़ का पत्र लिखना तो कोई अर्थ नहीं रखता । मगर हाँ, आठ-दस दिन के बाद······ । लीजिए, आ गया स्टेशन । गाड़ी आने में तो अभी काफ़ी देर है ।"

शंकर सोच रहा था—'बस, यही ठीक रहेगा । मैं केवल मतलब-भर की बात करूँगा उससे । मगर यह मतलब की भी खूब रही । मतलब का पेट तो ऊँट का-सा होता है । प्यास लगी नहीं कि पानी उससे निकला नहीं ।'

इतने में ताँगा खड़ा हो गया और कुली पास आकर पूछने लगा—"कौन-सी गाड़ी से जाना है ?"

शंकर ने पतलून में हाथ डालते हुए उत्तर दिया—"जाना तो दिल्ली एक्सप्रेस से है, मगर तुम बेकार पूछते हो, यहाँ कोई सामान ही नहीं है । चलो दादा, टिकिट लें चलके ।"

माया बोला—"मैं लिये आता हूँ । आप चलिए ।"

केदारबाबू ने रोकते हुए कहा—"मगर रुपये तो लिये जाओ ।"

माया ठहर गया । केदारबाबू ने पाँच रुपये का एक नोट दे दिया और माया टिकिट लेने चला गया ।

इतने में एक मुस्लिम वृद्धा सामने आ गई । बोली—"अल्लाह तेरी खैर करे बेटा ।" और हाथ पसार दिया । केदारबाबू आगे बढ़ गये । शंकर ने जेब में हाथ डाला तो इकन्नी हाथ में पड़ गई । वही उसने उस वृद्धा को दे दी ।

केदारबाबू सीढ़ी चढ़ते हुए बोले—"मुन्नी, तेरा हाथ बहुत खुला हुआ है । फुटकर पैसे न थे, तो टाल जाता ।"

शंकर केदारबाबू की प्रकृति से परिचित था । इसलिए उत्तर तो उसने नहीं दिया । लेकिन मन-ही-मन यह अवश्य कहने लगा कि 'विभाजन ने हमारे मन में जो विष फैला दिया है, जान पड़ता है, दादा के मन पर उसका प्रभाव अब तक बना हुआ है । वे यह नहीं सोचना चाहते कि

यह समुदाय जितना तब असहाय था, उतना ही अब भी बना हुआ है। रह गई बात विभाजन के विषाक्त वातावरण के उत्तरदायित्व की। सो इन विषयों के साथ इस वर्ग का कोई सम्बन्ध न तब था और न अब है।'

पर पुल के ऊपर पहुँचते-पहुँचते शंकर से बिना बोले न रहा गया। वह बोल उठा—"दादा, हर समय और हर युग में यह समुदाय हमारी दया का भिखारी बना रहेगा। इसमें जाति और धर्म का भेद करना पीड़ित मानवता के प्रति बहुत बड़ा अन्याय होगा। और भी एक बात है दादा कि आज से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व हमारे देश में धर्म का नाम लेकर जो अनेक सम्प्रदाय बन गये थे, उनमें भी बड़ा वैर-विरोध था। इस भेद-भाव को दूर करने के लिए कबीर और तुलसी जैसे सन्तों की हमारे इस बहके हुए गुलाम देश को जैसी आवश्यकता तब थी, स्वाधीनता प्राप्त हो जाने के बाद, मुझे तो स्पष्ट जान पड़ता है, वैसे ही आवश्यकता आज भी अवश्य है। हमारे देश में चाहे जितने बड़े दंगे हुए हों, चाहे जितना रक्तपात और नर-संहार हो गया हो, लेकिन उसका मूल कारण जनता की पारस्परिक घृणा नहीं थी। यह तो हमारे विदेशी शासकों का ही एक राजनैतिक अस्त्र रहा है, जिसका कुफल हमारे देश ने भोगा है। इसलिए कम-से-कम मैं तो इस समुदाय के प्रति कभी इतना निर्दय नहीं बन सकता।"

केदारबाबू शंकर की यह बात सुनकर हँस पड़े। बोले—"यह सब ठीक है मुन्नी।" पर मेरे कहने का तो मतलब यह था कि जब तू यहाँ पढ़ने आया है तो तुझे खर्च करने के मामले में ज़रा सावधान होकर रहना पड़ेगा। कुछ दिनों के बाद विश्वविद्यालय में तेरे अनेक साथी हो जायेंगे, जिनमें ऐसे भी लोग होंगे, जिनका खरचा ही मुश्किल से चलेगा। ज़रूरत पड़ने पर वे तुझसे रुपया भी उधार ले सकते हैं। ऐसे समय तुझे इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि यह ज़माना कितना नाज़ुक आ गया है। ग़रीब लोगों की तो बात ही दूसरी है। वे अगर समय पर अपने वचन का निर्वाह न कर

सकें, तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन आजकल तो पैसेवाले लोग भी रकमें खा जाते हैं! और इस पर तुर्रा यह कि तक़ाज़ा करने पर बुरा मान जाते हैं। यहाँ तक कि वैर और विरोध तक के लिए तत्पर हो उठते हैं।"

अभी ये बातें हो ही रही थीं कि माया आ गया और केदारबाबू को टिकिट देते हुए उनसे पूछने लगा—"पानी तो न पीजिएगा मौसिया जी, ले आऊँ? बड़ी उमस है आज तो। जान पड़ता है कि इस साल पानी न बरसेगा।"

"पानी तो मैं घर से पीकर चला हूँ, माया।" केदारबाबू ने कह दिया।

सामने से एक आधुनिका जा रही थी। उसके केश गुम्फित थे। उसकी साड़ी बिस्कुटी रंग की थी और उसका ब्लाउज़ ग्रीवा के नीचे उसके परिपक्व-तारुण्य का परिचय दे रहा था। उसके नख और अधर कृत्रिम लालिमा से अलंकृत थे। उसके बायें कन्धे पर लेदर का एक पर्स लटक रहा था। उसके हाथ में एक मोटी पुस्तक थी, जिसकी मोटाई के उत्तर भाग पर सुनहरी पालिश थी। उसके चिबुक पर एक तिल था और उसकी आँखों पर एक डार्क चश्मा चढ़ा हुआ था। उसके एक हाथ पर रिस्ट-वाच थी, दूसरे में प्लास्टिक की एक मोटी चूड़ी, जिसमें सुनहरी मछलियाँ बनी हुई थीं। उसके सैण्डिल की एड़ियाँ साधारण से कुछ ऊँची थी, लेकिन रंग भी साड़ी से मिलता-जुलता था। उसके एक हाथ में लोहे की एक पतली जंजीर थी, जिसमें घने और श्वेत बालों का एक बहुत छोटा झबरा कुत्ता था। शंकर की दृष्टि जो उधर जा पड़ी तो वह बोल उठा—"मैं आपके लिए पान ले आऊँ दादा?"

माया बोला—"चलो हम भी चलते हैं।"

केदारबाबू बोल उठे—"पान अभी हमारे गिलौरीदान में है, लाकर क्या करोगे?"

तब शंकर माया से पूछ बैठा—"प्लेटफ़ार्म के टिकिट नहीं ले आये भैया?"

माया हक्का-वक्का रह गया। बोला—"हाँ, हो।"

अब शंकर यह कहकर चल दिया—"आप यहीं ठहरिए। मैं दौड़कर लिये आता हूँ।" और इतना कहकर आगे बढ़ गया।

प्लेटफ़ार्म के टिकिट लेकर जब शंकर वापस आने लगा, तो उसने देखा—आधुनिका सन्तरे खरीद रही है। तब शंकर वहीं जाकर खड़ा हो गया। वह अपने-आपसे पूछने लगा—'दादा यों तो यहाँ से दूर हैं, लेकिन किसी बहाने अगर माया भी इधर निकल आया, तो वह अपने मन में क्या कहेगा?'

यही सब सोचता हुआ शंकर बोल उठा—"क्या भाव दिये सन्तरे?"

सन्तरेवाले ने जवाब दिया—"जिस भाव से मेम साहब ने लिये हैं उसी भाव से आप भी लीजिए।"

"बतलाइए साहब, क्या भाव तय किया है आपने?"

आधुनिका ने अँग्रेजी में उत्तर दिया—"लर्न मैनर्स[1]।"

शंकर ने मुस्करा कर कह दिया—"थैंक यू। यू सीम टु बी ए गुड टीचर। आई विल ट्राई टू। वट माई आन्सर?"[2]

आधुनिका ने पहले तो कुछ नहीं कहा। फिर वह बुदबुदाती हुई-सी बोली—"ऐरोगेन्ट एट इन्ट्रेस्टिंग।"[3]

"ऐण्ड इन्टेरेस्ट प्रोवाइड्स जील एण्ड जेस्ट टु लाइफ़।"[4] शंकर ने आधुनिका का वाक्य पूरा कर दिया।

अब आधुनिका मुस्कराती हुई अपने वास्तविक स्वर में बोली—"आपका परिचय?"

इतने में उसका कुत्ता शंकर का पैर सूँघने लगा।

---

१. मैनर्स (शिष्टाचार) सीखिए। २. धन्यवाद है आपको (इस शिक्षा के लिए) जान पड़ता है, आप एक योग्य अध्यापिका हैं मैं भी प्रयत्न करूँगा (शिष्य बनने का!) किन्तु मेरे प्रश्न का उत्तर? ३. उद्धत होने पर भी मनोरंजक है। ४. और अनुराग जीवन में उत्साह और तीव्रता रुचि की संयोजना करता है।

शंकर ने निर्विकार मन से उत्तर दिया—"मेरा परिचय ऐसा कोई खास नहीं है। यहीं यूनिवर्सिटी में अध्ययन के लिए आया हूँ। अब कृपया भाव बतलाइए। मैं सन्तरे खरीदूँ और जाऊँ। अंकिल[1] मेरा इन्तजार कर रहे हैं। मैं उन्हें 'सी-ऑफ'[2] करने आया हूँ।"

इतने में सन्तरेवाला बोल उठा—"बाबू, गाड़ी अब आने ही वाली है। ले लीजिए, जो-कुछ लेना हो। बारह आने दर्जन दिये हैं।"

शंकर बोला—"पहले ही इतना कह दिया होता।" और मुस्कराते हुए उसने डलिया में से दो सन्तरे चुन लिये, जो उनमें सबसे बड़े थे। दुअन्नी देकर जब वह चलने लगा, तो बोला—"होप टु सी यू अगेन, चियर यू[3]।"

आधुनिका बोली—"सो आई[4]" और वह भी सन्तरे चुनने लगी। अभी वह सन्तरे उठा ही रही थी कि पीछे घूमकर एक बार जो देखा तो क्या देखती है कि यह विलक्षण युवक दोनों हाथों में सन्तरे उछालता हुआ चला जा रहा है!

जिस समय आधुनिका शंकर की ओर देख रही थी, उस समय कुत्ता कभी जाते हुए शंकर की ओर देखता और कभी अपनी स्वामिनी की ओर।

शंकर जब केदारबाबू के पास पहुँचा, तब गाड़ी बाहरी सिगनल पर आ चुकी थी।

---

१. चाचा। २. विदा। ३. आशा है, आपके दर्शन पुनः होंगे। मेरी यह कामना है कि आप सदा आनंदित रहें। ४. मैं भी आपकी शुभ कामना के लिए प्रार्थना करती हूँ।

: ८ :

कामतापंडित का शरीर तो सुडौल बना था, पर वे आकृति से स्वरूपवान् न थे। चेचक के चिह्न उनके मुखारविन्द पर कुछ अधिक स्पष्ट तो थे ही, संख्या में भी वे कम न थे। घर में दो भैंसे थे, जिनसे वे प्रेम से हल जोतते थे। एक गाय थी, जो अब भी सेर-डेढ़ सेर दूध दे रही थी। दो बकरियाँ थीं, जिनका रंग काला था। पर कामतापंडित को इस बात की सदा शिकायत बनी रहती कि आदमी होकर हमको पशुओं की खुशामद करनी पड़ती है। जिस दिन गैया दूध से बाल्टी भर देती, उस दिन तो उसको सानी करने और कूएँ का पानी पिलाने में उन्हें सुख मिलता, पर जिस दिन वह उटक जाती, उस दिन उसको चारा-दाना करने में उनका जी न लगता था। पर इस प्रसंग में सब से विलक्षण बात यह थी कि गैया हो या भैंसा, या फिर चाहे बकरी ही हो—इच्छा के प्रतिकूल खड़े होने, बैठने या बैठे रहने, इधर-उधर चल देने या बन्धन सहित भाग उठने पर इन पशुओं के साथ, ससुर तथा साले-साली का नाता स्थापित करके तदनुरूप गालियों की बौछार करने में उन्हें देर न लगती थी। ऐसा दिन न जाता, जब चारा डालते समय तुरन्त मुँह मार देने पर, भैंसों को बिटिया की गाली न देते, और बकरियाँ जब सायंकाल चरवाहे के यहाँ से लौटतीं, तो दरवाज़े पर आते-आते कभी इधर-उधर से डौल निकालकर छत पर चढ़ जातीं और कभी पास-पड़ोस के मकानों के अन्दर जाकर फैले हुए अनाज पर मुँह मार देतीं। कभी-कभी इसके लिए उन्हें उलहने भी मिलते। ऐसे अवसरों पर उनके साथ सास का नाता जोड़ने में उन्हें देर न लगती। वे घर के अन्दर उपस्थित

रहते या वाहर, उनके अस्तित्व का परिचय मुहल्लेवालों को वरावर मिलता रहता।

पर इस प्रसंग में जो सवसे अधिक महत्त्व की वात छूटी ही जा रही है, वह यह है कि इस गाली-गलौज और वातचीत का व्यवहार केवल पशुओं तक सीमित न रहता, जड़ पदार्थों के साथ भी वे वरावर इसी तरह पेश आते थे।

एक वार कहीं मिट्टी का घड़ा भूमि पर रखते समय उनकी इच्छा के प्रतिकूल लुढ़क गया। फिर क्या था, कामतापंडित ने उस घड़े का मुँह दोनों हाथों से पकड़कर उसे हिला-हिलाकर कहना शुरू किया—"वोल साले और लुढ़केगा ? और लुढ़केगा ? वोल ? अव वोलता क्यों नहीं ?"

घड़ा जव हिलता तव उसका पानी छलक पड़ता। इस तरह वार-वार हिलाने-झुलाने में कहीं घड़े का मुँह थोड़ा फूट गया। अव कामता-पंडित अपना क्रोध सँभाल न सके। घर में और भी जो दो-चार घड़े रखे हुए थे, कामतापंडित उनके पास जाकर उनसे भी वारम्वार यही प्रश्न करने लगे—"तू भी लुढ़केगा साले ? वोल, अव वोलता क्यों नहीं ? तो ले ! अव तू भी लुढ़क ले ! अगर तुझे कल लुढ़कना है, तो आज ही लुढ़क जा। लुढ़केगा ? अरे मैं पूछता हूँ लुढ़केगा कि नहीं ?"

इस प्रश्नावली का व्यावहारिक परिणाम यह हुआ कि दूसरा घड़ा भी फूट गया। जव दो घड़े इस प्रकार से फूट चुके, तव कामतापंडित ने वाकी दो घड़े भी चौपाल के नीचे छोड़कर फोड़ डाले। वोले—"मुझे लुढ़कनेवाली इस ढुलमुल जाति से ही चिढ़ है। वड़ी ग़नीमत हुई जो तुम साले मिट्टी के हुए। अगर कहीं हाड़-मांस के होते, तो मैं तुम्हारी हड्डी-पसली एक कर देता।'

लेकिन कामतापंडित की लड़ाई वड़ी विचित्र थी। सवेरे अगर किसी से कहा-सुनी हो जाती तो संध्या समय वे उसके दरवाजे ही दिखाई

पड़ते। न उनको लड़ते देर लगती थी, न मित्रता स्थापित करने में।

उस दिन गोकुलसुकुल कुएँ पर मिल गये तो कामतापंडित बोले—"सुकुल, आज उदास कैसे दिखलाई पड़ते हो?"

गोकुलसुकुल ने उत्तर दिया—"बस, बोलो मत दद्दा?"

कामतापंडित ने पूछा—"आखिर क्यों? हमने एक ज़रा-सी बात कह दी, सो भी सच्ची, तो बस, तुम उसका बुरा भी मान गये! ऐसी भी क्या बात है। अच्छा सुकुल जीजा, सच कहना—भाई-भाई में कभी टंटा नहीं होता? आदमी-औरत में लड़ाई नहीं होती? भाई और बहिन में कहा-सुनी नहीं होती! और होती है तो मिलना-जुलना और बातचीत करना कोई छोड़ देता है? एक मामले में लड़ाई हो गई तो क्या? इससे हमारा प्रेम थोड़े ही कम हो गया! हाँ, अच्छी याद आई। कल शाम को हम जो टिकुरइहा से निकले तो तुम्हारा गेहूँवाला खेत देखकर हमारी तबियत हरी हो गई। सुकुल जीजा अस्सी मन होगा गेहूँ, अस्सी मन; अस्सी मन से उन्यासी मन हो जाय तो हमारा नाम कामतापंडित नहीं।"

कामतापंडित की बात सुनकर गोकुलसुकुल का ज्वर उतर गया। बोले—"भाई कामता, होता तो सब भगवान् की कृपा से है, मगर हमने जुताई करने में भी कोई कोर-कसर नहीं रखी थी। देखो जो-कुछ हो जाय। लो, तम्बाकू तो खा लो। और इतना कहकर उन्होंने सिर में बँधा हुआ गमछा खोलकर चुटकी भरकर तम्बाकू कामतापंडित के हाथ पर धरते हुए कहा—"कल शाम को हमने देखा तो था तुमको घर जाते हुए। मगर फिर यही सोचकर हमने तुम्हें नहीं बुलाया कि कहीं तुम और कोई बात न सोचने लगो। वैसे सच कहना कामता भैया, यहाँ कोई और तो है नहीं। हम तुम्हीं से पूछते हैं, जमीन उनकी बेकार ही तो पड़ी रहती है। हम अगर एक-दो कोठरी बना ही लेते तो दादा का क्या बिगड़ जाता! और फिर अगर दादा कुछ कहते तो बात और थी। मगर

इस देवकी चुड़ैल को देखो। जा-बेजा कहने पर उतारू हो गई ! फिर भाई मुझको भी ताव आ गया।"

कामतापंडित अपनी बाल्टी भर चुके थे। गोकुलसुकुल का कलसा जो उठाने लगे तो गोकुलसुकुल बोले—"बस भैया, इतनी तकलीफ़ करने की ज़रूर नहीं।"

कामता ने हँसते-हँसते पूछा—"तो फिर नाराज़गी दूर हो गई !"

गोकुलसुकुल बोले—"कहाँ की नाराज़ी ? तुम भी क्या बात करते हो दद्दा ? बस, मुझे इतना ही कहना है कि ज़रा हमारा भी ख्याल रखा करो पंडित। ···आज शाम को घर रहोगे न ?"

कामतापंडित ने उत्सुकता के साथ पूछा—"क्यों ? कोई काम है ?"

गोकुलसुकुल हँसते हुए बोले—"काम तो खैर कुछ नहीं है। लेकिन आ जाना थोड़ी देर को।"

कामतापंडित कलसा और बाल्टी लेकर घर की ओर चल दिये और गोकुलसुकुल सोचने लगे—'पड़ोस की बात है। इनसे बैर-भाव रखकर काम कैसे चलेगा। लेकिन कामतापंडित ने खुद ही मेरी झिझक दूर कर दी। आदमी बड़ा लहरी है। एक मैं हूँ कि मन का मैल ही नहीं दूर होता। कामतापंडित से तो बोलचाल चालू हो गया, लेकिन देखो जमना-प्रसाद से कैसी निबटे।'

शाम को जब कामतापंडित गोकुलसुकुल के घर पहुँचे तो हीरा बड़े बना रही थी।

कामतापंडित ने बैठते ही कहा—"जीजा, आया तो बड़े मौके से हूँ।"

गोकुलसुकुल हँसने लगे। बात यह है कामता भैया कि रुपया तो हम जोड़ नहीं सकते, क्योंकि खाने-खरचने ही से नहीं उबर पाते। तो अब छटे-छमाहे पास बैठकर चना-चबेना भी न करें, तो जी को कैसे सन्तोष मिले ? तुम्हारी बहिन ने कहा कि आज बड़े बनाने की तबियत है, तो मैंने

कहा—ज़रूर वनने चाहिएँ। सो दद्दा वड़े वन रहे हैं।" और इतना कहते-कहते गोकुलसुकुल के मुँह से निकल गया—"अरे सुनती हो, कामता दद्दा आ गये। लाओ फिर दो कटोरों में। अरे हाँ, फिर ज़रा ज़ायका ही लिया जाय!"

हीरादेवी ने अभी कढ़ाई उतारी ही थी। वड़े जितने वनाने को थे अव तक सव वना चुकी थी। इसलिए वे अव तक गाढ़े मट्ठे में भीग कर गल भी चुके थे।

कामतापंडित ने पहला कौर तोड़कर खाते हुए कहा—"और तो सव ठीक ही है जीजा! मगर, खैर······फिर वतायेंगे। इस समय वड़ा मज़ा आ रहा है। वड़े वहुत अच्छे वनाये हैं विटिया ने।"

गोकुलसुकुल के मुँह से निकल गया—"लो, तुम तो मुझे सरमिंदा करने लगे! क्या अच्छे हैं? कोई खास अच्छे तो हैं नहीं।"

कामतापण्डित हँसते हुए वोले—"अगर खास अच्छे नहीं हैं तो इन दामों वुरे भी नहीं हैं जीजा। न सवेरे मैं अपने मन से वातचीत छेड़ता, न आज ये वड़े खाने को मिलते!"

गोकुलसुकुल वोले—"मुझे इस समय खान-पान में कुछ भी स्वाद नहीं आता। मकान के सिवा इस वक्त मुझे कुछ सुझाई नहीं पड़ता। इसलिए मूल विपय पर आ जाओ। हाँ, तो वोलो, इस मामले में अव क्या होना चाहिए?"

कामतापंडित ने मौका देखकर कह दिया—"मैं तो जीजा, अव चाहता हूँ कि मामला यहीं तय कर लिया जाय। दादा तक पहुँचने की ज़रूरत ही न पड़े।"

उत्सुकता के साथ गोकुलसुकुल वोले—"मगर मामला यहाँ तय कैसे होगा?"

"क्यों? तय होने में क्या लगता है। देवकी से माफ़ी माँग लो।"

"यह तुम क्या कह रहे हो कामता दद्दा! मैं, और देवकी से माफ़ी माँग लूँ! आग से कहते हो कि फूह से चिरौरी करो। समझ-सोचकर

वात किया करो पंडित।"

हीरा ने भीतर से जो स्वामी को इस तरह से वोलते सुना तो वह झट पास आकर खड़ी हो गई और वोली—"तुम देवकी से माफ़ी माँगने की वात कर रहे थे दद्दा! ऐसी वात उठाते हुए तुमको सरम भी नहीं आई!"

सामने गिलास पानी से भरा हुआ था और गोकुलसुकुल के पास अव तक ज्यों-का-त्यों धरा हुआ था। उसी को उठाती हुई हीरादेवी वोली—"यह गंगाजल उठाकर कसम खाती हूँ कि देवकी राँड को अगर इस घर से निकाल वाहर न किया तो मुझे हीरा नहीं काँच कहना! मुझे सव मालूम है कि इस मामले में कौन-कौन लोग उससे मिले हुए हैं। हमारे मुँह पर हमारी ऐसी कहते हैं पर उससे मिलते हैं तो उसी की सी वात करने लगते हैं। मैंने कल सव को देख लिया। मुझे तो कक्का की ही राय पसन्द है और मैं उन्हीं की राय मानूँगी। माफ़ी-आफ़ी का अगर किसी ने नाम भी लिया तो मुझे सहन न होगा। मैं साफ़ कहे देती हूँ।"

इतना कहकर हीरादेवी चली गई।

अव लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में आरती हो रही थी। शंख, घड़ियाल और झाँझ आदि वाजे वज रहे थे। कामता ने मन-ही-मन भगवान् को प्रणाम किया और ज्यों-त्यों करके वड़े समाप्त किये। इसके वाद पानी पीकर वे उठ वैठे और वोले—"अव तुम इन्हीं को खुश रखो सुकुल, तो चारों धाम का पुन्न एक-साथ मिल जायगा। मकान क्या चीज है!"

और इतना कहकर कामतापण्डित चल दिये।

गोकुलसुकुल ने वहुत कहा—"वैठो दद्दा वैठो, वात तो सुने जाओ।"

किन्तु कामतापंडित ने चलते-चलते भी यही उत्तर दिया—"मैंने सौ वात की एक वात कह दी सुकुल। मानो चाहे न मानो, तुम्हारी इच्छा।"

कामतापण्डित का इतना कहना था कि गोकुलसुकुल चुपचाप जाकर चारपाई पर लेट गये और वड़ी देर तक लेटे रहे।

: ६ :

केदारबाबू जब घर पहुँचे तो कैलाश ने आकर उनके पैर छूते हुए पूछा—"भेज आये दद्दा ? मुन्नी कुछ कहता तो नहीं था ?"

केदारबाबू बोले—"कहने की इसमें क्या बात है। अपना हित-अनहित वह अब अच्छी तरह समझने लगा है। झोले में जो सन्तरे पड़े हैं ले लेना। चलते समय मुन्नी ने रख दिये थे। और कोई नई बात तो नहीं है ? कोई असामी तो नहीं आया था रुपये देने के लिए ?"

इतने में विष्णु और ब्रह्मा ने आकर केदारबाबू के चरण छुए। कैलाशबाबू ने एक-एक सन्तरा दोनों को दे दिया। तब केदारबाबू बोल उठे—"तुम बूढ़े हो गये मगर तुमको शऊर न आया। मैंने सन्तरे तुम्हें इसलिए दिये थे कि तुम उन्हें लेकर मुन्नी की माँ को दे दोगे तो दो-दो-चार-चार फाँके घर-भर में सबको मिल जायँगी।"

लेकिन कैलाशबाबू ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे भीतर चले गये।

इसी क्षण ब्रह्मा अपना सन्तरा लेकर भाग खड़ा हुआ। विष्णु ने अपना सन्तरा केदारबाबू के पास रख दिया। वह बोला—"दादा, मैं ब्रह्मा को पकड़ लाऊँ ?"

केदारबाबू हँस पड़े। बोले—"नहीं बेटा, जब वह ले ही गया है तो ले जाने दो।"

इतने में विलायती अँगुली से खून टपकाता हुआ आ पहुँचा। लक्ष्मीकान्त उसके साथ था। तुरन्त केदारबाबू बोले—"क्या हुआ ? अँगुली कट गई, क्यों ?"

विलायती बोल न पाया था कि लक्ष्मीकान्त ने मुस्कराते हुए कह दिया—"तरकारी बनाने में चाकू घुस गई। चलो अभी पास के हास्पिटल में दासबाबू के यहाँ से टिंचर फेरी पर्कलोर का फाहा रखा दूँ।"

केदारबाबू बोले—"हाँ, हाँ, लक्ष्मी, तुम साथ चले जाओ बेटा।"

इसी समय कामना आकर बोल उठी—"दादा, अम्मा पूछ रही हैं, मुन्नी ने उनके यहाँ के बने हुए भोजन को देखकर कुछ कहा तो नहीं? उसकी तबियत का खाना बना था? रात में उसे पीने के लिए दूध मिला था? सन्ध्या के भोजन में कुछ मिठाई भी खाने के लिए उसे मिली थी?"

कुछ सोचते हुए केदारबाबू बोले—"जाओ अपनी अम्मा को यहाँ भेज दो।"

कामना चली गई, तब विष्णु बोला—"दादा, अब दद्दा कब आवेंगे?"

केदारबाबू बोले—"बेटा, अब तो वह दशहरा की छुट्टी से पहले नहीं आयेगा।"

विष्णु उठ खड़ा हुआ। बोला—"मगर दादा, जब से दद्दा चले गये हैं तब से यहाँ अच्छा नहीं लगता। जब मैं खाना खाने बैठता हूँ तब यही सोचने लगता हूँ कि दद्दा अगर होते तो घी में तला हुआ आलू का साग ज़रूर बनाया जाता। और दादा, मिठाई तो अब मुझको खाने को मिलती ही नहीं। रात को जब वह घूम-घामकर लौटते थे तो मेरे लिए गजक ज़रूर ले आते थे।"

इधर-उधर से घूमता हुआ, संतरा हाथ में लिये, ब्रह्मा आकर कहने लगा—"मैं जानता था, दद्दा मेरे लिए कोई-न-कोई चीज़ ज़रूर भेजेंगे।"

इतने में मुन्नी की माँ आकर किवाड़ की ओट में खड़ी हो गई। अब केदारबाबू बोले—"सुनो मुन्नी की माँ, जब कोई आदमी दूसरों के घर जाता है तो उसको वहाँ की व्यवस्था के सामने झुकना ही पड़ता है। खाने-पीने के सम्बन्ध में हमने यमुना को सब समझा दिया है। इसके अलावा मुन्नी से भी कह दिया है कि घी तुम अलग ले ही आये हो। सो खाते समय

कटोरी में निकालकर अपने आगे रख लिया करना। गयावावू को ऐसा रोग हो गया है, जिससे मिठाई कभी उनके घर नहीं आती। इससे मिठाई और दूध वह बाजार से अपनी इच्छानुसार खा-पी लिया करेगा। तुम इसके लिए किसी बात की चिन्ता न करो। फिर पढ़ाई स्वयं एक तपस्या है। मुन्नी वहाँ पढ़ने गया है—ऐश करने नहीं।"

केदारवावू की बात सुनकर शंकर की माँ बोली—"रात को सोते समय वह कभी-कभी स्वप्न में बर्राने लगता था। अब जो कभी वह बर्राने लगा तो वहाँ उसके पास आकर जगायेगा कौन ?"

इतना कहते-कहते मुन्नी की माँ की आँखें भर आईं। उसकी इस दशा को देखकर केदारबावू भी गम्भीर हो उठे और बोले—"कहती तो तुम ठीक ही हो मुन्नी की माँ। जो सुख उसको यहाँ थे, वे सब तो वहाँ अब उसको मिल नहीं सकते। लेकिन लाड़-प्यार के इस घेरे के अन्दर उसका भविष्य बन्द भी तो नहीं रखा जा सकता।" मुन्नी की माँ चुप हो गईं !

विष्णु बोल उठा—"दादा, अगर आप मुझे दद्दा के साथ भेज देते तो रात में जब वे बड़बड़ाने लगते, तो मैं तो उन्हें जगा ही दिया करता।"

विष्णु की इस बात पर जब केदारबावू हँस पड़े, तो ब्रह्मा बोल उठा—"पर मैं अगर उनके साथ होता, तो वे ऐसा अललटप्पू स्वप्न ही न देख पाते।" और इस कथन के साथ ब्रह्मा ने सन्तरे की बारह फाँकें अलग-अलग करके बाँटनी शुरू कीं, दो फाँकें उसने पहले कैलाशबावू को दीं। और उसके बाद वह इधर चला आया। फिर माँ, दादा, विष्णु, लक्ष्मी-कान्त और कामना को देने के बाद वह स्वयं उसे चूसता हुआ बोला—"सन्तरे तो बहुत बढ़िया हैं। मगर दादा, तुम तो खा ही नहीं रहे हो ?"

केदारबावू ने अपनी दोनों फाँकें ब्रह्मा को लौटा दीं, बोले—"यह भी ले जाओ।"

मुन्नी की माँ जब चलने लगी तो केदारबावू बोले—"तुम चिन्ता मत

करो मुन्नी की माँ। अब की शनिश्चर को रात की गाड़ी से दो-चार दिन के लिए तुम खुद भी हो आना। मैं संग चलूँगा।"

ब्रह्मा अपनी अँगुलियाँ चाटता हुआ बोला—"दद्दा, अब अपना सन्तरा भी बाँट दो। हमारा हिस्सा हमको अभी दे दो, फिर तुम सबको बाँटते रहना। नहीं तो वह जो दो फाँकें रखी हैं तब तक वही दे दो, फिर अपना शाम को बाँटना।"

इतने में कामना बोल उठी—"हाँ, हाँ, ठीक तो है। या तो दूसरा सन्तरा बाँटो या यही दे दो।"

विष्णु ने मुस्कराते हुए दोनों फाकें ब्रह्मा को लौटा दीं। तब कामना ब्रह्मा से बोली—"लाओ, अब एक इसमें से हमको दो। मैंने ही विष्णु दद्दा से दिलवाया है।" ब्रह्मा ने एक फाँक कामना को दे दी।

इसी समय कैलाशबाबू आ पहुँचे और बोले—"और तो सब ठीक ही हुआ दद्दा। मगर वह जो लड्डू यहाँ से मुन्नी के लिए गये हैं न, तुम सुन लेना बाद में कि उसमें से आधे भी मुन्नी को नहीं मिले।"

अब केदारबाबू गम्भीरता के साथ, वरन् कुछ उत्तेजना के स्वर में बोल उठे—"आखिर तुम लोगों का मतलब क्या है? जब मुन्नी जाने लगा था, तब तुम लोगों ने ऊधम मचाया था और अब जब मैं उसको वहाँ भेजकर लौट आया हूँ, तब तुम घुमा-फिराकर यही कहना चाहते हो कि मैंने ही उसे चौदह वर्ष के वनवास का दण्ड दिया है। अगर इस कौटुम्बिक जीवन में तुम—मुझमें और अपने में—इतना अन्तर समझते हो तो साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते कि मेरी यह इच्छा है?"

कैलाशबाबू तब कोई जवाब न देकर फिर चले गये।

कामना आकर बोली—"दादा, खाना तैयार है। भोजन के लिए चलिए।"

केदारबाबू बोले—"भोजन तो मैं क्या करूँगा। हाँ, दूध मुझे दे जा कम्मो।"

कामना लौट गई। पाँच मिनट के वाद जव वह गिलास में दूव लेकर आई, तभी मकान के अन्दर कोलाहल मच गया। कामना एकदम से चौंक पड़ी और गिलास का दूध थोड़ा छलक भी गया। व्रह्मा आकर वतला रहा था—"सुशीला दीदी आई हैं और साथ में जीजाजी के छोटे भाई रमेशवावू भी हैं।"

सुशीला के पति एक वैंक में काम करते थे। वे दस हज़ार के ग़वन के एक मामले में गिरफ़्तार हो गये और अन्त में उनको तीन वर्ष के सपरिश्रम कारागार-वास का दण्ड मिला। इन दस हज़ार रुपयों में से आठ हज़ार रुपये वरामद भी हो गये थे। मामला साल-भर तक चलता रहा। मुक़दमा लड़ने के सिलसिले में घर में जो-कुछ भी पूँजी थी, सव समाप्त हो गई। यहाँ तक कि सुशीला के गहने भी विक गये। सुरेशवावू ने इस मामले को दवाने की चेष्टा में शक्ति-भर कोई वात उठा नहीं रखी। यहाँ तक कि समाचार-पत्रों में भी इस तरह की कोई सूचना प्रकाशित न होने दी। ज़मानत होने में कोई विशेष झंझट भी नहीं हुआ। क्योंकि नगर में ऐसी कई पार्टियाँ थीं, जिनके साथ सुरेशवावू का वड़ा घनिष्ठ सम्वन्ध था। उनके वहुतेरे काम उनसे सहज ही निकल जाया करते थे। जव तारीख पड़ती, तव भी वे समय पर कचहरी पहुँच जाते। किन्तु वहुत खर्च करने पर भी जव उन्हें सफलता न मिली और वे अन्त में हार ही गये, तो इस समाचार को वे किसी प्रकार दवा न सके। घरवालों से भी उन्होंने इस मामले को पूरी तरह छिपा लिया। लेकिन अन्त में उनको जेल जाना ही पड़ा। ऐसी दशा में ससुराल में सुशीला का रहना जव सर्वथा दुष्कर हो उठा, तव अन्य उपाय न देख वह अपने देवर को लेकर यहाँ चली आई।

केदारवावू ने जव रमेशवावू के मुँह से यह सव वातें सुनीं तो वे स्तव्ध हो उठे। लेकिन उत्तर में उन्होंने कहा कुछ नहीं। अन्त में वे चारपाई से उठे और दरवाज़े पर आकर वोले—"अरी कम्मो!"

कामना चट से आकर बोली—"हाँ, दादा।"

"देख कम्मो, रमेश को खिला-पिला बेटी, और सुशीला को यहाँ भेज दे।" फिर कुछ सोचकर बोले—"तू जा, सुशीला के पास मैं खुद जा रहा हूँ।"

कामना चली गई और केदारबाबू भीतर जा पहुँचे, जहाँ सुशीला बैठी मुन्नी की माँ से अपनी दुःख-कथा कहती-कहती सिसकियाँ भर रही थी। दो-एक वाक्य कह पाती और फिर उसकी आँखें भर आतीं। ज्यों ही केदारबाबू उस कमरे के भीतर पहुँचे, त्यों ही सुशीला क्रन्दन करती हुई पिता के कन्धे से लिपट गई।

केदारबाबू साहसपूर्वक बोल उठे—"रो न बेटी, इस संसार में आकर कभी-न-कभी थोड़ा-बहुत दुःख सबको सहन करना पड़ता है। आदमी हर तरह के जोखिम सहता है। समय और परिस्थिति उनसे सब सहन करा लेती है। पर यह दशा सदा नहीं बनी रहती। तू चिन्ता न कर बेटी। मैं देखूंगा, अगर मुकद्दमे में कहीं जान होगी तो मैं हाईकोर्ट में अपील भी करूँगा।"

और इतना कहकर वह मुन्नी की माँ से बोले—"देखो मुन्नी की माँ, इसको समझा-बुझाकर कुछ थोड़ा खिलाओ-पिलाओ, फिर इसके और रमेश के लिए खाना बनवाओ, मगर उससे पहले जलपान करवा दो। उसको लेकर मैं अभी वकील साहब के यहाँ जाऊँगा।" इतना कहकर केदारबाबू अपने कमरे में फिर लौट आये।

लौटकर केदारबाबू चुपचाप अपने पलँग पर लेट गये। अब नाना प्रकार के विचार उनके मस्तिष्क में घन की-सी चोट कर रहे थे—'हूँ, तो यह सुरेश यह सोचता होगा कि दुनिया यों ही बन गई है! लोगों की आँखों में धूल झोंककर रक़म मार लेना बहुत मामूली बात है! पर इसको इतने रुपयों की जरूरत कैसे पड़ गई? क्या इसमें कोई चरित्र-दोष पैदा हो गया है?...हो भी सकता है! जैसी संगत वैसी रंगत। हो सकता

है इसका संग-साथ कुछ विगड़ गया हो ।'

लेटे-लेटे केदारवावू एकाएक उठ वैठे। इतने में विष्णु कहीं जाता हुआ दिखाई पड़ा तो वे तुरन्त वोल उठे—"अरे विष्णु, अन्दर जाकर देख तो सही, सुशीला क्या कर रही है और रमेश को जलपान भेजने में कितनी देर है ?"

और इस कथन के साथ वे पुनः सोचने लगे—'वकील साहव वैसे हैं तो वड़े तेज़, मगर देखना है कि मुकद्दमे में क्या करते हैं ? उसमें थोड़ी वहुत जान रह गई है या विल्कुल ही निकल गई है; हालांकि अपील की गुंजाइश होती तो सुरेश उससे चूक नहीं सकता था। पर यह भी तो हो सकता है कि मुकद्दमा और आगे लड़ने के लिए उसके पास रुपया न रह गया हो। संसार में ऐसे कितने व्यक्ति हैं जो साधनहीन हो जाने पर भी अपने हृदय के अन्दर साहस की ज्योति, दीपक की लौ की तरह, तीव्र वनाये रखते हैं।'

इतने में विष्णु ने आकर वतलाया—"दादा, जलपान अभी दो मिनट में आया जाता है।"

अव लक्ष्मीकान्त ने आकर कह दिया—"टिंचर फेरी पर्कलोर का फाहा रखते ही खून वन्द हो गया।"

केदारवावू के मुंह से निकल गया—"चलो ठीक हुआ। अच्छा देख विष्णु, सुशीला क्या कर रही है ? अगर वह किसी काम में न लगी हो तो उसको दो मिनट के लिए यहाँ भेज दे और कामना से कह दे कि उसके लिए जलपान यहीं दे जाय, वह यहाँ मेरे पास वैठकर चाय पियेगी।"

थोड़ी देर में सुशीला केदारवावू के कमरे में चली आई। उसके आते-आते केदारवावू ने लक्ष्य किया, उसके पैरों में केवल एक लड़ की पायल है। हाथों में वढ़िया चूड़ियों के स्थान पर साधारण चूड़ियाँ हैं। हाथ में जो घड़ी वह सदा वांधे रहा करती थी, वह भी अव ग़ायव है।

धोती भी कई दिन की पहनी हुई है। आँखों की पलकों पर कालिमा छा गई है। और शरीर संम्पदा भी पहले की अपेक्षा अब कुछ अवनति पर है।

सुशीला आकर दरवाजे पर खड़ी हो गई थी। केदारबाबू ने पूछा—"सवेरे कै बजे चली थी घर से?"

सुशीला ने उत्तर दिया—"हम लोग खाना-वाना खाकर एक बजे घर से चले होंगे बाबू।"

केदारबाबू ने पूछा—"भूख तुझे लग रही होगी, क्यों?"

प्रश्न सुनकर सुशीला की आँखें भर आईं। केदारबाबू ने कहा—"यह तूने बहुत अच्छा किया कि तू यहाँ चली आई। अच्छा, इतना तो तुझे मालूम होगा कि सुरेशबाबू ने अपील करने की कोशिश क्यों नहीं की? बैठ जा, बैठ जा बेटी।"

सुशीला एक ठंडी साँस लेकर बोली—"कोशिश तो बहुत की थी बाबू! मगर अपील मंजूर होगी या न होगी, कौन जाने, तारीख तो अभी तक पड़ी नहीं।"

केदारबाबू बोले—"हाँ, तो तेरे कहने का मतलब यह है कि अपील अभी हो सकती है?"

सुशीला एकदम चीत्कार कर उठी। केदारबाबू बोले—"रो मत बेटी, क्योंकि रोने से तो कुछ होता-जाता नहीं।" थोड़ी देर बाद सुशीला स्वयं ही अपना क्रन्दन रोककर आँसू पोंछती हुई बोली—"बाबू, मैं तुमसे क्या कहूँ। कोई एक दुःख हो तो कहूँ भी।"

केदारबाबू बोले—"मैं सब समझता हूँ बेटी। वही सब मैं अभी सोच रहा था। अच्छा, मैं उसको छुड़वा दूँगा। मुझे विश्वास हो गया है कि मैं उसे छुड़वा सकूँगा। लेकिन इसके बाद जैसा-जैसा मैं कहूँगा वह सब तुझे मानना पड़ेगा। मुझे अब इस आदमी की सूरत से घृणा हो गई है। मेरा बस चले तो ऐसे आदमी की सहायता करना दूर, उसे कठोर-से-

कठोर दण्ड दिलवाऊँ। पर दुःख इसी बात का है कि आखिरकार वह मेरा दामाद है!"

केदारबाबू की बात सुनकर सुशीला कुछ स्वस्थ हो उठी, पर बोली कुछ नहीं। इतने में विष्णु ने आकर कहा—"दादा, चाय तो आप पियेंगे न?"

केदारबाबू ने जवाब दिया—"अब इस वक्त चाय-वाय मैं कुछ न पिऊँगा। देख टाइम क्या हुआ?"

विष्णु बोला—"ग्यारह से ऊपर ही होगा दादा। दस बजे तो गाड़ी ही आती है। फिर भी मैं देख लेता हूँ।"

इतना कहकर वह भीतर भाग गया।

केदारबाबू बोले—"देख सुशीला, जो-जो बातें मैं पूछता जाऊँ वह सब बिना संकोच के ठीक-ही-ठीक बतला दे। समझती है कि नहीं? हाँ, तो मैं जानना यह चाहता हूँ कि बैंक से लौटकर, क्या सुरेश चाय-वाय पीने के बाद घण्टे-आध-घण्टे को घूमने भी जाया करता था?"

विष्णु ने लौटकर बतलाया—"ग्यारह बजने में पाँच मिनट बाक़ी है।"

सुशीला का सिर नीचा हो गया। वह बोली—"जाते थे बाबू, पर घण्टे-आध-घण्टे को क्यों, दस-ग्यारह बजे से पहले कभी लौटते न थे।"

केदारबाबू ने पूछा—'कभी-कभी ऐसा भी होता होगा कि और भी देर हो जाती होगी। फिर घर में खाना-आँना खाते होंगे? या खाते भी होंगे तो थोड़ा-बहुत सूंघ-साँघकर उठ जाते होंगे। क्यों?"

केदारबाबू का इतना कहना था कि सुशीला अपने को सँभाल न सकी और साड़ी से मुंह ढककर रोती हुई बोली—"तुम सब जानते हो बाबू, सब जानते हो।"

और इतना कहकर वह झट उठकर भीतर चली गई।

थोड़ी देर में जब रमेशबाबू लौटकर आये तो केदारबाबू बोल उठे—"मैंने सब बातें सुन और समझ ली हैं, रमेश। वकील साहब के यहाँ अब आज क्या जाना होगा, बहुत देर हो गई है न। अब तो कल ही चलना

हो सकेगा। आओ, बैठो, बैठो।"

रमेशबाबू चारपाई पर बैठ गये; परन्तु केदारबाबू कुछ सोचते हुए मकान के अन्दर जा पहुँचे।

विष्णु सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ छत पर जा रहा था। इसलिए ज्योंही उन्होंने कहा—"ब्रह्मा तो सो गया होगा। लेकिन विष्णु भी नहीं दिखाई पड़ रहा है।" त्यों ही ऊपर से आवाज़ आई—"दादा मैं यहाँ चारपाइयाँ ठीक करा रहा हूँ।" तब केदारबाबू आँगन में खड़े होकर बोल पड़े—"हाँ तो विष्णु, रमेश भी यहीं सोयेगा मेरे पास ही।"

जिस समय केदारबाबू ने यह बात कही उस समय कामना कढ़ाई से पूड़ी निकाल रही थी और मुन्नी की माँ एक दूसरी अँगीठी में साग छौंक रही थीं। कैलाशबाबू सो रहे थे और विलायती एक ढीले हो रहे पलँग की अदवाइन कस रहा था। बिल्ली कमरे के अन्दर चूहे की ताक में सधी बैठी थी और सड़क पर से फ़ायरब्रिगेड के घंटे की आवाज़ आ रही थी।

---

## : १० :

हीरा के तीन बच्चे हो चुके थे। पर उसकी गोद अब भी सूनी थी। बच्चे होने में देर न लगती थी, यहाँ तक कि कोई वर्ष खाली न जाता था। लेकिन कोई बच्चा दो-चार महीने से आगे न चढ़ता था। हीरा का शरीर इकहरा था। लेकिन उसके तारुण्य में जीवन का मद बोलता था। महावर वह दूसरे-चौथे लगाती ही रहती थी, इस कारण उसके पैर सदैव लाल ही बने रहते थे। केश-पाश स्नेह से सदा स्निग्ध रहता और वेणी तो कभी छूटने ही न पाती। वक्ष को वह कंचुकी से सदा कसे हुए रखती, इसलिए सहसा कोई यह जान न सकता था कि यह तीन बच्चों की माँ बन चुकी है। लेकिन गोकुलसुकुल चूंकि इसी गाँव के रहनेवाले थे और विवाह हो जाने के अनन्तर अपना पैतृक घर छोड़कर इसी मुहल्ले में आ बसे थे, इसलिए उनका कोई दबाव वह मानती न थी।

इसका एक कारण था। गोकुलसुकुल के साथ हीरा का जब विवाह हुआ था तब इनकी उमर तीस साल की हो गई थी और हीरा केवल पन्द्रह साल की थी। ज्यों-ज्यों वह गोकुलसुकुल के जीवन की गहराइयों में प्रवेश करती चली गई, त्यों-त्यों उसका दुराग्रह प्रगल्भ और प्रकृत हो गया। गोकुलसुकुल भी अपना प्रभाव धीरे-धीरे शिथिल करते चले गये और अब गोकुलसुकुल की मानसिक स्थिति यह थी कि आगे चलने की अपेक्षा उन्होंने पीछे चलना प्रारम्भ कर दिया था। मन्तव्यों और संकल्पों का सृजन वे स्वयं न कर पाते थे। इसके विपरीत अब उन्हें हीरा की मुद्राओं, भंगिमाओं, इच्छाओं और कामनाओं का संकेत और अनुरोध देखते हुए, उनका पालन और निर्वाह करने में ही, सदा तत्पर

रहना पड़ता था ।

गोकुलसुकुल के पास ज़मीन की कमी न थी। निर्वाह-भर के लिए वीस वीघा ज़मीन उनके अधिकार में थी, जिसका वे वड़े मनोयोग के साथ उपभोग करते थे । वे वड़े ही परिश्रमी और अव्यवसायी थे । उनके खेतों में उपज भी कम न होती थी। लेकिन उनकी गृहस्थी में एक वहुत वड़ा छिद्र था। वह यह कि हीरा ज़वान की चटोरी थी। कहते हैं जिन दिनों चीनी का व्यवसाय सर्वथा काले वाज़ार के हाथ में था, उन दिनों उनके मिट्टी के वरतनों में सेरों पेड़े और गुझियाँ रखी रहती थीं । हीरा दिन-भर में दस-पाँच वार इन मिठाइयों पर मुँह मार देती थी । गोकुलसुकुल जव उसे मिठाई खाते देखते तव भी कुछ कह न सकते थे। एक तो स्वयं उनको भी दिन में दो वार मिठाई जल-पान करने को मिल जाती थी, दूसरे कभी गुनगुनाती और कभी खिलखिलाती हुई हीरा जव गोकुलसुकुल के सामने से निकलती, तो उनका लोम-लोम स्पन्दित हो उठता था । इन दृश्यों और परिस्थितियों का ही यह परिणाम था कि गोकुलसुकुल की स्थिति अव उस दर्शक की सी हो गई थी जो चित्रकथा को देख-देखकर केवल हास-परिहास के माध्यम से मुग्ध और पुलकित होना जानता था, आलोचक वनना नहीं ।

प्रतिकूल और भिन्न आचरण मनुष्य के प्रकृत गुण हैं। प्रकृति स्वयं एकरसता और एकरूपता के विरुद्ध है। सदा दिन एक-से नहीं होते न सदा रातें ही एक-सी होती हैं। दिन में प्रकाश फूटता और फैलता है, रात में अँधेरा भी होता है और टिकता है; लेकिन न प्रत्येक प्रकाश एक-सा होता है न प्रत्येक अन्धकार । प्रत्येक प्रकाश और अन्धकार गगन-मण्डल की स्थिरता और अस्थिरता, सूर्य और चन्द्र की नाना अवस्थाओं के अनुरूप घटता, वढ़ता, सिकुड़ता और फैलता हुआ रहता है।

हीरा जव मिठाई खा लेती, तव तत्काल उसे खट्टा और चटपटा खाने की आवश्यकता पड़ जाती थी और जव वह कोई खट्टी चीज़ खाती तो

झट मिठाई खाये विना उसे चैन न मिलती। उस दिन जब वह सोने लगी तो उसने सोचा—'अब उस गुझिया को भी इस समय समाप्त कर दिया जाय।'

गोकुलसुकुल जब प्रीतम हलवाई के यहाँ पहुँचे थे तो एक सिपाही दूकान पर खड़ा गुझियाँ ही तुला रहा था। गोकुलसुकुल के कहा—"गुझियाँ हमको भी चाहिएँ आध सेर।"

प्रीतम ने तराजू की डण्डी उठाते हुए कहा—"जीजा, गुझियाँ तो विक गईं। आप पेड़ा ले जाइए, वह भी ताजा वना है।"

गोकुलसुकुल वोले—"पेड़ा तो हम रोज़ लेते हैं, गुझियाँ तुम रोज़ थोड़े ही वनाते हो! फिर मैं आध सेर ही माँग रहा हूँ।"

तव लाचार होकर प्रीतम ने उत्तर दिया—"आध सेर तो नहीं जीजा, पाव-भर लेते जाओ। क्यों ठाकुर साहव, ठीक है न? वात यह है कि इनका भी काम चलना चाहिए, हमारे रोज़ के गाहक हैं।"

और गुझियाँ थीं डेढ़-डेढ़ छटाँक की। केवल ढाई गोकुलसुकुल के पल्ले पड़ीं। आधी उनमें से हीरा ने स्वामी को दे दी थी और आधी उसने स्वयं तत्काल उड़ा डाली थी। अव केवल डेढ़ वच रही थी। पहले उसने तीन वार में थोड़ी-थोड़ी करके आधी खा ली। खाते-खाते वह मन-ही-मन कहने लगी—'प्रीतम गुझियाँ अच्छी वनाता है।' फिर जो एक वची थी उसका भी एक कोना तोड़ कर मुँह में रखते हुए सोचने लगी—अव इस वाकी गुझिया को सवेरे के लिए रख दूँ। परन्तु फिर तवियत न मानी। सोचा—कल की वात कल। इसको इसी समय समाप्त कर दूँ। पर जव वह गुझिया समाप्त कर चुकी तो उसका मुँह मिठाई से भर गया और उसने सोचा—'अव इस पर कटोरी-भर डढ़ा पी लेने से तवियत खुल जायगी।' और तव उसने वड़ेवाला कटोरी-भर गाढ़ा-गाढ़ा वह मट्ठा भी झट गले के नीचे उतार दिया।

सरदी के दिन थे, तिस पर उस डढ़ा के वाद हीरा ने पानी पी लिया था। परिणाम यह हुआ कि सवेरा होते-होते हीरा को जुकाम हो गया और

साथ ही ज्वर भी आ गया। दिन-भर हीरा लेटी-लेटी चारपाई पर करवट बदलती रही। गोकुलसुकुल ने कहा भी—"वैद्यजी को बुला लायें," तो हीरा बोली—"ऊँह, जुकाम ही तो हो गया है। आप-से-आप ठीक हो जायगा।"

शाम को उसने केवल बड़े ही खाये थे, इस कारण दिन-भर उसकी भूख जग नहीं पाई। स्वामी ने पूछा तो हीरा ने यही उत्तर दिया—"इच्छा नहीं है।" लेकिन जब शाम हुई तो गोकुलसुकुल ने कहा—उपवास करना ठीक नहीं, दूध तो पीना ही पड़ेगा।"

हीरा बहुत मना करती रही। लेकिन गोकुलसुकुल ने गिलास-भर दूध में खूब तबियत से चीनी घोलकर पत्नी के निकट ले जाकर कहा—"लो, चुपचाप पी जाओ।"

हीरा बोली—"तबियत नहीं है। दूध-ऊध मैं कुछ नहीं पिऊँगी।"

तब गोकुलसुकुल ने पत्नी के सिर पर अपना हाथ रखते हुए कहा—"बुखार तो अब उतार पर है। आदमी एक दिन लंघन से चार दिन के लिए कमजोर हो जाता है। फिर, तुम तो औरत जात हो, सो भी डेढ़ छटाँक की। जो कहीं जुकाम दो-चार दिन ले गया तो टट्टी जाने को भी तरसोगी! साधारण जुकाम हो या बुखार, कम-से-कम थोड़ा-बहुत दूध तो पी ही लेना चाहिए; बड़े-बड़े डाक्टरों की भी राय है। इसलिए दूध तो तुमको पीना ही पड़ेगा हीरा रानी! लो, पी तो लो झट से, तुम्हें हमारी क़सम!"

जिस समय गोकुलसुकुल ने दूध निकाला था, उस समय वह गरम तो नहीं पर कुनकुना अवश्य था। पर अब इस समय वह कुछ ठंडा पड़ गया था।

गोकुलसुकुल ने गिलास पत्नी के होंठों से लगा दिया। हीरा बेमन से उसे गले के नीचे उतारती चली गई।

पत्नी को दूध पिला देने के बाद गोकुलसुकुल बोले—"अब मैं जरा

गैया दुह लाऊँ, तब तक तुम यहीं लेटी रहो और लिहाफ़ ओढ़ लो। पसीना निकल आयेगा तो कुछ तबियत और भी हल्की हो जायगी।"

इतना कहकर गोकुलसुकुल तो गैया का दूध दुहने लगे। लेकिन हीरा ने बहुत मीठा दूध पी लिया था। उसका परिणाम यह हुआ कि उसके मुंह का ज़ायका कुछ अरुचिकारक हो गया। बड़ों का बचा हुआ बासी डढ़ा अब तक रखा हुआ था। हीरा ने आव देखा न ताव, कटोरी में उसी भँड़िया से सब-का-सब उंडेलकर आँख मूंदकर चढ़ा लिया। इसके बाद ऊपर से पानी पीकर वह चारपाई पर आकर पूर्ववत् लेट गई।

मनुष्य का सारा क्रियाकलाप जब शिथिल और शान्त पड़ जाता है, तभी प्रकृति प्रायः कुनमुनाकर करवट बदलती या आँख खोलती है।

अभी दस नहीं बजे थे। लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में शयन का घंटा बजे हुए देर नहीं हुई थी। अभी पुजारीजी ने झपकी भी नहीं लगा पाई थी, अभी श्रीरघुनन्दन मिश्र ने रामायण की कथा अपने भक्तों को सुनानी बन्द नहीं की थी। अभी चौबे जानकीदास, कामतापंडित, जमुनाप्रसाद और सोनेलाल की बैठक जमी हुई थी। छोटी अम्मा ज़रूर नींद के खुर्राटे भर रही थीं, लेकिन परमेश्वरीदयाल की बैठक का दीपक अब भी टिमटिमा रहा था। वे पचास हज़ार ईंट पकवाने का हिसाब बैठा रहे थे। लेकिन लागत में एक सौ निन्यानवे रुपये तीन पाई की कमी आ रही थी, जिसकी पूर्ति का उपाय सोचते-सोचते गद्दी पर ही उनकी टाँगें पसर गई थीं। गोकुलसुकुल पत्नी के पास एक कम्बल ओढ़े, चारपाई डाले दीवार से लगे बैठे थे। लालटेन थोड़ी दूर दीवार के खूँटे में टँगी हुई थी, जिसका प्रकाश उन्होंने जान-बूझकर मन्द कर रखा था। हीरा के सिरहाने की ओर जो खिड़की पड़ती थी उसका दरवाज़ा ज़रूर बन्द था, किन्तु दोनों किवड़ियों के बीच की सांस कुछ ज़्यादा मोटी थी और हवा की एक पतली और तेज़ धार को सनसनाये हुए भीतर चले आने में कोई बाधा न थी। धोबिन-टोला में कुत्ते भौंक रहे थे और देवकी की लाल बकरी आँख मूंदे

थूथुन चलाती हुई जुगाली कर रही थी। पद्मा सो गया था और देवकी स्वप्न देख रही थी—'लक्ष्मीकान्त का विवाह हो गया है। वहू घर में आ गई है। मेहमानों से घर भरा हुआ है।' देवकी के मन में आता है—'केवल वे नहीं हैं—वे, जिनकी यह सारी माया है। लक्ष्मी है, पद्मा है और मैं स्वयं हूँ। केवल वे नहीं हैं।' तव दरवाज़े से ही उनका स्वर अन्दर आ जाता है—

'बुआ ने पूछा—क्या कहा? कोई योगी आया है? अच्छा, तो मैं देखती हूँ। अरे देवकी, यहाँ आ वेटी। यह योगी वहुत पहुँचा हुआ जान पड़ता है। वहुत बुड्ढा है, वड़ा दुर्वल। देखो तो इसके पैर कांप रहे हैं देवकी!

'और इसके वाद ज्यों ही देवकी द्वार पर बुआ के पास जाती है, त्यों ही वह देखती क्या है कि योगी ने चियड़ों का लवादा उतारकर नीचे रख दिया। वढ़ी हुई दाढ़ी उतारकर उसके ऊपर घर दी और तीन लकड़ियों वाले कैमरा-स्टैण्ड को एक स्थान पर जमाकर और साथ ही एक काले लवादे से कैमरा के साथ-साथ अपने सिर को कमर तक ढककर वे कह रहे हैं—देखो, लक्ष्मी और वहू, सिर्फ़ इन्हीं दो को सामने खड़ा रहने दो और सव लोग हट जाओ। सवका फोटो फिर ग्रुप में ले लेंगे। इस समय नहीं। हाँ, विल्कुल स्थिर रहना, हिलना-डुलना नहीं। एक, दो और ये तीन। वस हो गया।'

देवकी एकाएक उठ वैठी। उसका हृदय अव भी धक-धक कर रहा था। वात-की-वात में आंखों की वरौनियां गीली हो उठीं और उसके मुंह से निकल गया—"पद्मा!"

लेकिन पद्मकान्त वोलना तो दूर, हिला तक नहीं। वह सो रहा था।

तव देवकी ने मन-ही-मन कह लिया—'सोओ, सोओ, वेटा। मनुष्य के मन की इच्छाओं का अन्त नहीं। जीवन-भर के लिए विछुड़ जाने पर भी वे अव तक मेरे स्वप्नों का संसार वसाने चले आते हैं!'

देवकी के स्वामी मध्यप्रदेश के छिन्दवाड़ा ज़िले के एक छोटे-से ग्राम में शिक्षक थे। ड्राइंग में उन्होंने विशेष योग्यता का प्रमाण-पत्र पाया था। फोटोग्राफ़ी का उन्हें शौक था। अपनी पचास रुपये की साधारण-सी नौकरी में भी किसी तरह थोड़े रुपये बचाकर उन्होंने एक कैमरा खरीदा था। वह कैमरा अब तक ज्यों-का-त्यों देवकी के पास रखा है।

इतने में गोकुल के मकान में हीरा एकाएक कराह उठी। गोकुल-सुकुल को झपकी लग गई थी। वे उठकर बैठ गये और उनका दाहिना हाथ हीरा के उस भाल पर जा पड़ा, जिसके सिन्दूर की मोटी रेखा सदा दमकती रहती थी। तत्काल उनके मुँह से निकल गया—"अरे, तुमको तो ज्वर और अधिक चढ़ आया!"

हीरा की आँखें बन्द थीं। उसने कराहने के स्वर में कहा—"हाँ!"

पाँच मिनट, पन्द्रह मिनट, एक घंटा। समय की गति, काल के पहिए, पहिए के काँटे, कभी स्थिर नहीं रहते। आदमी स्थिर हो जाता है। चेतन मानव जड़ बन जाता है। लेकिन काल के पग कहाँ स्थिर रह पाते हैं! समय सदा आगे बढ़ता है।

हीरा के कराहने के स्वर पहले मन्द रहे, फिर तीव्र पड़ गये। मुहल्ले-भर में एक कोहराम मच गया—हीरा बीमार हो गई है! वह बेहोश पड़ी है!

"सवेरे तो मामूली बुखार था," यह स्वर जमुनाप्रसाद चच्चा का है।

"सवेरे तो जुकाम ही सुना था," अरे, यह छोटी अम्मा कह रही हैं!

"हीरा की पसली में दर्द है," ये सोनेलाल मालूम पड़ते हैं।

"एक हाथ-पैर क्या, सारी देह जल रही है उसकी,"—यह दद्दा बोल रहे हैं।

"अरे जीजी, तुम नहीं जानतीं, उसको सन्निपात है। तुमने सुना नहीं, क्या बक रही थी, पालकी लाओ; पालकी। मैं बैलगाड़ी में नहीं जाऊँगी।"—यह तो बड़ी अम्मा बोल रही हैं शायद।

—होगा, मुझको क्या ? कोई मुझसे तो पूछने आता नहीं। तब मैं क्यों बेकार परेशान होऊँ !

—इस हीरा ने ही यहाँ मकान बनवाने की आवाज उठाई, इसी ने मेरा अपमान करवाया। वह मर भी जाय तो मैं उसके दरवाजे न झाँकूँ। मगर···?

"देवकी बिटिया के पास इसकी बड़ी अच्छी दवा है।"

'अरे ! यह तो भाभी—कामता दद्दा की स्त्री—बोल रही हैं। जान पड़ता है, वे सुकुल जीजा के घर जा रही हैं।'

देवकी ने करवट बदल ली।

अब ये कुत्ते ठकुरन-टोला से बोल रहे हैं। गाँव में जहाँ कहीं भी कुत्ते होते हैं, रात-बिरात अपने-अपने स्थान से सब एक-साथ बोल उठते हैं। बहुत हुआ तो दस-पाँच गज आगे बढ़ गये और कुछ सोचकर फिर लौट आये।

देवकी सोचने लगी—'मैं जाऊँ भी, तो मेरे जाने का क्या महत्त्व है ? कल उन्होंने मेरा अपमान किया, आज पूँछ डुलाती हुई मैं उनके दरवाजे जा खड़ी होऊँ; मान न मान मैं तेरा मेहमान। मुझे कहीं नहीं जाना है।'

पर देवकी को ऐसा जान पड़ता है, जैसे उसके ऊपर किसी का हाथ है। एक स्वर है जो नित्य उसके कानों में गूंजता है; एक वाणी है जो उसके अन्तःकरण से उभरती है। स्वर किसी वृद्ध वशिष्ठ का है—देवपुरुष का—गुरु-गम्भीर और दृढ़। वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती, सुनी अनसुनी नहीं कर सकती। उसे ऐसा जान पड़ता है, जैसे बार-बार उसके कानों में कोई कह जाता है—'देवकी तुम्हें जाना ही पड़ेगा, और जैसे वह गुरु-गम्भीर स्वर उसके कानों में ही नहीं, सारे मकान में गूंज उठता है।

—देवकी तुम सो नहीं सकतीं। तुमको नींद नहीं आयेगी।

और देवकी ने फिर करवट बदल ली। उसे ऐसा जान पड़ा, जैसे

कोई उससे कह रहा हो—'दुनिया में कौन आदमी बुरा नहीं है, एक-न-एक बुराई सब में है। संत कबीर मिथ्या नहीं कह गये हैं :

बुरा जो देखन मैं चल्या, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजूं आपना, मुझसा बुरा न कोय॥

इस वाणी में सत्य की हुंकार है। यह एक महान् विचारक, तपस्वी की सच्ची साधना का स्वर है। जीवन का अमृत गाढ़ा-गाढ़ा, मीठा-मीठा घुला हुआ है इसमें।'

देवकी फिर चौंक उठी।

'अरे, यह कौन है जो मेरे भीतर से बार-बार बोल उठता है—देवकी तुम्हें जाना होगा!

'धीरे-धीरे यह विश्व बुराइयों का मेला बन गया है, मेला! केवल इसलिए कि एक बुराई के बदले में आदमी दस बुराइयाँ करता है। यह सोच-सोचकर वह खुशी मनाता है कि यह मेरी जीत है। वह यह कभी नहीं सोचता कि यह मेरी सबसे बड़ी हार है। विजेता वह है जो बुराई का बदला भलाई से देता है; "जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।" बापू ने अपनी जान दे दी, पर सत्य का मार्ग नहीं छोड़ा। क्या वे नहीं जानते थे कि सत्य का पथ काँटों का पथ है? वे जीवन-भर काँटों के पथ पर चलते रहे, जबकि सारी दुनिया राजपथ पर चला करती थी।

'देवकी? देवकी? तुम सुन नहीं रही हो?' और देवकी ने स्पष्ट सुना, हीरा कराह रही है। तभी उसे याद आ गई—'कामता दद्दा ने बतलाया था कि हीरा कहती थी—जिस दिन यह राँड गाँव से सदा के लिए चली जायगी, बस उसी दिन मेरी छाती ठण्डी होगी। ऐसी दशा में भला मैं उसके घर जाऊँगी?

'पर अगर आज रात में ही उसकी छाती ठण्डी हो गई तो?'

छोटी अम्मा दामाद के घर पहुँचते ही बोल उठीं—"हाय, बड़ा दर्द है। देखो तो हीरा का मुँह कैसा सूख गया है! मगर सुकुल, तुम भी तो

जानते हो कि देवकी विटिया के पास इस मर्ज की वहुत अच्छी दवा है।"

एक छोटी अम्मा ही नहीं, कामतापण्डित, जमुनाप्रसाद; भाभी (कामताप्रसाद पण्डित की स्त्री) किसी-न-किसी ढंग से यह कह चुकी थीं कि देवकी विटिया के पास पसली के दर्द की वड़ी अच्छी दवा है।

अतएव गोकुलसुकुल वोल उठे—"अम्मा, दुनिया में हर चीज की दवा है। नहीं है तो सिर्फ़ एक पाप की। तुम्हें नहीं मालूम, मैंने एक पाप किया है। पाप न किया होता तो क्या देवकी विटिया यहाँ व आती ? इसकी वातों में आकर मैंने उसको जा-वेजा क्या नहीं कहा !" और इतना कहते-कहते गोकुलसुकुल फूट-फूटकर रो पड़े।

छोटी अम्मा वोलीं—"तुम रोओ मत वेटा। हीरा अच्छी हो जायगी।"

तव गोकुलसुकुल ने अपने आँसू पोंछ डाले। स्थिर और शांत होकर कुछ कहने को उद्यत तो हुए पर उनका कण्ठ भर आया। तव उन्होंने कह दिया—"अव मैं अपना काम निकालने के लिए उसी के पास गिड़गिड़ाऊँ ? इससे तो कहीं अच्छा होगा कि चुपचाप गंगाजी में जाकर डूव मरूँ।"

इतने में हीरा कराहती हुई वोली—"हाय अम्मा।"

कराहने का यह स्वर फिर देवकी के कानों में जा पहुँचा। अव वह लेटी न रह सकी। एक गुरु-गम्भीर स्वर फिर उसके भीतर से हुंकार कर उठा—'देवकी, मैंने तुमसे पहले ही कहा कि तुम आज सो न सकोगी। तुम्हें आज हीरा को देखने जाना ही पड़ेगा।'

तव देवकी उठी और उसने लालटेन जलाई, दवा खोजी, शीशी लेकर उसने पद्मकान्त को जगाया और कहा—"किवाड़ वन्द कर ले वेटा।"

पद्मकान्त न उठा, तव उसने वाहर ताला वन्द कर दिया !

सरदी के दिन—रात का समय। अपने लाल को अकेला छोड़कर देवकी जव हीरा को दवा देने जा रही थी तव भी हीरा के कहे हुए ये शव्द उसके कानों में गूंज रहे थे—'मैं इसे निकाल वाहर न करूँ, तो मेरा नाम हीरा नहीं।'

## : ११ :

यमुना जव माया के साथ शंकर को भोजन कराने वैठी तो उसके हाथ में पंखा था। शंकर वोला—"मौसी, तुम तकलीफ़ न करो।"

मीरा चौके के अन्दर थी और सास की उपस्थिति में वह मुँह भी न खोल सकती थी।

यमुना ने उत्तर दिया—"वेटा सामने वैठ कर वच्चों को खिलाने में मुझे कभी तकलीफ़ नहीं होती।"

माया ने कह दिया—"आज दाल में कुछ नमक ज़्यादा मालूम पड़ता है।"

कुछ मुस्कराते-मुस्कराते शंकर ने उत्तर दिया—"ज़्यादा तो ऐसा कुछ नहीं है, हमारे हिसाव से तो विल्कुल ठीक है। अलवत्ता यह अमचूर का खपटा मुझे अच्छा नहीं लगता; क्योंकि एक नमक दूसरे नमक को काटता है।"

मीरा जव इस वात पर अपनी हँसी न रोक सकी, तो उठकर चल दी। माया उसे घूरकर रह गया। लेकिन फिर वह शंकर पर भ्रूक्षेप डालता हुआ वोला—"क्या मतलव ?"

शंकर ने उत्तर दिया—"जीवन में और सव प्रकार की चीज़ें तो सप्लाई कर दी जाती हैं; पर वुद्धि ही एक वस्तु है जिसकी सप्लाई नहीं होती।"

यमुना वोल उठी—"विना अमचूर के दाल में स्वाद नहीं आता।"

माया चुपचाप सुनता रहा। उसे यह प्रसंग अच्छा नहीं लग रहा था। लेकिन वह कुछ कह न सकता था; क्योंकि इसका प्रारम्भ उसी ने किया था। कुछ यह वात भी थी कि वह शिष्ट व्यंग्य करना दूर, तत्काल समझ भी न पाता था।

शंकर बोल उठा—"इस समय मुझे दादा की बहुत याद आ रही है। खाना खाते समय वे भोजन के विषय में टीका-टिप्पणी पसन्द नहीं करते।"

यमुना हंस पड़ी। बोली—"उनकी बात ही और है। ऐसे आदमी अब दुनिया में बहुत कम रह गये हैं।"

शंकर को मौसी की यह बात बहुत अच्छी लगी और उसके मुंह से निकल गया—"मौसी, यह बात नहीं कि मैं ही इस समय उनकी याद कर रहा हूँ। वे स्वयं भी, पलंग पर करवटें बदलते हुए, मेरे सम्बन्ध में सोच रहे होंगे।"

इतने में मायाबाबू की गृहिणी मीरा ने दो कटोरों में गरम-गरम दूध लाकर सामने रख दिया।

शंकर बोला—"मौसी, यह दूध तो मैं सोते समय लेता हूँ।"

यमुना बोली—"तो अब कल से ऐसा ही होगा बेटा। लेकिन आज तो लेना ही पड़ेगा।"

शंकर के मुंह से निकल गया—"अच्छी बात है। जैसी तुम्हारी इच्छा।"

वह भोजन करता हुआ साथ में यह भी सोच रहा था कि इस समय *मिठाई के बिना भोजन अधूरा मालूम पड़ रहा है। जिसका भोजन* अधूरा रहता है उसके सपने भी अधूरे छूट जाते हैं। तब साहस करके उसने कह दिया—"मौसी, आज जो मैं स्टेशन से लौटते समय वह मिठाई ले आया हूँ, उसमें से थोड़ी-सी इस समय...।"

यमुना उठकर अन्दर चली गई। थोड़ी देर बाद मीरा ने आकर दो जगह थोड़ी-थोड़ी नुक्ती दोनों के सामने रख दी। पति के सामने शंकर से बात करने में उसे कुछ थोड़ा संकोच हो रहा था। फिर भी उसने इतना कह ही दिया—"जान पड़ता है, मिठाई तुम्हें बहुत पसन्द है लाला।"

शंकर ने सिर नहीं उठाया। यह भी नहीं देखा कि मुस्कराती हुई जो रमणी यह बात कह रही है उसकी मुखश्री कैसी है। किन्तु उसे इतना अवश्य प्रतीत हुआ इस स्वर में मधुर हार्दिकता है।

मिठाई सामने रखती हुई मीरा पास पड़े हुए पंखे को हाथ में लेकर बैठ गई और शंकर के ऊपर पंखा झलने के सिलसिले में स्वामी की ओर हाथ बढ़ाती हुई कहने लगी—"हमारा बनाया हुआ खाना भला तुमको क्या अच्छा लगता होगा !"

शंकर बोल उठा—"जिस खाने के साथ हार्दिकता की मिठास मिली होती है, वह चाहे जैसा बना हो, मुझे पसन्द आता है।"

मीरा ने ऊपर का होंठ कुछ दबाते हुए उत्तर दिया—"हमारे सामने बहुत बनो नहीं लालाजी। खाना अच्छा बना होता तो अलग मिठाई मँगाने की ज़रूरत न पड़ी होती। मिठास हार्दिकता की हो, या खाने में स्वाद की, जब किसी तरह मिली ही नहीं, तभी तो इस नुक्ती की याद आई लालाजी को !"

शंकर को अपनी इस नई भाभी की बात बहुत प्यारी लगी। अतएव प्रसन्नता से पुलकित होकर उसने मायाबाबू से कह दिया—"सुनते हो भाई साहब, भाभी क्या कह रही हैं ?"

माया को इस तरह की बातों से कोई दिलचस्पी न थी। वह सदा वेतन, उसकी बचत, सेविंग-बैंक का हिसाब और उसकी वृद्धि के स्वप्न देखता रहता था। अतः एकाएक चौंकते हुए उसने उत्तर दिया—"एँ ! क्या कहा ?"

और आश्चर्य के साथ उसका इतना कहना था कि शंकर और मीरा दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े। तब इसी समय वीणा पास आकर बोल उठी—"भाभी, अपनी इस हँसी में से थोड़ी-सी मुझको भी उधार दे दो।"

मीरा इसका उत्तर देने जा रही थी कि भीतर से यमुना पुकारने लगी—"दुलहिन दौड़ना, बिल्ली दुधाँड़ी के पास आ रही है !"

मीरा अन्दर चली गई, परन्तु जब वह जाने लगी, तब पंखा उसने वीणा के हाथ में दे दिया। वीणा ने पंखा डुलाना जो प्रारम्भ कर दिया तो शंकर ने एक बार उसकी ओर कुछ ऐसी दृष्टि से देखा कि पंखा वहीं

छोड़कर वीणा उठ खड़ी हुई और बोली—"अन्दर की यह खिड़की अगर खोल दी जाय, तो कैसा हो ?" और फिर कथन के साथ उसने उसे खोल भी दिया।

थोड़ी देर में शंकर खाना खाकर उठने लगा तो एकाएक बोल उठा—"अन्दर की खिड़की खोले बिना जैसे मुक्त पवन नहीं मिलता•••।" तभी बात काटती हुई वीणा बोली—"हाँ वैसे ही ?"

तब शंकर उसे देखता भर रह गया, कुछ बोला नहीं।

रात को जब वह चारपाई पर पड़ा तो सबसे पहले उसे अपनी माँ का स्मरण आया•••'सम्भव है, उनकी आँख फड़क रही हो।' फिर पिता की मूर्त्ति जैसे सामने आकर खड़ी हो गई और वह सोचने लगा—'वह कभी मुझसे बात तो करते नहीं, मुझे भी उनकी बात पसन्द नहीं आती, लेकिन इतना मैं जानता हूँ कि वह मुझे चाहते बहुत हैं। उनका वश चलता, तो वे मुझे आने थोड़े ही देते।' फिर उसे दादा का स्मरण हो आया: 'यह उसके हृदय का अत्यन्त सरस सौर दुर्बल कोना था। वह इस समय उनके पैर दाबा करता था। इस कार्यक्रम में जब वह उनकी अँगुलियाँ चटकाने लगता, तो उनका पुलकित भाव छिपा न रहता था।' उसे याद आ गई वह रात, जब वह एक बार अपने मामा के यहाँ गया था। दूसरे दिन लौटकर जो घर पहुँचा, तो दादा बोले—'आ गये मुन्नी, मुझे रात नींद नहीं आई। खुश रहो, खुश रहो।'

मैंने पूछा—'क्यों दादा, नींद क्यों नहीं आई !'

दादा बोले—'यह फिर बतायेंगे। पहले तू चाय-वाय पी आ।'

उस रात को जब मैं उनके पैर दाबने लगा तो मैंने फिर उनसे यही प्रश्न किया—'हाँ दादा ! अब बतलाओ, कल रात नींद क्यों नहीं आई ?'

दादा पहले कुछ नहीं बोले, मैं भी चुप बना रहा। थोड़ी देर बाद वे अपने-आप बोल उठे—'मुन्नी, सब बातें कहने की नहीं होतीं। और

कुछ तो ऐसी होती हैं कि कहने से उनका महत्त्व कम हो जाता है। अब जैसे तू यह कहने लगे कि दादा, मैं तुम्हारा बहुत आदर करता हूँ; या मैं कहूँ कि मैं ही तुझे बहुत चाहता हूँ। इसमें हम दोनों की क्या बड़ाई है? क्या रस है? क्या यह बात कहने की है?'

फ़िर मैंने इस विषय में उनसे कोई प्रश्न नहीं किया। मैं समझ गया उन्हें रात को बार-बार मेरी याद आती रही होगी।

इसके बाद उसके मन पर कुछ चित्र उतरने लगे: केसों की एक लट बंकिम होती हुई कान के नीचे लटक रही है। श्वेत परिधान में संयत यौवन-श्री मूक रहती-रहती कभी-कभी पग-चालन में बोल ही उठती है। फिर याद आया, मैंने जब कहा—'मिठाई तुम्हें भी खिलाऊँगा?' तो उसने मुस्कराते हुए उत्तर दिया था—'वह तो मेरा अधिकार है, उसको मैं छोड़ थोड़े ही सकती हूँ?' और इसी बात को दुहराते हुए उसने माँ से भी कहा था—'आपकी मिठाई मैं कभी छोड़ नहीं सकती।' फिर उसे स्मरण आया वीणा का वह प्रश्न—'अन्दर की खिड़की खोले बिना जैसे मुक्त पवन नहीं मिलता...' मेरे इस कथन के बाद—'हाँ वैसे ही?' यद्यपि मैंने इस पर कुछ कहा नहीं। लेकिन मैं कहना चाहता तो कह सकता था—वैसे ही मन की बिजली के 'निगेटिव' और 'पाज़िटिव' तार भी नहीं मिल पाते। इसलिए अन्दर की खिड़की तो खोलनी ही पड़ती है।

—और इन्हीं विचारों के साथ उसने करवट बदल ली।

प्रातःकाल सूर्य्योदय से कोई आध घंटे पूर्व उठकर शंकर ने पहले मन-ही-मन कहा—'ओः, यहाँ तो ताला बन्द है। अब?' फिर वह प्रकटरूप में बोला—"मौसिया जी, ओ मौसिया, मौसी?'

यमुना एकाएक घबराकर उठ बैठी। बोली—"क्या है मुन्नी?"

शंकर बोला—"मैं इस वक्त ज़रा घूमने जाता हूँ रोज़। लेकिन यहाँ दरवाज़े पर ताला मालूम नहीं कौन बन्द कर गया।"

यमुना बोली—"अरे ताला! हाँ, माया ने बन्द किया होगा। अच्छा

ठहरो। हाँ, यह लो ताली।"

शंकर ने ताली ले ली और दरवाज़ा खोलकर वह बाहर चला गया।

दो घण्टे बाद वह जब लौटकर आया तो मायाबाबू चम्मच से हलुआ खा रहे थे।

शंकर को खड़ा देखकर मायाबाबू बोले—"बैठो मुन्नी। अरी रन्नो!" फिर और जोर से बोले—"रन्नो!!" और फिर उन्होंने चाय के प्याले की चुस्की जो ली तो बोल उठे—"चीनी इसमें है ही नहीं।"

मीरा ने और चीनी डाल दी।

फिर मीरा हलुआ लिये हुए सामने आ खड़ी हुई।

"अरे! यह हलुआ। अच्छा खैर, आज हलुआ ही सही। वैसे मैं इस समय चाय के साथ मिठाईवाली कोई चीज़ पसन्द नहीं करता। दालमोठ, सेव, पकौड़ी आदि कोई चीज़ ठीक रहती है। मीठी चाय पर मीठा हलुआ!"

इतने में माया बोल उठा—"और क्या?"

शंकर ने जवाब दिया—"और साथ में भाभी की मीठी मुस्कराहट!"

मीरा हँस पड़ी। बोली—"मुस्कराहट की मिठास से पेट तो कभी भरेगा नहीं लालाजी। झूठ-मूठ मन को भले ही धोखा दे लो।"

इस कथन के बाद मीरा अपने पति की ओर देखती अन्दर चल दी। और माया शंकर की ओर उन्मुख हो उठा।

शंकर ने लक्ष्य किया—कथन के साथ भाभी माया का मुँह देख रही थीं।

इतने में वीणा एक प्लेट में गरम-गरम पकौड़ियाँ ले आई और बोली—"थोड़ा धीरज रखा करो शंकर भैया!...मैं अभी सब सुन रही थी।"

माया ने पकौड़ियों पर हाथ साफ़ करते हुए फिर जो चाय की चुस्की ली, तो बोल उठा—"चाय में चीनी क्या डालती हो, एकदम चाशनी बना देती हो।"

शंकर तो संकुचित हो उठा था, पर मीरा बोल उठी—"अपने-अपने अधिकार की बात है। मैं अगर कोई आश्वासन भी दूँ तो उसका क्या मूल्य होगा ! इसीलिए मैंने न धैर्य बँधाने की कोई बात कही और न मैं नमकीन डिश ही ले आई।"

तब शंकर ने माया को लक्ष्य कर कह दिया—"चाय की मिठास के साथ मन की मिठास का जो एक सजातीय सम्बन्ध होता है, उसको भी आज की दुनिया सहन नहीं कर पाती !"

मायाबाबू अब तक चुप थे। अब वे उठकर दूसरे कमरे में चले गये।

वीणा बोल उठी—"पता नहीं भाभी, यह आश्वासन हमारा है या तुम्हारा। क्योंकि पकौड़ी तो तुम्हींने अपने मन से बनाई थीं। हलुआ अलबत्ता मैंने बना लिया था, जिसके सम्बन्ध में शंकर भैया की राय तुम अभी सुन ही चुकी हो। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मेरे नाते की बात भूलकर तुम अपनी ही भावना प्रकट कर रही हो।"

दूसरे दिन शंकर के पास जब चाय आई तो उसके साथ एक नमकीन चीज़ भी थी। लेकिन आज उसका स्थान बदला हुआ था। क्योंकि अब वह अपने खपरैलवाले कमरे में चला गया था। और भी एक नई बात हुई थी। और वह यह कि उस दिन चाय देने के लिए वीणा आई थी, मीरा नहीं।

फलतः चाय पीते क्षण शंकर कुछ आत्मलीन हो गया। वीणा थोड़ी देर रुकी भी, पर शंकर उससे एक शब्द भी न बोल सका।

---

## : १२ :

हीरा अच्छी तो हो गई, लेकिन केवल शरीर से। मन उसका अब भी रुग्ण बना हुआ था। पास-पड़ोस ही नहीं, सारा गाँव इस बात से परिचित था कि देवकी की दी हुई दवा ने ही हीरा को अच्छा किया है। किन्तु हीरा यह बात स्वीकार न करती थी। जब-तब कोई-न-कोई कहता ही रहता—पसली के दर्द की दवा तो बस देवकी के पास है। अगर वह अपने मन से ऐन वक्त पर न आ जाती तो हीरा का बचना कठिन था।

हीरा को देवकी की इस प्रशंसा से ही नहीं, कृतज्ञता की भावना से भी शत्रुता थी। एक दिन जब जमुनाप्रसाद की पत्नी ने यही बात कही, तो हीरा तत्काल बोल उठी—"नहीं चाचा, यह तुम्हारी भूल है। सच पूछो तो छोटी अम्मा ने ही बचाया। जब-जब मेरी आँख खुली है, तब-तब मैंने उन्हीं को सामने पाया है। वही मेरी पसलियों के ऊपर दवा मलती रही हैं। सेंकाई भी उन्हींने की है। दर्द बन्द हो जाने पर जब मुझे नींद आ गई है, तब खूब सो लेने पर घण्टों बाद जब मेरी आँख खुली है, तब भी मैंने उन्हीं को चरपैया की पाटी से लगा पाया है। उस समय उनको भी शायद झपकी लग गई थी। अगर वे रात-भर की जगी न होतीं तो भला ऐसा कभी हो सकता था! दुनिया में सुख के दिनों के लिए ही लोग भले होते हैं, दुःख के दिनों में कोई पास भी नहीं फटकता। जिनकी प्रशंसा के तुम पुल बाँध रही हो, मैंने तो उनकी कभी सूरत भी नहीं देखी। आई होंगी, यह कहलाने-भर को कि देवकी बड़ी भली लड़की है। लेकिन मैं जानती हूँ, उसकी हमारे साथ कैसी हमदर्दी है। ऐसा ही होता, तो अच्छा हो जाने पर कभी उसकी शक्ल न दिखाई पड़ती! और जो कभी वह आ ही जाती,

तो क्या मैं उसको घर से निकाल देती ! क्या मैं इतना भी न कहती कि तुम्हारी सव की दया से ही मैं फिर उठ खड़ी हुई । अच्छा चाची, तुम्हीं सोचो, दुनिया में कौन ऐसा आदमी है, जो अपनी वड़ाई की वात न सुनना चाहे ?"

सुमित्रा को ठकुरसोहाती पसन्द न थी । न अपनी, न अपने पिता की। इसलिए उन्होंने हीरा के मुंह पर ही साफ़-साफ़ कह दिया—"तुम्हारी आदत तो हो गई खराव, हीरा । अपनी वात रखने के लिए तुम दुनिया-भर को झूठा वना सकती हो ! अपनी जिद्द रखने के लिए तुम सुकुलजी की मूंछ नीची करवा सकती हो ! तुम सव कर सकती हो जालपा ! तुमसे सव हो सकता है—छोटी अम्मा ने दवा दी थी । छोटी अम्मा तुम्हारी पाटी से लगी रहती थीं । सिकाई की थी तो छोटी अम्मा ने। एक छोटी अम्मा तो मुहल्ले में थीं, जो तुमको देखने आई थीं और तुम्हारे पास वैठी रही थीं ! और सव लोग तुम्हारे दुश्मन थे ! वे तुमको देखने थोड़े आये थे ! और लोगों ने पचासों वार कह-कहकर देवकी को वुलवाने की कोशिश नहीं की थी ? और तव सुकुल ने रो-रोकर साफ़-ही-साफ़ यह नहीं कहा था ?—'इसी के चक्कर में आकर हमने देवकी को जा-वेजा कहा है और अपना मतलव निकालने के लिए अगर अव मैं उसके पास जाता हूँ तो मेरी नाक कट जायगी ! इससे तो अच्छा है कि गंगा में जाकर डूव मरूँ ! तुम समझती हो—ये वातें देवकी के कान में नहीं पड़ी होंगी ! पड़ी नहीं तो वह अपने मन से तुमको दवा देने के लिए इतनी रात में तुम्हारे घर आई कैसे ? जवकि उसका वच्चा घर में विल्कुल अकेला था । तुम्हारे घर में—तुम्हारी गोद में—अगर कोई वच्चा होता तो तुम इस दर्द को समझतीं । तभी तुम्हें मालूम होता कि ऐसे समय जो वह तुम्हारे घर आई, उसकी क्या क़ीमत है !"

मुहल्ले में सव लोग जानते थे कि हीरा कैसी मुंहफट है । वह किसी का मान करना तो जानती ही नहीं । जिस वात में उसका गौरव कम

होता है वह वात चाहे जितनी सत्य हो, लेकिन हीरा उसे कभी स्वीकार न करेगी। इसलिए पड़ोस की सभी स्त्रियाँ उसकी हर वात पर 'हाँ-हाँ' करती रहती थीं। इसका प्रभाव हीरा पर यह पड़ा था कि वह शेर हो गई थी। वह समझती थी कि चाची भी उसकी हाँ में हाँ मिलायेंगी। लेकिन सुमित्रा उन लोगों में न थी। वे व्याह हो जाने के वाद अपने मामा के घर सिर्फ़ इसलिए नहीं गई थीं कि कहीं उनकी माईं ने कह डाला था—"अगर मेरे यहाँ न्योते में न आईं तो अपना ही सौ-दो-सौ का नुक्सान कर लेगी।"

सुमित्रा को माईं की यह वात पसन्द न आई थी। उनका कहना यह था कि जव मैं न आती तव वे चाहे जो-कुछ कहतीं। लेकिन आने से पहले ऐसी वात कहना तो मेरे सामने चारा फेंकना है, मुझे ललचाना है। इसका तो मतलव यह हुआ कि वे जीवन-भर नाते-रिश्ते के लोगों से यह कहती रहेंगी कि सुमित्रा की विदाई में मेरे दो-ढाई सौ रुपये खर्च हो गये थे। इसलिए अव तो मैं इस न्यौते में जाने से रही। और इसका परिणाम यह हुआ कि वे अपने मामा के यहाँ निमन्त्रित होने पर भी नहीं गईं।

यह वात हीरा को मालूम थी। लेकिन वह यह नहीं जानती थी कि चाची समझाने के तौर पर कोई वात कहने के वदले मेरी वात के विरोध में मुझे इस वुरी तरह से डाँट वताने की हिम्मत करेंगी। साहस में वड़ा वल होता है। वह दुर्वल आदमी के छक्के छुड़ा देता है। साहस ही वह शक्ति है, वह वृत्ति है, जो मानवात्मा को गौरवान्वित कर देती है। साहसी व्यक्ति ही सदा विजयी होते और अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने ढंग से राज्य किया करते हैं। जैसे पराजय का स्पष्ट आधार है भीरुता, वैसे ही साहस का स्पष्ट आधार है वीरता।

हीरा के साहस में कमी न थी। वात-की-वात में वह अपने विरोधी का अपमान कर वैठती थी। अभी उस दिन उसने कामतापण्डित का कोई लिहाज़ नहीं किया था। लेकिन आज सुमित्रा की इस वातचीत से

उसके मर्म-स्थान को वड़ी चोट पहुँची। इसका कारण था—साहस। साहस बुरे आदमी का भी सहायक होता है, असत्य का भी होता है, पाप का भी होता है। लेकिन इन सवका वह सगा नहीं होता, सौतेला होता है। सगा होता है वह सत्य, त्याग और भलाई का; उस वीरता का, जिसका जन्म कलुप-पाप और मानवी दुर्वलताओं के नाश के लिए होता है। तात्पर्य यह कि हीरा का साहस वास्तव में साहस नहीं, दुस्साहस था। वह सुमित्रा के साहस की अपेक्षा दुर्वल, हीन और तुच्छ था।

अस्तु, हीरा रो पड़ी।

हीरा और सव सहन कर सकती थी, पर यह वात उसके लिए असह्य हो उठी कि 'अगर तुम्हारी गोदी में वच्चा होता तो तुम्हारे मुँह से ऐसी वात न निकलती। तव तुमको अनुभव होता कि ऐसे समय देवकी के आने का क्या महत्त्व है।' इसका मतलव तो यह हुआ कि जव तक उसकी गोद में कोई वच्चा नहीं होता, तव तक वह इस उपकार का महत्त्व समझ सकने में सर्वथा अक्षम और अयोग्य रहेगी, जो देवकी ने उसके लिए उस दिन—उस रात—किया था।

आज तक किसी ने हीरा से इस तरह की वात नहीं कही थी। यह चोट मामूली न थी। यह तो एक तरह से हीरा के नारीत्व पर समूचा आघात था, आक्षेप था।

अव हीरा की समझ में आ गया कि सचमुच, यह उसमें एक वहुत वड़ी कमी है। ऐसी कमी कि वह मस्तक ऊँचा करके कहीं कोई वड़ी वात कह ही नहीं सकती। यह उसके नारीत्व का सवसे वड़ा अपमान है।

और दुराग्रही व्यक्ति में सवसे वड़ा गुण यह होता है कि वह अपना अपमान कभी सहन नहीं करता।

रोते-रोते हीरा वोली—"आज अगर मेरी गोद में कोई वच्चा होता तो तुम यह वात मुझसे कभी कह नहीं सकती थीं चाची।"

सुमित्रा वोली—"मैं तुमसे अगर यह वात न कह सकती, तो हीरा

बिटिया, तुम भी उस रात देवकी के आने की कीमत जरूर समझती और तव तुम यह घूर-लपेटी भी न करतीं। जिसके स्वभाव की शोभा आज दुनिया में चाँदनी की तरह छिटकी हुई है उसके ऊपर धूल डालकर तुम यह कहना चाहती हो—वदली है, अँधेरा है! शर्म करो हीरा, शर्म करो! मेरी कोख में अगर ऐसी दुष्ट लड़की जन्म लेती, तो मैं उसका मुँह देखना पसन्द न करती। व्याह कर देने के वाद फिर कभी उसको अपने घर न वुलाती।"

हीरा अव सिसकियाँ भर-भरकर रो पड़ी! तव सुमित्रा थोड़ी देर के लिए चुप हो गई।

आँसू मन का मैल निकालने में वड़े कुशल और हृदय की ज्वाला शान्त करने में वड़े प्रवीण होते हैं। आँसू जव तक आँखों से नहीं निकलते तव तक मन के भीतर कर्दम भरा रहता है: कीचड़, जिसमें दुर्गन्ध वसी रहती है, छिपा पड़ा रहता है। एक आँसू ही ऐसी वस्तु है जो कलुप के इस ढेर को झट से निकाल वाहर फेंक देता है। आँसू मनुष्य-स्वभाव की एक वहुत वड़ी शक्ति है, मनुष्यता की पहचान है वह। यही वह कसौटी है जिस पर कसकर हमें इस वात का परिचय मिलता है कि यह आदमी कहीं से धेला-पैसा-भर सोना भी है, या निरा मुलम्मा ही!

लेकिन आँसू दूसरी ओर मनुष्य की वहुत वड़ी दुर्वलता है; वह उसकी प्रत्यक्ष हार है। ऊपर से मनुष्य चाहे जो-कुछ करता रहे, लेकिन यदि वह रो देता है, विशेपरूप से उस समय, जव उस पर अपराध का आरोप किया जाता है तो उसका रो देना ही उस अपराव की स्वीकारोक्ति है।

रोती-रोती हीरा वोली—"अव तुम मुझे चाहे जो-कुछ कह लो चाची। ईश्वर ने ही जव मुझे ऐसा वना दिया है, तव कोई चाहे जो-कुछ कहे, मुझे सुनना ही पड़ेगा।"

सुमित्रा वोली—"मेरे कहने का वुरा न मानना, हीरा विटिया! मैंने जो-कुछ कहा, तुम्हारा हित ही सोचकर कहा। इसलिए नहीं कहा कि

तुम बुरा मान जाओ। देवकी ने कभी किसी का बुरा नहीं चाहा। तुम्हें पता है कितनी छोटी उमर से वह अपना रँडापा खे रही है! आदमी हो या औरत, जब तक बराबर दुःख सहता रहता है तब तक ठीक रास्ते पर ही चलता जाता है। जो अपने मन से और तन से सच्चा और सोने की तरह तपा हुआ रहता है, उसका जी दुखाने से भगवान् भी दुख मानते हैं बिटिया। और उसी देवकी को तुम बुरा-भला कहती हो—ऐसा हमने सुना है। ज़रा सोचो, यह कितनी बुरी बात है!"

हीरा उठकर खड़ी हो गई। उसने आँसू पोंछ डाले। फिर वह बोली—"तुम जैसा कहोगी चाची, मैं वैसा ही करूंगी। आज से कभी मैं उसके खिलाफ़ कोई बात नहीं कहूँगी। अच्छा, अब मैं जाती हूँ।"

तब सुमित्रा सुपारी कतरती हुई बोल उठी—"हाँ, तुमको देवकी से अब मेल कर लेना चाहिए। इसी में तुम्हारी भलाई है।"

जिस समय हीरा सुमित्रा से यह बात कर रही थी उसी समय परमेश्वरीदयाल ने गोकुलसुकुल के मकान के अन्दर प्रवेश करते हुए कहा—"अरे सुकुल, ओ सुकुल, क्या हो रहा है?"

गोकुलसुकुल गीले भूसे में चूनी मिलाते हुए बोले—"कक्का, अभी आया।"

परमेश्वरी ने पूछा—"बिटिया कहाँ गई!"

गोकुलसुकुल ने उत्तर दिया—"अभी तो यहीं थी। देखो शायद जमुना के घर हो।"

इतने में हीरा आ गई।

परमेश्वरीदयाल ने पूछा—"अब तो तबियत ठीक है, बिटिया?"

हीरा ने उत्तर दिया—"हाँ, अब तो बिल्कुल ठीक है कक्का; देवकी जिज्जी ने मुझे जिला लिया।"

परमेश्वरीदयाल ने जब हीरा के मुख से देवकी की प्रशंसा सुनी तो वे एकाएक हँस पड़े। और उनकी यह हँसी एक बड़ा अर्थ रखती थी।

---

## : १३ :

आकाश में तोतों के वृन्द-के-वृन्द पश्चिम की ओर उड़े चले जा रहे थे। पवन स्थिर था। कमरा फुटपाथ के ऊपर था। अतः दाईं ओर के राजपथ पर साइकिल की घंटी सुनाई पड़ रही थी। कमरे के अन्दर इस समय कुछ उमस-सी जान पड़ती थी। पर उत्तर की ओर से कोयल का स्वर तीन-चार बार लगातार आ चुका था। मकान की छत पर उत्तर के कोने में एक नया कमरा बन रहा था। उस पर पड़े हुए ईंट और पत्थर के टुकड़े कूटे जा रहे थे और उसके धमाके का परिणाम यह होता था कि पढ़ते-पढ़ते एकाएक शंकर का ध्यान भंग हो जाता था।

शंकर ने चाहा कि वह उठकर गयाबाबू के पास जाय और उनसे यह कहे कि इन दशाओं में तो मेरा यहाँ रहना सम्भव नहीं दिखलाई पड़ता, लेकिन उसको यहाँ आये अभी एक मास भी पूरा नहीं हुआ और इतनी छोटी-छोटी बातों पर इतनी जल्दी यदि वह यहाँ से चला जाना चाहेगा तो ये लोग क्या कहेंगे। यद्यपि शंकर का मत धीरे-धीरे कुछ ऐसा बन गया था कि हमको अपना उद्देश्य पूरा करने में प्रयत्नशील रहते समय यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि दुनिया क्या कहेगी। क्योंकि जब तक कोई आदमी अपने जीवन में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो जाता, तब तक, यहाँ तक कि सफलता दिलाने वाली सीढ़ी से एक सीढ़ी पूर्व तक दुनिया बराबर और विधिवत् उसका उपहास ही करती रहती है।

पर इधर एक-से-एक घटना, नित्य और क्रम से, होती जा रही थी। कल वह श्री विनोबाभावे का भाषण सुनने गया था। उसके बाद उसे रास्ते में मिल गया निष्कामेश्वर। फटा पायजामा, दुर्बल शरीर, लेकिन

आँखें बड़ी-बड़ी और बढ़ी हुई दाढ़ी, धुलने योग्य रेशमी शेरवानी। शंकर का सबसे अधिक सदय, किन्तु अपने सम्बन्ध में असावधान साथी, एकदम बुझा हुआ। कभी-कभी साथ रहने पर भी घंटों न बोलता। कभी-कभी बहुत आग्रह करने पर भी चाय-जलपान में साथ न देता।

एक दिन कुछ ऐसा हुआ कि शंकर ने बहुत कहा—"कुछ खाने को मँगायें?" तो वह फीकी हँसी हँस पड़ा। बोला—"मैं आजकल भूख को खा रहा हूँ।"

उसकी इस विचित्र बात को सुनकर शंकर को कुछ कौतूहल हुआ और उसके मुख से निकल गया—"क्या मतलब?"

निष्कामेश्वर ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"मतलब कोई खास नहीं; केवल उतना, जितना उससे निकले। खैर, गोली मारो मतलब को। पहले तुम मेरी एक कविता सुन लो, जो मैंने उस गिलहरी की मृत्यु पर लिखी है, जो कल मुझे सड़क पर सदा के लिए सोई हुई पड़ी मिली थी।

शंकर को भाव-प्रवण लोगों से डर लगता है। लेकिन वह निष्कामेश्वर के प्रस्ताव की उपेक्षा न कर सका। उसने उससे तीन बार वही कविता सुनी। उसे ऐसा जान पड़ता था कि इस फटे-हाल फक्कड़ सुलतान डेढ़ पसली के युवक के अन्दर कहीं एक देवता छिपा हुआ है। कभी-कभी बैठे बातें करते-करते वह पेन्सिल चलाता जाता है और आध घंटे के अन्दर एक कलापूर्ण चित्र बनाकर सामने उपस्थित कर देता है।

निष्काम से बात करने में कल शंकर को कुछ देर हो गई थी। घर जो लौटा तो सब लोग सो गये थे। बड़ी देर तक वह माया को पुकारता रहा।

एकाएक मीरा की आँख खुल गई और उसने कह दिया—"अरे सुनते नहीं हो, लाला बुला रहे हैं।"

माया ने धीरे से उत्तर दिया—"बुला रहे हैं तो क्या करें! कौन उनके लिए इतनी रात तक जगता रहे? कौन उठकर किवाड़ खोले?

यह सब गुलामी मुझसे न होगी।"

मीरा को स्वामी का यह उत्तर पसन्द नहीं आया। उसे प्रतीत हुआ, जैसे वह एक सर्वथा असभ्य और जड़ व्यक्ति है। उसके भावुक मन को कुछ ठेस-सी लगी और तत्काल उसने उत्तर दिया—"यह तुम क्या कह रहे हो और किसके लिए कह रहे हो? लाला क्या यहाँ हमेशा रहने के लिये आये हैं?"

जिस समय दोनों में ये बातें हो रही थीं, उसी समय शंकर ने एक बार इतने जोर से किवाड़ भड़भड़ा दिये कि वीणा चौंक पड़ी।

शंकर ने फिर जोर से पुकारा—"माया भैया? ओ माया भैया?"

मायाबाबू ने अब भी कोई उत्तर नहीं दिया। लेकिन वीणा की आँख खुल गई। उसके मन में आया, वह झट उठकर चली जाय और किवाड़ खोल दे, उधर मीरा बोल उठी—"तुम अगर नहीं जाते तो अब मुझको जाना पड़ेगा।

माया ने उत्तर दिया—"जाकर देख लो! अगर कौड़ी का तीन न बना दूँ, तो मेरा नाम माया नहीं!"

मीरा के मन में आया कि वह तत्काल कह दे—'सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मैं हिन्दू नारी हूँ। नहीं तो तुम्हारी यही बात तुमसे सदा के लिए नमस्कार कर लेने को यथेष्ट थी!' उसने यह जवाब तो स्वामी को नहीं दिया, किन्तु पलंग से उतरकर सास के पास जाकर उसे जगा अवश्य दिया।

इतने में एकाएक सदर दरवाजे के किवाड़ खुल पड़े और यमुना के मुँह से निकल गया—"शंकर?"

"हाँ मौसी।"

"किवाड़ किसने खोले?"

शंकर इस प्रश्न में छिपा हुआ हेतु समझ गया।

तब तक वीणा ने उत्तर दे दिया—"मैं खोलने चली आई अम्मा।"

कुछ असंगति का-सा भाव प्रकट करती हुई यमुना वोली—"मैं आ तो रही थी !"

उसके इस उत्तर पर वीणा और शंकर ने एक-साथ अनुभव किया—यह स्वर स्वाभाविक नहीं है। इसमें कुछ ऐसी शंका का भाव है जो वीणा के लिए अपमानजनक है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि रात के इस सघन अन्धकार में, इतनी सीढ़ियाँ नीचे उतरकर, उसका शंकर के लिए किवाड़ खोलने जाना, सम्भव है, किसी पूर्वनिश्चित मंत्रणा का फल हो।

मीरा लौटकर पुनः पलँग पर पूर्ववत् लेट रही। 'माया कुछ नहीं वोला। पर मीरा सोचती रही, वीणा ने सचमुच वड़े साहस का काम किया, जो वास्तव में उसे करना चाहिए था। फिर उसके मन में आया कि मैंने स्वामी की धमकी में आकर अपनी आत्मा के समस्त गौरव को कुचल डाला है। लेकिन फिर उसने यह भी अनुभव किया कि मैंने स्वामी के मान की भी रक्षा की और अपने कर्तव्य-पालन की भी। लेकिन वह वारम्वार यही सोचती रही कि वीणा ने सचमुच वीरता का ही परिचय दिया है।

वीणा को देर तक नींद नहीं आई। एक वार उसके मन में आया कि शंकर भैया ने कहा था—'अन्दर की खिड़की खोले विना जैसे मुक्त पवन नहीं मिलता...; पर मैंने तो ऐसी अँधेरी रात में उनके लिए मकान का मुख्य द्वार ही खोल दिया ! हा हा हा !'

वह उल्लास जो स्वस्थ मानस को वल देता है, वीणा के लोम-लोम में सिहरन उत्पन्न करने लगा।

यमुना ने उस समय शंकर से कुछ नहीं कहा। साथ जाकर उसने उसके लिए खाना परोस दिया। फिर पंखा लेकर वह उसके पास वैठती हुई वोली—"कहाँ इतनी देर कर दी मुन्नी ! मुझे झपकी अभी लगी ही थी। अगर वह मुझे न जगाती, तो मैं कैसे उठती !"

शंकर सोचने लगा—'दिन में दो वार खाना खा लेने और फिर पचा-

कर उसे एक-आध बार गिरा डालने मात्र की नाना गतियों में जिनका जीवन समाप्त हो जाता है उनके लिए रात को देर से आना भी एक सामाजिक अपराध है ! छिः !!'

शंकर को ऐसा जान पड़ा कि ऐसे रूढ़िवादी समाज के अन्दर बने रहने पर सम्भव है उसका स्वाभाविक चरित्र-बल ही नष्ट हो जाय !

शंकर को चुप देखकर यमुना बोल उठी—"सिनेमा देखने गये होगे। लेकिन ऐसा ही था तो कहकर जाते। जब सब लोग खाना खा चुके, तब भी कोई साढ़े नौ बजे तक मैं तुम्हारी राह देखती रही। बात यह है मुन्नी, कि तू तो अपना सगा-जैसा बच्चा है। तेरे ऊपर बात नहीं है। पर ज़माने का डर भी तो एक चीज़ है; क्योंकि अब रन्नो, तुम तो देखते हो, कितनी सयानी हो गई। और बहू तो फिर बहू ही ठहरी। और हमारी दसा यह है कि इसी वखत थोड़ी देर को जो झपकी लग गई, सो लग गई। फिर जो आंख खुल गई तो सारी रात बीत जाती है लेकिन पलक लगने की नौबत नहीं आती।"

इधर यमुना जब शंकर से यह बात कह रही थीं; तभी उधर वीणा करवट बदलती हुई मन-ही-मन कहती जा रही थी—'इस अविश्वास में केवल मेरा ही नहीं, समस्त नारी-जाति का अपमान है। अकेली अम्मा से ही क्यों, मैं बाबूजी से स्पष्ट पूछूंगी—तुम्हारी ऐसी ही शिक्षा हुई है ? और हुई भी है तो क्या आज के युग में तुम मुझे भी यही पढ़ाना चाहते हो ?—यही तुम्हारी सभ्यता है ?'···देर तक वीणा इन्हीं विचारों में डूबी रही।

अब वीणा के मन में आया कि वह इसी समय रसोई-घर के पास जाकर देखे, अम्मा कहीं शंकर भैया से कुछ कह तो नहीं रही हैं। तब वह तत्काल उठी और पाइप के पास जाकर खड़ी हो गई, जहां एक खिड़की थी, जिसका एक किवाड़ अब तक खुला हुआ था। वहां से रसोई-घर में होने वाली बातचीत स्पष्ट सुनी जा सकती थी।

शंकर इस समय मौन था। अतएव वीणा एक मिनट तो खड़ी रही;

पर फिर दबे पाँव लौटकर यह सोचती-सोचती चारपाई पर लेट रही कि अब उसे सो जाना चाहिए। कल देखा जायगा।

इतने में शंकर ने उत्तर दिया—"मैं अब कोई ऐसा प्रबन्ध कर लूँगा जिसमें फिर कभी तुमको ऐसा कष्ट न हो।"

अपने इस उत्तर में शंकर ने यह बतलाने की आवश्यकता नहीं समझी कि वह कहाँ गया हुआ था और उसे किस तरह देर लग गई।

सफ़ाई वे देते हैं जिन्हें दण्ड पाने का भय रहता है। जो मिथ्या दोषारोपण का पद-प्रहार से स्वागत करते हैं वे कभी सफ़ाई नहीं दिया करते!

---

## : १४ :

चन्द्रग्रहण का दिन था और रात के नौ बजे थे। दिन-भर बड़ी उमस बनी रही। जिनके घरों में बिजली के पंखे नहीं थे उनके हाथ कभी बन्द ही न हो पाते थे। दोपहर में सोनेवाले लोगों को यदि कभी झपकी लग जाती तो उनकी धोती, बनियाइन ही नहीं, तकिया और चादर तक भीग उठती थी। किन्तु सात बजते ही पवन डोलने लगा। ताप-दग्ध, श्रमबिन्दु-स्रवित, गन्धग्रस्त, शिथिलगात, खिन्नमन, श्रान्ततन जन-समुदाय की मुखाकृतियों पर आनन्द-माधुरी लहराने लगी।

रेणु रजनी के बच्चे को वक्ष से चिपकाये हुए द्वार पर खड़ी-खड़ी उसे थपथपा रही थी और रजनी चूल्हे के सामने जाकर दूध की हँडिया में कुश का टुकड़ा छोड़कर जो खुले आँगन में आई तो एकाएक उसके मुँह से निकल गया—"वाह ! क्या झोंका आया है कि तबियत हरी हो गई !" और इतना कहकर उसने बच्चे को रेणु के हाथ से लेते हुए पूछा—"तुम्हारा लेख तो छप गया, मगर रुपया नहीं आया।"

रेणु ने मुँह बिचकाते हुए उत्तर दिया—"उँह, छप गया, इतना ही बहुत है।"

इतने में घनश्याम अलमारी के पास खड़ा होकर फूटे हुए गिलास के टुकड़ों को खनखनाते हुए बोला—"रेणु, तुमको कितना रुपया चाहिए उस लेख पर ?"

रेणु बोली—"दद्दा, आप तो मज़ाक कर रहे हैं !"

"मज़ाक मैं करता हूँ, मगर उन लड़कियों के साथ नहीं, जो मुझे दद्दा कहती हैं।"

रेणु हँस पड़ी और साथ ही संकुचित होती हुई बोली—"यह मैं जानती हूँ।"

अब घनश्याम कुर्सी पर बैठ गया और बोला—"मैंने पूछा तुमसे इसलिए कि वैसे तो बिल बनेगा अक्टूबर महीने की पहली-दूसरी तारीख को और रुपया भेज दिया जायगा दस तारीख़ तक, यह हमारे पत्र का नियम है। मगर उस दिन तुमने कहा था कि मेरे पास तो सिर्फ़ तीन ही धोतियाँ हैं, जिनमें से एक धोबी को चली जाती है तो मैं मुसीबत में पड़ जाती हूँ। क्योंकि कभी-कभी आकाश मेघावृत रहने के कारण धोती समय पर सूख नहीं पाती। मैं तुम्हारी इस कठिनाई को भूला नहीं हूँ रेणु! इसलिए ज्यों ही यह महीना समाप्त हुआ···आज कौन तारीख है?"

"तारीख़ तो आज पचीस है दद्दा!"

"तो बस, छै दिन की कसर है। पहली तारीख को शुक्ला से बिल बनवाकर मैं इन्दूरकर (एकाउन्टेन्ट) के पास भिजवा दूँगा और उससे कहूँगा कि इसे आज ही पास करके माचवे (कैशियर) के पास भेज दो। इसीलिए मैं जानना चाहता था कि······।"

रेणु फिर मुस्कराई और बोली—"मैं कुछ नहीं जानती। जो जी में आये कीजिए।"

अब घनश्याम के मुँह से निकल गया—"बात यह है रेणु, आज की दुनिया कुछ बदल गई है। पुरस्कार की रक़म पर आफ़िसवाले बाबू मनीआर्डर की फ़ीस उसकी मद से नहीं देते, वरन् पुरस्कार से ही काट लेते हैं!"

"अच्छा दद्दा, तो ये लेखक लोग अपने साथ यह व्यवहार स्वीकार ही क्यों करते हैं?"

"स्वीकार करते हैं विवश होकर।—और स्वीकार करते हैं अपनी दुर्बलताओं के कारण!"

"दुर्बलताओं के कारण?"

"हाँ, दुर्बलताओं के कारण ! तुम्हें मालूम होना चाहिए कि संसार में सबसे अधिक दुर्बल जाति लेखकों की ही है। क्योंकि वे सब-के-सब घुमा-फिराकर भावुक, सनकी, जिद्दी और अहंवादी होते हैं। वे आपस में मिल नहीं सकते। उनका साहित्य पढ़ नहीं सकते और अगर पढ़ते भी हैं तो या तो उनकी बुराई करने के लिए, अथवा उनकी ऊँचाई पर चढ़ती हुई पतंग का मंझा साफ़ कर देने के लिए ! इन अवस्थाओं में वे संगठितरूप से कोई ऐसा सक्रिय प्रयत्न भी कर नहीं सकते, जो उनके हितों की रक्षा में सहायक हो सके।"

रेणु बोली—"तो···ओ···फिर इसके लिए क्या मुझे आफ़िस में आना पड़ेगा ?"

"हाँ, तीसरी या चौथी तारीख को अगर तुम वहाँ पहुँच जाओगी तो मेरा ख्याल है, रुपया मिल जायगा।"

रेणु उठ खड़ी हुई। वह सोचने लगी—'न तो मैं रुपया लेने आफ़िस जाऊँगी और न अपने पारिश्रमिक की रक़म से मनीआर्डर कमीशन का पैसा कटना स्वीकार करूँगी।'

रजनी बोल उठी—"क्यों, बैठोगी नहीं ?"

और घनश्याम ने कह दिया—"बैठो,तुमको एक और समाचार सुनायें।"

रेणु के मुँह से एकाएक निकल गया—"क्या ? कैसा समाचार ?"

घनश्याम बोला—"शंकर का पत्र आया है।"

रेणु अपनी प्रसन्नता छिपा न सकी, यहाँ तक कि रुमाल उसके होठों पर आ गया। उसने पूछा—"कोई खास बात लिखी है ?"

घनश्याम पेपरवेट से खेलते हुए बोला—"हाँ, बहुत खास बात है। यहाँ तक कि उसका तुम्हारे जीवन के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

रेणु इस पर लजा गई, कुछ बोली नहीं।

तब घनश्याम ने कह दिया—"शंकर ने पूछा है, रेणु का पढ़ना चल रहा है कि नहीं।"

रेणु की आँखों में आँसू छलछला आये। इस वर्ष वह कालेज में नाम न लिखा पाई थी। बात यह थी कि उसके कालेज की लेडी-प्रिंसिपल ने इसके लिए उसे अनुमति नहीं दी थी।

इतने में सड़क पर सुनाई पड़ने लगा—"धरम करो भई, धरम करो। सोने-चाँदी का दान, धोती-कपड़े का दान, घी-तेल का दान, गुड़-शक्कर का दान, धरम करो भई, धरम करो।"

ये स्वर उत्तरोत्तर सघन और तीव्र होते गये। फिर वे क्रमशः उच्च और सामूहिक होने लगे।

पूरी सड़क भरी हुई थी। स्नानार्थियों के झुण्ड-के-झुण्ड गंगा-स्नान को जा रहे थे। कोलाहल बढ़ता ही जा रहा था। साइकिल की घंटियों, ताँगों और मोटरों के हार्न के बीच बार-बार यह सामूहिक आवाज़ सुनाई दे रही थी—"धरम करो भई, धरम करो। आज का दिया हुआ ही मरने पर काम देगा, धरम करो भई धरम करो। रुपये-पैसा का दान, अठन्नी-चवन्नी का दान, फल-मिठाई का दान, दूध-दही का दान, रबड़ी-मलाई का दान। दान के बराबर कोई धरम नहीं—धरम करो भई धरम करो। आज के दिन जो-कुछ दान किया जायगा अगले जनम में उसका दसगुना मिलेगा, पचासगुना मिलेगा—धरम करो भई, धरम करो।"

एक आदमी चिल्लाता हुआ जा रहा था—"पति-पत्नी गाँठ जोड़कर स्नान करो। जो स्वामी इस जन्म में मिला है, वही अगले जन्म में मिलेगा। ऐसा ग्रहण कौन जाने फिर कब पड़े! धरम करो भई, धरम करो—समय चूकि पुनि का पछताने।"

रजनी, घनश्याम और रेणु सब-के-सब छज्जे पर खड़े हुए सड़क से गुज़रती हुई भीड़ के बीच मँगतों के इस उपदेश को कुतूहल के साथ सुन रहे थे।

रजनी बोली—"कालिदास के बाबू, तुम ग्रहण-स्नान करने न चलोगे?"

घनश्याम के होठों पर हास खेलने लगा। बोला—"क्यों, अगले जीवन में भी मुझी को वरण करना चाहती हो?"

रजनी बोली—"चलो, चलो, मज़ाक मत करो।"

इतने में रेणु भाग खड़ी हुई।

घनश्याम ने बहुत पुकारा—"अरी रेणु! सुन, सुन तो सही···।"

किन्तु रेणु तब तक अपने कमरे में पहुँच चुकी थी।

जानकी ने पूछा—"कौन-कौन जा रहा है?"

रेणु बोली—"वैसे तो चाहे दद्दा न जाते, लेकिन अब जायँगे।"

लल्ली पैर पटकने लगी और बोली—"ऊँ···ऊँ···ऊं, अम्मा, हम भी जायँगे।"

गोमती के मुँह से निकल गया—"अच्छा, अच्छा।"

रेणु जान-बूझकर कुछ नहीं बोली।

इतने में रजनी आ पहुँची और बोली—"अम्मा, तुम तो जा ही रही होगी?"

जानकी ने कह दिया—"तुम भी तो चल रही हो?"

इतने में फिर कोलाहल सुनाई पड़ा—"धरम करो भई, धरम करो! चाँदी-सोने का दान, हाथी-घोड़े का दान, गाय-भैंस का दान! जो एक बार हाथ उठाकर दे दोगे, उसकी भर-भर खत्तियाँ पाओगे। ऐसा दिन बार-बार नहीं आता। धरम करो भई धरम करो।"

रजनी बोली—"कैसे जाऊँ अम्मा! कालीदास के बाबू कहते हैं, मैं यह झंझट नहीं पालता। अगर अम्मा साथ में रेणु को भी ले जायँ तो मुझे कोई आपत्ति नहीं और तब मैं साथ भी चला जाऊँगा। मगर यूँ मैं झंझट न पालूँगा।"

गोमती बोली—"मगर फिर घर पर भी तो किसी को रहना चाहिए। अच्छा पूछो, सामनेवाले घर से कौन-कौन लोग जा रहे हैं? उनके घर में तो दस आदमी हैं। दो-चार तो रहेंगे ही। बात यह है

कि हमारे यहाँ हीरा-जवाहरात नहीं है तो बरतन-भाँडे ही हमारे लिए बहुत हैं।"

रजनी चली गई और रेणु बोली—"अम्मा, तुम चली जाओ। मैं घर में बनी रहूँगी।"

जानकी सोच में पड़ गई। इतने में घनश्याम आ गया और बोला—"सामने वाले घर में तीन-चार आदमी रहेंगे। मन्नीलाल, झन्नीलाल, खुन्नीलाल और—ये तीनों तो जा रहे हैं; मगर पूरनलाल, चूरनलाल और सूरनलाल यहीं पर रहेंगे।"

रेणु हँस पड़ी और जानकी बोली—"देखो, मजाक मत करो घनश्याम। ठीक-ठीक बताओ।"

घनश्याम हँसता हुआ बोला—"अरे तुम मजाक समझ रही हो माँ, पर मैं बिल्कुल ठीक कह रहा हूँ। बात यह है कि उस घर में दो पार्टियाँ हो गई हैं। एक पार्टी जिस काम को स्वीकार कर लेती है, दूसरी उसको स्वीकार करने से इन्कार कर देती है। इसलिए मेरे ख्याल से हम लोगों को अब चल देना चाहिए; क्योंकि फिर सवारी भी नहीं मिलेगी।"

इतने में कोलाहल के बीच फिर सुनाई पड़ा—"धरम करो भई धरम करो।"

जाह्नवी का तट और सरसैयाघाट; पक्की सीढ़ियाँ और मन्दिर। पण्डे और पुजारी आसन डाले तख्तों पर विराजमान हैं। बिजली की बत्तियाँ जल रही हैं। तख्तों पर स्नानार्थियों की भीड़ लगी है। सीढ़ियों पर भीड़ और भी अधिक है। कोई पैसे गिन रहा है, कोई गीली धोती उतार रहा है, किसी ने कपड़े उतारकर पण्डाजी को सँभला दिये हैं और पंडाजी कह रहे हैं—"पैसा अपने पास रखिए।" स्नानार्थी उत्तर दे रहा है—"नहीं महाराज, हमें आपका विश्वास है।" कोई पीठ पर बैठा अपनी वृद्धा माँ को तट के समीप खड़ा कर रहा है, कोई बछिया की पूँछ पकड़े हाथ में पैसा-सुपारी लिये संकल्प छुड़ा रहा है। किसी की धोती वही

जा रही है! रूढ़ि के आगे लाज के बन्धन ढीले पड़ रहे हैं। कोई धर्मार्जन के अवसर पर नयन-रंजन करते नहीं चूकता और टकटकी लगाये स्नान करती नारियों को देख-देखकर ईश्वर की लीला की प्रशंसा कर रहा है किन्तु साथ-ही साथ वह गीता का पाठ भी करता जा रहा है! किसी का अनाज धरती पर बिखर गया है। किसी की छागल पैर से निकल गई है। कोई अपने तीतर ही को नहला रहा है! किसी के जेब से दो रुपये साढ़े तीन आने सीढ़ी पर छर्र से गिर पड़े हैं। पैसे सीढ़ी पर पड़े रह गये हैं और कागज के रुपये पानी पर तैर रहे हैं! कोई फूलों की तलाश में इधर-उधर चक्कर काट रहा है। किसी ने रूमाल में बँधे हुए अपने दाँत निकालकर गंगाजी में छोड़ दिये हैं। एक अंधा करताल बजाकर गा रहा है—"म्हाने चाकर राखो जी।" लूले-लँगड़े, कोढ़ी, बौने, अंधे—सब-के-सब रास्ते में चादर बिछाये हाथ फैलाकर गिड़गिड़ा रहे हैं—"मुट्ठी-भर अन्न देती जाओ माँ।"

और रेणु सोचती है—यही हमारे देश की जनता है।

घनश्याम बोल रहा है—"धीरे-धीरे, आहिस्ता-आहिस्ता, इधर से आओ, इधर ।

कहीं कोई डुबकी लगा रहा है तो उसकी धोती पीठ के ऊपर फूलकर कुप्पा बन गई है। कहीं नाव पर बैठे हुए लोग उस पार जा रहे हैं। कहीं बाप बेटे से बिगड़ रहा है—"हमने कहा था कि बिझरा लेते चलो और यह साला वहाँ से मटकता हुआ खाली हाथ चला आया···! सूरत हराम कहीं का!"

इतने में पास खड़ा हुआ एक स्नानार्थी हँस पड़ा और बोला—"दादा, इतना काहे को बिगड़ रहे हो?"

दादा भंग की गरमी में थे। बोले—"आपको मालूम नहीं! यह साला उल्लू का पट्ठा है!"

रजनी से चुप नहीं रहा गया। उसने क्षण-भर स्थिर रहकर घनश्याम के कान में कह दिया—"अब मालूम हो गया!"

रेणु अगली सीढ़ी पर थी। वह आगे बढ़ी। बोली—"अम्मा, तुम यहीं खड़ी रहना, यहीं।"

इतने में एक ओर कोलाहल मच गया—"हरे राम, यह क्या हो गया!"

चारों ओर से आवाज़ें आने लगीं—"क्या हुआ, क्या हुआ ?"

"हुआ क्या ?"

"एक बुढ़िया डूब गई !"

"डूब कहाँ गई, अभी तक तो डूबी नहीं; मगर शायद डूब ही जाय। वह देखो ! हाँ, ठीक है ! कोई लड़की उसके पीछे तैरती हुई जा रही है ! वाह ! एक्सीलेन्ट ! बहुत अच्छे !" लक्ष-लक्ष जन-समूह की आँखें उधर ही जा लगी हैं। स्वर उठ रहे हैं—"जियो ! हमको आज इसी तरह की वीर लड़कियों की आवश्यकता है। सारे युवक-समाज के मुख पर इसने कालिख लगा दी ! सब खड़े-खड़े ताक रहे हैं ! उस लक्ष-लक्ष जन-समूह के बीच केवल एक बाला उस डूबती हुई वृद्धा को बचाने के लिए आगे बढ़ सकी और सो भी एक लड़की ! मगर वाह ! तुम धन्य हो ! महारानी लक्ष्मीबाई की संतान, तुम्हारा जीवन धन्य है !..."

"धरम करो भई, धरम करो...चाँदी-सोने का दान, रुपया-पैसे का दान, गाय-भैंस का दान !—"

एक स्वर—"इस जीवन-रक्षा के सम्मुख यह सारे दान तुच्छ हैं, हीन हैं, निकृष्ट और अधम हैं !"

एक मिनट, दो मिनट...दस मिनट...आधा घण्टा...। काल के चरण, मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। लाओ, तुम्हारी रज अपने भाल पर लगा लूं। लाओ, तुम्हारे पैरों की पावन रेणु अपनी छाती पर पोत लूं।

बच गई बुढ़िया, बच गई !

दूसरा दिन। 'लोकमान्य' दैनिक का मुखपृष्ठ :

"नगर के प्रसिद्ध बजाज केदारबाबू के भाई कैलाशनाथ की स्त्री डूबते-डूबते बची और उसकी प्राणरक्षा की एक छात्रा कुमारी रेणु ने !

यह दृश्य नगर के गंगास्नान के इतिहास में सदा के लिए अमर हो गया। जिन लोगों ने यह दृश्य देखा—वे धन्य हैं। ऐसा मनोहर दृश्य जीवन में फिर कभी नहीं देख पायेंगे। खाना तो सभी खा लेते हैं, पेट तो सभी भर लेते हैं, मगर किसी अपरिचित नारी की जीवन-रक्षा के लिए जो लड़की अपने प्राणों की बाजी लगा देती है, हम उसके इस महान् साहस की सराहना करते हैं।

"उसी कुमारी रेणु का चित्र यहाँ दिया जाता है। हमारे पास इस लड़की को पुरस्कार में देने के लिए कुछ रक़में आई हैं, जिनकी सूची हम बाद में प्रकाशित करेंगे। केवल इसलिए कि यही वह अवसर है, जब सम्पत्तिशालियों, उदार, उन्नतमना सेठों को इस लड़की को प्रोत्साहन देने के लिए एक अच्छी रक़म अवश्य देनी चाहिए। क्योंकि हमें विश्वस्त सूत्र से पता चला है कि यह लड़की ग़रीबी के कारण कालेज की विधिवत् शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ रही। किन्तु हर्ष का विषय है, हमें यह भी विदित हुआ है कि कुमारी रेणु नगर के गौरव श्रीमान् प्यारेलाल अग्रवाल की स्वनामधन्य राष्ट्रकर्मिणी धर्म-पत्नी श्रीमती तारादेवी अग्रवाल द्वारा संचालित उस संस्था की एक सदस्या थी, जो युवतियों और बालिकाओं को संतरण (स्वीमिंग) शिक्षण की दिव्य संयोजना किया करती है।"

सन्ध्या हुई। घनश्याम ने दैनिक पत्र का यह अंक जब जानकी के सामने उपस्थित किया तो जानकी रो पड़ी। उसके मुँह से निकल गया—"घनश्याम बेटा, तुमने वह काम किया है, जिसके ऋण से मैं जीवन-भर मुक्त न हो सकूँगी।"

घनश्याम मुस्कराते हुए बोला—"अम्मा, सौभाग्य काल के बन्दीगृह में सदा दिन काटता रहता है। कौन जानता है कि कब वह कारामुक्त होकर हमारे आँगन में आ खड़ा होगा!"

---

## : १५ :

दूसरे दिन गयावावू, यमुना और मायावावू में देर तक वातचीत होती रही। यमुना सारा दोप अपने स्वामी का समझती थी। इसलिए वह वोली—"अगर अव इस फ़सल में भी रन्नो का व्याह न हुआ तो मैं अपने प्राण खो दूँगी। मैं अव रन्नो के हाथ हल्दी से रँगे विना न मानूंगी।"

गयावावू और सव प्रकार की वातें इतमीनान से सुनते रह सकते थे; केवल एक प्रसंग ऐसा था। जिस पर उन्हें आपत्ति थी, और वह था यमुना का कभी-कभी अपनी मृत्यु के सम्वन्ध में कुछ सोचना या एक शब्द कह उठना। उनका कहना था कि आदमी की जिन्दगी का वहुत वड़ा मूल्य है—इतना वड़ा कि कोई उसे चुका नहीं सकता। ऐसी दशा में हमारी वातचीत में मृत्यु का तो कभी नाम भी न आना चाहिए। वल्कि सवसे उत्तम माग यह है कि मरते हुए प्राणी को भी कभी यह अनुभव करने का अवसर न देना चाहिए कि वह मर रहा है!

गयावावू जल्दी में कोई काम न कर सकते थे। यहाँ तक कि अगर दस क़दम दौड़ लेने पर वस मिल जाने की सम्भावना होती, तो वस छोड़ देना ही वे उचित समझते थे। जीवन के समस्त व्यवहारों के सम्वन्ध में उनकी यही नीति थी। अगर कभी उनसे कोई यह कह देता—"लाइए ढाई सौ रुपये दीजिए, एक तांगा विक रहा है, चार-पाँच सौ का। दो-ढाई सौ का प्रत्यक्ष लाभ है। चाहे जव वेच लेना।" तो गयावावू यही जवाव देते—"ताँगा वक जाने दो। मुझे उसकी जरूरत नहीं है।" वेतन मिलने पर दूसरी-तीसरी तारीख को जव माया महीने-भर के लिए गृहस्थी

का सामान इकट्ठा करता, तो गयाबाबू यही सलाह देते— "जरूरत-भर के लिए अभी ले लो—बाक़ी फिर ले लेना।" बिल्कुल यही नीति उन्होंने वीणा के विवाह के सम्बन्ध में भी अपना रखी थी—"मैंने शोभाराम को पत्र लिखा है। उसका उत्तर आता होगा। उत्तर के साथ जन्मपत्री भी होगी जन्मपत्री देखते ही यह विषय तय कर लिया जायगा। इसमें इतनी जल्दबाज़ी की क्या बात है ?"

इसलिए इस अवसर पर भी गयाबाबू किसी प्रकार की चिन्ता प्रकट किये बिना बोल उठे—"विष खायें तुम्हारे दुश्मन, तुम विष क्यों खाओ! आज कहा सो कहा, फिर कभी विष का नाम लिया, तो मुझसे बुरा कोई न होगा। रही रन्नो के विवाह की बात, सो वह तो एक-न-एक दिन करना ही पड़ेगा। अरे माया, वह मुख्तार साहब का लड़का जो वकालत पढ़ रहा था मैंने उसकी जन्मपत्री मँगाने के लिए तुमसे कहा था, उसका क्या हुआ ?"

माया जानता था कि बाबू अपनी आदत से लाचार हैं। आवश्यक-से-आवश्यक काम को समय पर टाल देना उनके बायें हाथ का खेल है। इतना ही नहीं, वे विषयान्तर करने में भी बहुत प्रवीण हैं। अतः माया ने उत्तर दिया—"अभी कुछ नहीं हुआ। कोई उत्तर नहीं आया। लेकिन मुख्य विषय तो यह है कि मुन्नी रात में अगर नित्य देर से आयेगा, नित्य न सही, दूसरे-चौथे भी आयेगा, तो अँधेरे में, इतनी सीढ़ियाँ नीचे उतरकर उसके लिए सदर दरवाज़ा खोलने जायगा कौन ? मैं तो जाऊँगा नहीं। क्योंकि नींद में जल्दी उठने का मतलब बिल्कुल यह है कि जैसे डाकेवाले दरवाज़े पर आ गये हैं और दनादन गोली चल रही है !"

पैर सीधा करती हुई यमुना बोल उठी—"बहू और बिटिया में से कोई नहीं जायगा। जाऊँगी मैं।"

अब गयाबाबू ने भी पत्नी को हतोत्साह करते हुए कह दिया—"हाँ, तुम जाओगी। अगर अँधेरे में किसी दिन पैर रपट गया और तुम्हारी

हृदय में बस गया है—तुम्हारे स्वप्नों का राजा बन बैठा है ! मैं सब जानता हूँ, मुझे घड़ी-घड़ी की खबर रहती है। मैं भगवान् की शपथ लेकर कह सकता हूँ कि तुम उससे प्रेम करती हो !"

तब अपनी कमनीय देह-यष्टि को, सिसकियों के चढ़ाव-उतार के माध्यम से, क्रन्दन के बीच ले जाकर, मीरा फूट कर रो पड़ी थी। उसने कहा था—"तुम चाहे जो कह लो, क्योंकि हिन्दू-नारी को बोलने का अधिकार ही नहीं है। तुम ही मेरे पति-परमेश्वर हो इससे अधिक मैं क्या कह सकती हूँ। विश्वास करना न करना तुम्हारा काम है। मेरा तो साक्षी वह भगवान् है जिसने मुझे आपके चरणों में सेवा के लिए भेजा है।"

फिर थोड़ा रुककर आँसू पोंछकर वह मन-ही-मन कहने लगी—"एक तुम नहीं, पुरुषों की सम्पूर्ण जाति इस विषय में ऐसा सोचने की आदी है !"

फिर उसने कह भी दिया—"यह तुम नहीं, तुम्हारे वे संस्कार बोल रहे हैं, जिन्होंने अब तक स्त्रीजाति को गाय की भाँति दयनीय, मूक और अजा की भांति भोज्य समझ रखा है ! इसके अतिरिक्त मेरे पास एक और भी जवाब है; पर उसे इस समय नहीं, उस समय दूँगी, जब उसका प्रमाण मेरे हाथ में होगा।"

तीन दिन तक मीरा मायाबाबू से बोली न थी। अन्त में जब माया ने ही हँसते-हँसते कह दिया—"तुम मेरी बातों का बुरा न माना करो, रानी ! क्योंकि सही हो या ग़लत, हम मानते हैं कि तुम हमारी वह स्थायी निधि हो, जिसकी एक पाई भी अगर किसी के पास जाती हुई मैं कभी देखूंगा, तो हाथ मारकर, झपटकर, मैं उसे छीन ही लूंगा।"

इस प्रकार मायाबाबू और मीरा में सन्धि तो हो गई थी, लेकिन अब स्थिति यह थी कि मीरा प्रत्यक्षरूप से शंकर का पक्ष न ले सकती थी।

इस समय सास और स्वामी में जो वार्तालाप चल रहा था, मीरा उसे बराबर सुन रही थी। जब उसने देखा—बातें कुछ इतनी अप्रिय होने जा रही हैं कि उनका परिणाम शंकर के लिए अपमानजनक भी हो सकता

है। तब वह चुपचाप उसके पास जा पहुँची।

वीणा जान-बूझकर उस कमरे में नहीं गई थी। वह चारपाई पर पड़ी हुई अपनी स्थिति पर मन-ही-मन रो रही थी। कभी एक निश्वास उसकी अन्तरात्मा से फूट पड़ता। कभी वह सोचने लगती—'क्या यह दुनिया इस योग्य है कि इसमें रहा जाय !'

शंकर उस समय चाय की प्रतीक्षा कर रहा था। उसे ज्ञात नहीं था कि गयाबाबू के कमरे में किस प्रकार की मंत्रणा हो रही है।

खिन्नमना मीरा बोली—"लालाजी, चाय आने में आज दस-पाँच मिनट की देर हो जायगी।"

शंकर के समक्ष जो पुस्तक खुली हुई थी, उसमें एक वाक्य था—"समय पर जो कार्य करना नहीं जानते, उन्हीं को अपनी मृत्यु का सबसे अधिक भय रहता है। बात यह है कि वह यह सोचते रह जाते हैं कि हाय यह काम तो हमारा अधूरा ही पड़ा रह गया !"

भाभी की बात सुनकर शंकर एकदम चौंक पड़ा। बोला—"दस-पाँच मिनट या घंटा-आध-घंटा ? साफ़ कहो, क्या बात है ?" कुर्सी उसने उसके सामने खिसका दी और कह दिया—"बैठो, बैठो।"

मीरा बहुत दुखी मन से झिझकती-झिझकती बोली—"बुरा न मानो तो एक बात कहूँ, लाला।"

शंकर ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"मेरा ख्याल है, बुरा लगने वाली बात भाभी मुझसे कभी कहेंगी ही नहीं।"

अब मीरा गम्भीर हो गई। वह कुछ और निकट आकर खड़ी-ही-खड़ी बोल उठी—"नहीं लाला, जीवन इतना मधुर नहीं है और शायद कभी होगा भी नहीं !"

और इसके बाद वास्तविक स्थिति को कुछ छिपाती-छिपाती-सी वह बोली—"तुम कल रात को देर से लौटे थे। अम्मा को उठाकर ज्यों ही उनको सदर दरवाजा खोलने के लिए नीचे भेजने गई, त्यों ही

सुनती क्या हूँ कि रन्नो तब तक स्वयं वहाँ जा पहुँची है। किवाड़ खोल कर पुनः बन्द कर दिये गये हैं और अम्मा ज़ीने के ऊपर खड़ी हुई कुछ भर्त्सना के स्वर में कह रही हैं—'मैं आ तो रही थी।' बस, इसी बात पर कुछ ऐसी बातें उठ खड़ी हुई हैं कि मैं तुम्हें क्या बताऊँ लाला...!"

मीरा और आगे कुछ न कह सकी। उसका कण्ठ भर आया और अंचल को आँखों पर लगाकर वह रो पड़ी। शब्दों ने जो नहीं कह पाया था, उसे उसके आँसुओं ने कह दिया। धीरे-धीरे वह अपने आन्तरिक दुःख को भूलकर स्थिर होने लगी। जी कड़ा करके उसने आँसू पोंछ डाले। नीचे का होंठ दाँत से दबाती-दबाती वह कुछ कहने ही वाली थी कि शंकर बोल उठा—"पर इसमें रोने की क्या बात है भाभी! मैं एक-आध दिन में कहीं रहने की व्यवस्था कर लूँगा।"

मीरा इसी बात के लिए डर रही थी। समस्त भावनाओं को चुपचाप हृदय के भीतर एक बार दबाकर उसने झट आँसू पोंछ डाले और कह दिया—"मैं ज़रा इधर से नीचे शौचालय जा रही हूँ। लेकिन मैं चाहती हूँ तुम इस समय अम्मा से मिल लो।"

इतना कहकर मीरा शंकर के कमरे से चुपचाप नीचे चली गई।

शंकर जब मौसी से मिलने के लिए गयाबाबू के कमरे में पहुँचा, तो दरवाज़े पर कुछ ठिठककर रह गया। उसी समय मायाबाबू के ये शब्द उसके कानों में जा पड़े—"यह आधी-आधी रात तक लौटना, उस समय जगकर पहले नीचे जाकर आपके लिए किवाड़ खोलना और फिर उसी समय ठंडे पड़े हुए खाने को गरम करके आपको खिलाने बैठना—यह सब गुलामी हमारे घर में न चलेगी।"

शंकर को ऐसा जान पड़ा, जैसे कोई हत्यारा उसके कानों में तेज़ाब डाल रहा है! ज़रा भी हिले-डुले बिना वह चुपचाप खड़ा रहा।

यमुना कष्ट सहन कर सकती थी, लेकिन अपना सम्बन्ध और शील का नाता समाप्त कर देने को वह कभी तैयार न थी। माया ने

शंकर के सम्बन्ध में जब ऐसी कटु बातें कीं, तो उससे सहन न हुईं। इसलिए वह बोल उठी—"यह सब तुम क्या बके जा रहे हो, माया ! अभी महीना-भर भी शंकर को आये न हुआ और तुमने एक नया बखेड़ा खड़ा कर दिया ! अगर आज यही शंकर तुम्हारा सगा भाई होता तो तुम क्या करते ?"

माया इस पर बिगड़ खड़ा हुआ। बोला—"भाई होता तो वह इतनी रात को कभी न लौटता। यह आवारापन मैं उसमें कभी पैदा ही न होने देता। और अगर देखता कि वह मेरी इच्छा के विरुद्ध काम करने लगा है तो इस तरह का पहला ही क़दम उठने पर मैं उसके मुँह पर दो चाँटे रसीद करता और कहता—यह हुआ नज़राना। और फिर कान पकड़कर घसीटता हुआ ऊपर ले आता, तब कहता—यह हुआ शुकराना। आज़ादी के बाने में आवारापन का, जिसका उसे बड़ा घमण्ड है। मैं एक दिन में बच्चू की तबियत दुरुस्त कर देता। हुँ : कलाकार बनते हैं ! ऐसे कलाकार हमारे यहाँ झाड़ू लगाते हैं !"

एक बार शंकर के मन में आया—'क्या इसी समय मुझे यह घर छोड़ देना चाहिए—बिना किसी प्रकार की कहा-सुनी के ? मुझे इसी समय कानपुर जाकर, दादा से सारा कच्चाचिट्ठा कह देना चाहिए ?' किन्तु उसे फिर ध्यान आ गया—'समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। मुझे भी इस अवसर की उपेक्षा करने का कोई अधिकार नहीं,' और इन्हीं भावनाओं के साथ वह आगे बढ़ गया। कमरे के अन्दर पहुँचकर वह वहाँ कहीं बैठा नहीं, द्वार पर ही खड़ा रहा।"

कुछ चौंकते हुए-से गयाबाबू बोले—"आओ मुन्नी। इस समय हम लोग तुम्हारी ही चर्चा कर रहे थे।"

माया कुछ नहीं बोला। शंकर के अकस्मात् आगमन पर उसको कुछ आश्चर्य भी हुआ।

लेकिन यमुना चुप न रह सकी। वह बोली—"मुझे जो-कुछ कहना

था, वह मैं कल रात ही को मुन्नी से कह चुकी थी । मुन्नी ने मेरी बात मान भी ली थी । लेकिन इस माया को मैं क्या कहूँ ! मेरे घर में तो इस तरह की बातें कभी हुई नहीं ।"

अब शंकर बोल उठा—"मैंने सब बातें सुनी हैं मौसी। उनका जवाब मैं शब्दों से नहीं, कर्म से दूँगा। यह तो मैं जानता था कि आज के युग में कोई भी व्यक्ति अपनी किसी भी रिश्तेदारी में सम्मानपूर्वक नहीं रह सकता। लेकिन यह मैं न जानता था कि इतनी जल्दी मेरा अन्न-जल इस घर में समाप्त हो जायगा। इतने दिन तक समय-असमय मैंने आप लोगों को जो कष्ट दिया, उसके लिए मैं आप सबका सदा आभारी रहूँगा। —अच्छा।" और इतना कहकर शंकर अपने बायें हाथ में बँधी हुई घड़ी की तरफ़ देखकर बोला—"ठीक है । समय साढ़े छः बज रहे हैं; साढ़े नौ का मेल मुझे बड़े आराम से मिल जायगा।" और इतना कहकर वह जो उस कमरे से बाहर जाने लगा, तो यमुना बोल उठी—"ठहरो मुन्नी, तुम जा नहीं सकोगे।"

और गयाबाबू बोले—"हाँ, हाँ, ठीक तो है। तुम कैसे जाओगे ! मैंने तो तुमसे कुछ कहा नहीं।"

और तभी यमुना बोली—"यह घर माया का नहीं, मेरा है। इस घर में अभी माया का कुछ नहीं है। इसलिए वह तुम्हारे मामले में बोल नहीं सकता। हाय ! मैं जीजा को क्या मुँह दिखाऊँगी—अगर तुम चले गये !"

इसी क्षण गयाबाबू बोल उठे—"नहीं जी, तुम जा नहीं सकते।"

यमुना ने झट स उठकर उसे कमरे से बाहर जाने से रोकते हुए कहा—"आखिर को माया तुम्हारा भाई ही है और फिर तुमसे बड़ा है। वह अगर तुमको समझने में ग़लती कर जाय तो—"

इतने में गयाबाबू खड़े होकर बोल उठे—"बात सुनो, बात सुनो। मैं पूछता हूँ—गलती किससे नहीं होती ! भगवान् से नहीं होती ? पूछो, हमने उसका क्या बिगाड़ा था, जो हमें ऐसा रोग दे दिया कि चाय तक नहीं

पी सकता ! और माया को क्या कहूँ ! लेकिन मैं कहता हूँ अगर उससे गलती न हो, तो फिर उसका नाम माया कैसा ! इसलिए अगर उसकी बातों में कहीं खोट भी हो, तो तुमको बुरा नहीं मानना चाहिए।"

अब यमुना और गयाबाबू दोनों-के-दोनों बारी-बारी से शंकर को समझाने में लग गये। कभी-कभी दोनों एक-साथ बोल उठते, किसी का कथन दूसरे से टकरा जाता। इस चखचख और गुल-गपाड़े का परिणाम यह हुआ कि वीणा और मीरा दोनों ही वहाँ आ पहुँचीं।

वीणा बिलकुल हतप्रभ थी। उसके मुंह पर केशों की कई लटें बिखरी हुई थीं। उसका मुंह उतरा हुआ था और आँखें डबडबाई हुईं। और मीरा आई आँखों तक घूंघट लटकाये आँसू पोंछती हुई !

पर किसी के कथन का शंकर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—"मैं घड़ी-घड़ी अपना निश्चय बदला नहीं करता। मुझे जाना ही होगा। मैं रुक नहीं सकता।"

शंकर कदाचित् और भी कुछ कहता, लेकिन इतने में गयाबाबू बोल उठे—"माया तो है बेवकूफ़। उसको इसी समय माफ़ी माँगनी होगी। मगर ऐं ! वह तो चला गया। खैर, कोई बात नहीं। उसे तुमसे माफ़ी माँगनी ही होगी।"

शंकर तब लगातार बोलता चला गया—"मगर इस माफ़ीनामे की आवश्यकता ही क्या है ! और ऐसे माफ़ीनामे मूल्य ही क्या रखते हैं ! मैं नित्य देखता हूँ, बेईमान आदमी बहुत जल्दी माफ़ी माँगता है। मैंने देखा है, माफ़ी माँगने के बाद आदमी के मन पर वही प्रतिक्रिया होती है जो हत्या के अपराधी पर उस समय हुआ करती है जब वह दंड से बिल्कुल मुक्त होकर कटघरे से हँसता हुआ बाहर निकलता है ! ऐसे माफ़ीनामों को मैं स्वार्थ-साधन का एक अस्त्रमात्र मानता हूँ।"

कदाचित् शंकर अभी बोलता ही रहता। पर तभी गयाबाबू ने उसका हाथ पकड़ लिया और समझाने के स्वर में वे बोल उठे—"तुम मेरी

एक वात सुनो, वैठो-वैठो ! अरी रन्नो, भैया के लिए अभी तक चाय नहीं वनाई !"

वीणा ने झट आँसू पोंछ डाले और कह दिया—"अभी वनी जाती है।" और इतना कहकर वह जो रसोईघर वापस जाने लगी तो गयावावू वोल उठे—"और हाँ, रन्नो, चाय के साथ आज कोई नमकीन चीज़ ज़रूर वनेगी ताज़ी।"

यमुना हँसने लगी। वोली—"जव कोई चीज़ वनेगी तो वह ताज़ी तो होगी ही। वूढ़े हो गये, मगर वात करने का सहूर न आया !"

इतने में गयावावू वोल उठे—"वको मत, नहीं तो मुझे गुस्सा आ जायगा !"

तव यमुना मुँह वनाती हुई कह उठी—"अरे हटो, गुस्सा नहीं लकड़-वग्घा आ जायगा !"

वीणा और मीरा चाय और नमकीन वनाने चली गईं। गयावावू फिर शंकर को समझाने लगे—"देखो मुन्नी, लड़ाई सवके घर में होती है, लेकिन भला कोई घर छोड़ देता है ! कहासुनी भी सवके घर में होती है, पर भाई-भाई या चचा-भतीजे का नाता कहीं टूट पाता है ! सच पूछो तो लड़ाई भी प्रेम के ही कारण होती है। प्रेम न हो, तो लड़ाई की कभी नौवत ही न आये। फिर तुम कितने समझदार लड़के हो, एम० ए० में पढ़ रहे हो। माया तुम्हारे आगे विल्कुल अशिक्षित-सा है। कहाँ तुम, कहाँ वह ! फिर उसके साथ लड़ाई कर लेने में तुम्हारी कौन शोभा है ! मैंने तुमसे कितनी वड़ी-वड़ी आशाएँ कर रखी हैं। एक ही झटके में, तिरस्कार के एक ही आघात में, तुम मेरे उन स्वप्नों को तोड़ डालना चाहते हो ! मैंने ऐसा कभी नहीं समझा कि वड़े भैया मेरे सगे वड़े भाई नहीं हैं। आज तक हमारे वीच में, किसी भी प्रसंग से, कभी कोई गाँठ नहीं पड़ी। तुम अपने तेज और हठ से अगर हमारे वीच एक गाँठ डाल ही दोगे तो तुम समझते हो, उससे तुम्हारी प्रतिष्ठा वढ़ जायगी।"

शंकर सब सुनता रहा, उसने कहा कुछ नहीं। यमुना भी चुप बैठी रही।

मीरा जब रसोईघर में पहुँची तो वीणा बोली—"जल्दी में कोई नमकीन चीज़ ऐसी क्या बन सकती है!"

मीरा ने उत्तर दिया—"क्यों, मूँग की दाल जो रात की भीगी हुई रखी है, अभी उसे धोकर छिलके साफ़ करके झट से पीसे लेती हूँ। देशी घी के चीले बना लूँगी। अभी मिनटों में।"

और इस कथन के साथ उसने चुटकी भी बजा दी।

तब तक इधर-उधर से घूमता हुआ माया आ पहुँचा और रसोईघर के दरवाज़े पर खड़ा होकर बोला—"मुन्नी ने तो आज एक नाटक का मज़ा पैदा कर दिया।"

मीरा मूँग की दाल के छिलके साफ़ करने में लगी थी। तत्काल बोल उठी—"मज़ा तो ऐसा पैदा कर दिया कि तुम जीवन-भर पछताते रहते। बड़ी कुशल हुई जो बाबूजी ने अपनी बातों के चक्कर में फँसाकर लाला को मना लिया।"

मीरा की बात अभी समाप्त भी न हो पाई थी कि इतने में गया-बाबू का गम्भीर स्वर सुनाई पड़ा—"ए माया! कहाँ गया रे? रन्नो, माया को इधर ज़रा भेज तो सही।"

अब मीरा बोल उठी—"तुम्हारी आदतें इतनी खराब पड़ गई हैं कि कोई भी आदमी तुमसे कभी सन्तुष्ट नहीं रह सकता।"

माया ने कुटिल हास्य के प्रकार में उत्तर दिया—"मैं किसी को सन्तुष्ट रखने की कमाई खाता हूँ जो उसकी धौंस सुनकर सहम जाऊँ!"

मीरा ने साहस के साथ उत्तर दिया—"अब भी तुम झूठ बोल रहे हो। जिन माता-पिता ने तुमको जन्म दिया, रात-दिन उनकी अवज्ञा करते हुए तुम्हें लाज नहीं आती! बाबूजी बुला रहे हैं और तुम चुपचाप खड़े-खड़े सुन रहे हो! जाओ, अरे, अब तो जाओ।"

तब माया उसी कमरे की ओर चल दिया। उसके अन्दर आते ही गयाबाबू बोल उठे—"मुझे अभी मुन्नी से मालूम हुआ कि वह रात आचार्य विनोबाभावे का भाषण सुनने गया हुआ था। जब वहाँ से वापस आने लगा तो पानी बरसने लगा, इसी में उसे देर हो गई।"

मायाबाबू को अब इस अवसर पर यह कहने में ज़रा भी देर न लगी—"मैंने तो ऐसा कुछ कहा नहीं। और अगर कहा भी, तो वह केवल इस ख्याल से कि देर से आने में एक तो किवाड़ खुलवाने में मुहल्ले-भर में गुलगपाड़ा मच जाता है, सोनेवाले लोग जाग उठते हैं। यह कितनी भद्दी बात है! दूसरे अम्मा हुई या हम में से कोई हुआ, तो कच्ची नींद तोड़कर इतनी सीढ़ियाँ नीचे पार करते हुए जाने में तकलीफ़ तो होती ही है; इसके सिवा खाना भी तुमको ठण्डा मिलता है।"

अब शंकर की वाणी का संयम स्थिर न रह सका। तमतमाते हुए चेहरे और उत्तेजना-गर्भित गुरु-गम्भीर स्वर में वह बोल उठा—"उमर में तुम मुझसे बड़े हो माया भैया—लेकिन मुझे आज ही मालूम हुआ कि स्वभाव तुमने अत्यन्त क्षुद्र पाया है! तुम मेरे ही सामने नहीं, अपने इन जन्म-दाता माता-पिता के सामने भी झूठ बोल रहे हो। तुमने यहीं बैठकर मेरे विरोध में क्या नहीं कहा? तुमने उपहास की हँसी के साथ यह नहीं कहा कि हँ-हँ बड़े कलाकार बनते हैं। ऐसे कलाकार हमारे यहाँ झाड़ू लगाते हैं! मैं जानता हूँ ऐसी भी एक दुनिया है जिसमें झाड़ू लगाने वाले अभिनेता भी कलाकार कहलाते हैं! लेकिन मैंने कब कलाकार बनने का दावा किया? और यदि करूँ भी तो तुम इस दावे की पारिभाषिक गहराइयों को समझ भी सकोगे? साहस हो तो अभी बताओ—कला किसे कहते हैं? मैं तो कभी सोच ही नहीं सकता था कि तुम्हारे मन में मेरे प्रति उपेक्षा का भाव इतनी जल्दी उत्पन्न हो जायगा कि मेरे रहन-सहन तक से ईर्ष्या के साथ-साथ तुम्हें द्वेष हो उठेगा। कभी तुमने शीशे में उस आदमी का चित्र देखा है, जो अन्दर से तुम्हारी तरह विद्वेषी और

ऊपर से बड़ा सीधा, भोला और साधु जान पड़ता है !"

अब माया ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"मैं ऐसे बहुतेरे आदमियों को जानता हूँ, जो सामने पड़ जाने पर 'भैया-भैया' कहते हैं; पर जब उनके घर की स्त्रियों के बीच जा पड़ते हैं तब उनके पास बैठते-बैठते दो-ही-चार मिनटों में उनका वह नाता आपसे-आप गायब हो जाता है!"

"मौसी, तुम सुन रही हो ?" एकाएक शंकर के मुँह से निकल गया।

इतने में गयाबाबू यह देखकर हक्के-बक्के रह गये कि दरवाज़े पर बड़े भैया आ पहुँचे हैं। झट से उनका चरण स्पर्श करने के लिए वे आगे बढ़े। तब तक शंकर उनके चरण छूते हुए बोला—"मैं तो आज आ ही रहा था।"

यमुना ने सिर का अवगुण्ठन थोड़ा और नीचे खिसकाते हुए कह दिया—"मैं अभी सोच ही रही थी कि जीजा नहीं आये।"

माया भी तुरन्त उठ बैठा । फिर उनके चरणों का स्पर्श कर, बोला—"कोई असबाब साथ में है ?"

"हाँ, एक ट्रंक है और एक घर के घी का छोटा-सा टिन।"

इतने में वीणा चाय लेकर आ पहुँची। शंकर उठकर अपने कमरे में चला गया और गयाबाबू ने कह दिया—"माया, मैंने सुना है, तुम्हें आफ़िस जाने में रोज़ देर हो जाती है।"

माया झट उठकर चल दिया। यमुना जिस परिस्थिति से डर रही थी वह अब नग्नरूप में उसके सामने थी। वह अपने स्वामी का मुँह देखने लगी और गयाबाबू मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए बोले—"जान पड़ता है गाड़ी आज बिल्कुल ठीक टाइम से आ गई बड़े भैया।"

वीणा का हृदय धक्-धक् कर रहा था और मीरा चुपचाप दरवाज़े से लौट रही थी।

इतने में केदारबाबू बोल उठे—"बात चाहे संयोग की कह लो, चाहे भाग्य की, आज तक न तो कभी मेरी गाड़ी छूटी है और न कभी लेट हुई है।"

: १६ :

आज चाय के साथ मूंग की दाल के चीले और आलू-टमाटर का साग शंकर और केदारबाबू के सामने था। यमुना और गयाबाबू भी वहाँ उपस्थित थे। वीणा जब प्यालों में चाय ढालने लगी तो शंकर उठकर खड़ा हो गया और पेट को दाहिने हाथ से दबाते और नाक-भौं सिकोड़ते हुए बोला—"अचानक मेरे पेट में दर्द होने लगा है। इसलिए मैं तो ज़रा नीचे जा रहा हूँ। दादा, तुम चाय पियो।"

इतने में गयाबाबू बोले—"पेट में दर्द! मगर यह पेट में दर्द तुम्हारे हुआ कैसे! दर्द होना तो नहीं चाहिए।"

यमुना शंकर के मुंह की तरफ़ देखने लगी। वह समझ नहीं पा रही थी कि यह दर्द जो मुन्नी अपने पेट में बतला रहा है, वह वास्तव में उसके पेट में है या उसके मन में। क्योंकि अभी-अभी उसने कहा था कि 'यह तो मैं जानता था कि एक-न-एक दिन मुझे यहाँ से विदा ले लेनी होगी। मगर यह न जानता था कि अन्न-जल इतनी जल्दी उचट जायगा।' कहीं ऐसा तो नहीं है कि अपनी मन-ही-मन की हुई इस प्रतिज्ञा को चरितार्थ करने के लिए उसने यह अस्त्र समय पर चला दिया हो।

जिस टेबिल पर चाय की सामग्री रखी हुई थी, उसी पर गयाबाबू की एक चुनौती भी थी। इतने में कहीं उनके हाथ से उसके एक ओर के मुंह का ढक्कन इस तरह खुल गया कि सारी-की-सारी तम्बाकू वहीं बिखर पड़ी! तब इसके साथ ही केदारबाबू बोले—"ठहरो मुन्नी, नीचे जाने से पहले मेरा बैग ज़रा खोलो तो सही, उसमें शोबी हुई हरें एक छोटी-सी शीशी में पड़ी हुई हैं। हां बस, इसी शीशी में से दो तो

निकालकर मुंह में डाल लो और ऊपर से दो घूंट गरम जल पी लो।"

इतना कहकर उन्होंने वीणा की ओर देखा और कहा—"अरी रन्नो, एक कप में ज़रा-सा गरम जल तो ला दे बेटी।"

रन्नो अन्दर चली गई। उधर शंकर बोल उठा—"मैं अपने कमरे में जा रहा हूँ। वहीं...।"

संकेत देकर शंकर भी चला गया।

अब वीणा और शंकर दोनों विपरीत दिशा की ओर जा रहे थे।

इतने में वीणा को मालूम हुआ कि शंकर भी चला आया है। तब उसने जो घूमकर शंकर की ओर देखा, तो क्या देखती है कि वह हाथ के संकेत से अपने पास आ जाने का अनुरोध कर रहा है। जब तक वीणा उस स्थल तक पहुँची, तब तक शंकर अपने कमरे में जा पहुँचा। अब शंकर तो आराम से अपनी कुर्सी पर बैठ गया। वीणा उसके द्वार पर ही खड़ी रही। शंकर ने केवल इतना कहा—"मुझे गरम जल नहीं चाहिए। शीतल जल चाहिए—शीतल! समझती हो न? मैं अब यहाँ रह नहीं सकूंगा। इसका कारण तुम जानती हो। बुरा तो तुम्हें लगेगा; मैं जानता हूँ, ज़रूर लगेगा; लेकिन मेरा निश्चय बदल नहीं सकता।"

वीणा एकटक शंकर को देखती रही, हृदय के रुद्ध द्वार खुल गये और उसकी आँखें भर आईं। शंकर बोला—"किसी ऐसी दुर्बलता को अपने अन्तःकरण में पालकर रखना मैं सर्वथा अनुचित समझता हूँ, भावी सम्भावनाओं के चिर-विस्तृत क्षेत्र में जिसके लिए कोई स्थान मनोनीत नहीं हुआ है। जाओ, मैंने कहा न, मुझे शीतल जल चाहिए।"

आँसू पोंछती हुई वीणा लौट गई।

केदारबाबू उस कमरे में बैठे हुए चीला खा रहे थे और यमुना कह रही थी—"मैंने तुमसे उस बार कहा था न जीजाजी कि इनके किये-धरे कुछ न होगा। सो रन्नो का व्याह आप ही को करना होगा।"

इसी समय गयाबाबू बोल उठे—"हाँ, बड़े भैया, व्याह तो आप ही

को करना होगा। हम तो आपके आज्ञाकारी-भर रहे हैं और सदा बने रहेंगे।

यमुना बोली—"इधर दस-पाँच दिन से एक बात मेरे मन में आई है और मैंने इनसे उसकी चर्चा भी की है। आज इस समय तुमसे भी वह बात कह देना चाहती हूँ। इसमें कोई हरज नहीं है। सब जगह होता है, हमारे समाज में भी हुआ है। मैं भी उऋण हो जाऊँगी और सोचती हूँ कि आपको भी कभी उलाहना न देना पड़ेगा।"

केदारबाबू की भृकुटियों में एकाएक गाँठ पड़ गई। यहाँ तक कि उनके श्वेत लोम खड़े हो गये और उनके मुँह से निकल गया—"क्या मतलब ? मैं समझा नहीं !"

गयाबाबू बोल उठे—"समझने में देर कितनी देर लगती है ! यह बात दूसरी है कि समझना न चाहो।"

यमुना अब उठकर खड़ी हो गई और बोली—"जीजाजी, एक चीला मैं आपके लिए और ले आऊँ।"

केदारबाबू बोले—"चीला ? अच्छा हाँ, ले आओ।"

यमुना मुस्कराई और चल दी। अब गयाबाबू बोल उठे—"देखो बड़े भैया, हमारा और तुम्हारा सम्बन्ध तो मैं मानता हूँ कि बिलकुल सगा है, मगर यह रन्नो तो मुन्नी की न सगी बहन है, न सगी मौसेरी बहन है। इसलिए इसमें मातापक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता।"

गयाबाबू की बात पूरी हो चुकी थी। अतएव केदारबाबू गम्भीर हो उठे और उनके मुँह से निकल गया—"मैं इस विषय में कुछ कह नहीं सकता। न इनकार कर सकता हूँ, न स्वीकार कर सकता हूँ ! हो भी सकता है और ऐसा भी है कि नहीं हो सकता। मगर एक बात बिल्कुल निश्चित है कि अब यहाँ तुम्हारे साथ मुन्नी रह नहीं सकेगा। उसके रहने का प्रबन्ध मुझको अलग करना पड़ेगा। तुमको इसमें बुरा नहीं मानना चाहिए गया।"

सुनकर गयाबाबू चकित हो उठे। बोले—"क्यों क्यों ? ऐसी क्या बात है बड़े भैया ?"

केदारबाबू ने व्यंग्य से मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"हमने दुनिया बहुत देखी है गया, घास नहीं छीली है। मैंने कभी सोचा न था—और मैं कभी सोच भी न सकता था कि अपनी पेंशन की कमाई और बीमे की पालिसी का रुपया बचाने के लिए तुम ऐसा जाल रचोगे।"

सुनकर गयाबाबू स्तम्भित हो उठे और बोले—"मुझे आप बहुत ग़लत समझ रहे हैं बड़े भैया। आप बहुत धोखे में हैं। मुझे बहुत दुःख है कि आपने मुझको इतना हीन और क्षुद्र समझ लिया है !"

टेबिल पर जो तम्बाकू फैली हुई पड़ी थी, उसे चुनौती में भरते हुए वे बोले—"हमारे बीच में पैसे को लेकर कभी कोई विवाद हो ही नहीं सकता बड़े भैया, तुमने अभी मेरी सम्पत्ति के दो ही रूप बतलाये हैं; लेकिन ज़रूरत पड़ने पर और भी रुपया निकल आयेगा। यह मकान जिसमें आप बैठे हैं, मेरे यहाँ रेहन है। इसके सिवा रन्नो की माँ के पास अधिक नहीं, तो दो हज़ार का ज़ेवर तो है ही। आख़िर आप इस विवाह के दहेज में और चाहते क्या हैं ?"

केदारबाबू इस सारे हिसाब-किताब का लेखा-जोखा सुनकर फिर हँसे। तब तक यमुना सामने आ गई। वह असल में दरवाज़े के पास छिपी हुई खड़ी थी और इस बातचीत के चढ़ाव-उतार को ध्यान से हृदयंगम कर रही थी। तश्तरी में चीला रखती हुई वह बोली—"मैं जो बात उठाकर यहाँ से उठ गई थी, अब तक तो वह ठिकाने बैठ गई होगी।"

केदारबाबू अब 'हँ...हँ' करके हँस पड़े। बोले—"और जो-कुछ है सो तो है ही, मगर एक तरफ से 'बड़े भैया' और दूसरी तरफ़ से 'जीजा जी' कह-कहकर तुम दोनों ने मुझको आज फाँसा खूब है ! बड़ा अच्छा दाँव लगाया है। मगर मैंने जो पहले कहा था वही मुझे अब भी कहना

है कि इतनी जल्दी में कोई फैसला नहीं दे सकता ।"

इधर ये बातें चल रही थीं, उधर वीणा शंकर के पास खड़ी-खड़ी सिसक रही थी और शंकर बोल रहा था—"सपने देखना बुरा नहीं है—पालना बुरा है। पालना भी उतना बुरा नहीं है, जितना पालकर फिर उनको अपने हाथों से, अपने ही कर्म से, परिस्थितियों के जाल में पड़कर अपने सारे दर्प के ज़ोर और अहंभाव के मद से, उन्हें टूट जाने देना ! जाओ, रोने का कोई काम नहीं है। आँसुओं के मोह से बचकर चलना जब अपना धर्म हो जाय, तब अपना हृदय पत्थर का बना लो और प्रतिकूल परिस्थितियों के ऊपर अपने दोनों चरण एक के बाद एक रखकर आगे बढ़ जाओ ।"

सन्ध्या समय जब दूसरे मकान में केदारबाबू शंकर को सामने बैठाकर भोजन कर रहे थे, तब उनके हाथ में 'लोकमान्य' का वही अंक था जिसमें रेणु का चित्र छपा हुआ था। शंकर बहुत गम्भीर था और केदारबाबू परिस्थितियों के इस मोड़ पर मन-ही-मन हँस रहे थे।

एकाएक उनके मुँह से निकल गया—"तुम इस लड़की को जानते हो मुन्नी ? शायद नहीं जानते होगे। इसकी माँ एक बार मेरे घर आई थी—इसी लड़की के विवाह का प्रस्ताव लेकर, और मैंने इन्कार कर दिया था !"

शंकर ने कोई उत्तर नहीं दिया।

इतने में सुरेश आ पहुँचा और अपना कुरता उतारते हुआ बोला—"दादा, अब मुझे कुछ-न-कुछ आशा हो चली है। सम्भव है, मैं बच ही जाऊँ ! बात यह है कि चड्ढा साहब का रिकार्ड है कि जिस मुक़दमे को वह लेते हैं, उसमें सफल होकर ही रहते हैं।"

दामाद की यह बात सुनकर केदारबाबू बोले—"तुम अभी बच्चे हो ! तुम्हें बिल्कुल नहीं मालूम कि सफलता का कोई इतिहास ऐसा नहीं है जो दूध का धुला हुआ हो, मक्खन की तरह मुलायम और कृत्रिम रूप

से कठोर ! हर एक सफल व्यक्ति अपने जीवन में, अपने मन में, कभी आज और कभी कल, कभी व्यावहारिक रूप से और कभी सिद्धान्तों की गुत्थियों में पड़कर, अपने हठ और दुराग्रह से, एक-दो वार नहीं, पचासों वार असफल हो-होकर रोता है। लेकिन दुनिया की आँखें उसके असफल जीवन को देख नहीं पातीं। क्योंकि दुनिया की दृष्टि वहिर्दृष्टि है, जिसमें अन्तर्दृष्टि का सर्वथा अभाव होता है।···चड्ढा साहव वातें वहुत मारते हैं, मगर मैं उनको वीस वर्ष से जानता हूँ। तीन-चार मामले तो ऐसे उन्होंने लिये हैं, जिनमें सौ-सौ के नोटों की गड्डियाँ उनके चरणों के पास घण्टों पड़ी रही हैं और जव उनकी माँग पूरी हो गई है, तव उन्होंने उन पर अपनी कृपा की दृष्टि डालने की चेष्टा की है। फिर उन्हीं मामलों के अन्त में उनकी ऐसी नाक कट गई है कि दस-दस दिन तक वार-एसोसियेशन की लायब्रेरी में उनकी शकल तक नहीं दिखाई पड़ी है ! लेकिन सारी कठिनाई तो यह है कि ग़वन के मामले में उनसे अधिक तार्किक और कोई वकील इलाहावाद में है नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी जिरह सुनने लायक होती है। इसमें भी सन्देह नहीं कि वे जव वोलते हैं, तो जज उनकी ओर टकटकी लगाकर देखता रह जाता है ! उसके मन में समय-समय पर जो शंकाएँ उठती हैं, वे उनको तत्काल ताड़ लेते हैं और उन्हीं को समाधान के स्वर में पिस्टल की गोली की भाँति उसके मत्थे पर तानकर मारते जाते हैं ! फिर भी अभी हम कुछ नहीं कह सकते ; हमें जो-कुछ कहना होगा, उस समय कहेंगे, जव तुम विल्कुल वेदाग़ वच जाओगे।···मगर अव खड़े क्यों हो ? पैर धोकर आ जाओ। यों भी तुमने वहुत देर कर दी। हम कितनी देर से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, तुम्हें पता है ?"

सुरेश जव पाइप के पास जाकर पैर धो रहा था, उसी समय सदर दरवाजे पर किसी ने धक्का देकर खटखटाया।

सुरेश ने पूछा—"कौन ?"

आगन्तुक ने उत्तर दिया—"मैं हूँ माया।"

## : १७ :

अब शंकर के अध्ययन के दिन थे। एम० ए० में उसका विषय था इतिहास। समस्त राष्ट्रों के इतिहास का अध्ययन धीरे-धीरे उसने पूरा कर लिया था। कैसे उनके आदिम निवासी थे, किस प्रकार उनकी सभ्यता का जन्म हुआ, जब मशीन-युग आया और मानवी संस्कारों में परिवर्तन होने लगा, तब कैसे-कैसे विरोध उन्हें देश के उन महारथियों के सहन करने पड़े, जो सामाजिक मर्यादा के एकमात्र सत्ताधारी थे। राजनीतिक उथल-पुथल ने सामाजिक मान्यताओं में कैसे-कैसे परिवर्तन उपस्थित किये और किस प्रकार हर पचास और सौ वर्षों के बाद लोगों का सामाजिक ढाँचा ही एकदम बदल गया। क्रान्तियों के बाद नया समाज बनता गया। युद्धों के बाद खानपान और वैवाहिक सम्बन्धों में कितने अन्तर पड़े और किस प्रकार नई पीढ़ी ज्यों-ज्यों पनपती गई, त्यों-त्यों पुरातन मान्यताएँ समाप्त होती गईं और राष्ट्र का नवनिर्माण होता गया।

राजनीतिक परिवर्तनों में इतिहास जन्म लेता है और राजनीतिक परिवर्तनों में ही इतिहास करवट बदलता है। शासन-व्यवस्था के परिवर्तन पार्टियों के जन्म और मरण से उतने प्रभावित नहीं होते, जितने पार्टियों के उन जन्मदाताओं के कर्मठ और क्रान्तिकारी जीवन से, जो अपने कार्यालय में राष्ट्र के सर्वमान्य सेवक ही नहीं विधायक और विद्रोही निर्माता और व्यवस्थापक, नेता और महान् शासक हुआ करते हैं।

शंकर ने देखा—राजनीतिक घटनावली की तिथियाँ और उनके घटनास्थल, महारथियों की तालिका और गुणावली इतिहास के नाम पर महत्त्व चाहे जितना बटोर लें, किन्तु इतिहास बनाने और बदलनेवाले मस्तिष्क, विचार,

सिद्धान्त और उनके पोपक सावन ही वास्तव में वह धरातल वनाते हैं, जिन पर राष्ट्र अपने पैरों खड़ा होता है। जीवन की आहुति, जीवन का उत्सर्ग, वलिदान और सर्वस्व-समर्पण उन राष्ट्र-निर्माताओं का एकमात्र ध्येय हुआ करता है। वे सोते तव हैं, जव काम करते-करते शिथिल पड़ जाते हैं; पर जाग वे उसी समय पड़ते हैं जव सम्पूर्ण राष्ट्र की वाल-आत्मा थोड़ी असुविधा से ही कुनकुना उठती है। इसलिए इतिहास के विद्यार्थी व्याख्याकार और आलोचक के लिए ऐतिहासिक घटनाओं का ज्ञानमात्र पर्याप्त नहीं होता। प्रश्न यह है कि ऐतिहासिक परिवर्तनों का मुख्य और मूल आवार क्या है? प्रश्न यह है कि इतिहास वदलता ही क्यों है? क्या राष्ट्र के विकास और अभ्युदय के लिए ऐतिहासिक परिवर्तन अनिवार्य है? और प्रश्न यह है कि अगर किसी राष्ट्र में पचास वर्ष तक कोई युद्ध नहीं होता, तो क्या उसकी क्रियात्मक कल्पनाशक्ति मर जाती है? युद्ध से निरन्तर वचते रहना क्या राष्ट्र की ठोस और सर्वांगीण उन्नति के लिए अनिवार्य है? फिर, पाँच अथवा दस वर्षों के अनन्तर प्रवानमंत्री तथा राष्ट्रपति का परिवर्तन क्या ऐतिहासिक अभ्युदय का कोई आवश्यक अंग है? इतिहास के निर्माण में जितना उनका तत्कालीन स्थान और महत्त्व है, क्या उतना ही महत्त्व सर्वकालीन और चिरन्तन भी है? सम्राट् अशोक, भगवान् वुद्ध और महात्मा गान्धी-जैसी महान् आत्माओं को जन्म देने का श्रेय कितने राष्ट्रों को प्राप्त हुआ है?

धीरे-धीरे शंकर ने अनुभव किया कि इतिहास का निर्माता वास्तव में वह होता है, जिसके विचारों और सिद्धान्तों की सीमा सौ-पचास वर्ष के सीमित घेरे में नहीं आती। जन-जन के प्राण और मन का, क्षण-क्षण के जीवन और लोम-लोम के कम्पन का अध्ययन अव शंकर को इसीलिए आवश्यक नहीं रह गया था कि उसे एम० ए० की उपाधि प्राप्त करनी थी। वरन् अध्ययन तो अव उसके जीवन का नशा वन गया था। जीवन की प्रत्येक गति में वह अध्ययन की दिशाएँ देखने लगा था। वह खाना खाने वैठता

तो चुपचाप कुछ सोचता रहता। साइकिल लेकर मित्रों के साथ घूमता, तब भी अध्ययन की ही गुत्थियाँ सुलझाता रहता। इतिहास के जितने ग्रन्थ शंकर को सुलभ थे, उसने दस महीने के अन्दर समाप्त ही नहीं कर डाले, उन पर टिप्पणियाँ भी लिख लीं, कहीं संक्षेप में और कहीं आवश्यकतानुसार विस्तारपूर्वक। फिर इतिहास के सर्वांगपूर्ण अध्ययन की उसने एक व्यापक रूपरेखा बना ली।

एक दिन की बात है, जब उसके साथी लोग अपनी मण्डली में बैठकर ताश और कैरम खेल रहे थे, तभी बीस वर्ष तक लगातार आवश्यकतानुसार कारागारवास करने वाले प्रान्तीय और सर्वभारतीय नेता श्री परमानन्द जोशी के द्वार का एक किवाड़ कुट-कुट बोलने लगा। भीतर से आवाज़ आई—"कौन ?"

'मैं हूँ विश्वविद्यालय का एक विद्यार्थी। आपका थोड़ा-सा अमूल्य समय चाहता हूँ।'

ऐसे समय कभी जोशीजी पास बैठे हुए अपने सचिव को आगन्तुक के पास भेज देते और कभी वे स्वयं बाहर निकल आते। उस दिन संयोग से वे स्वयं बाहर निकल आये। उससे प्रश्न किया—"कहिए, आप क्या चाहते हैं ?"

शंकर ने बड़े संकोच के साथ उत्तर दिया—"मैं आपके इस विश्वविद्यालय का एक विद्यार्थी हूँ और इतिहास का अध्ययन कुछ अपने ढंग से कर रहा हूँ। आपको तो त्यागमूर्त्ति पण्डित मोतीलाल नेहरू के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैंने सुना है कि आप उनके मित्रों में से हैं। मैं आपके मुख से वे संस्मरण सुनना चाहता हूँ जिनके माध्यम से यह अनुमान लगाने में मुझे सहायता मिले कि वे कौन से आधार थे जिन्होंने उनके अमित वैभवशाली राजसी जीवन को राष्ट्र के एक महान् सेवक के रूप में ही नहीं नेता के रूप में परिणत कर दिया। जिनका एक-एक क्षण बहुमूल्य होता था, वे अपने जीवन का उत्तरकाण्ड भारतीय

राष्ट्र को कैसे समर्पित कर सके ? वह कौन-सा प्रलोभन और आकर्षण था, जिसका निमन्त्रण उन्होंने स्वीकार कर लिया ? वह कौन-सा दीपक था, जो उनकी मानस-कुटीर में अहर्निश जगता रहता था ? वह कौन-सी लौ थी, जो उनके हृदय-देश में उठने वाले पवन के झकोरों से प्रभावित हुए विना सदा एक-रस स्थिर वनी रहा करती थी ? वह कौन-सा प्रकाश था, जिसमें एक ओर वे राष्ट्र को नई भावना, नई प्रवृत्तियाँ, नया जीवन दे रहे थे और दूसरी ओर धनोपार्जन और अपने वकालत के पेशे से संलग्न स्वार्थों पर भी उनकी दृष्टि सजग और तत्पर वनी रहती थी ? फिर कैसे-कैसे उस अमित आय की ओर से उनके मन में विरक्ति उत्पन्न हुई और अन्त में किस तरह उन्होंने सारा समय और सारा जीवन ही राष्ट्रीय जागरण के लिए अर्पित कर दिया !"

जोशीजी अव एक वहुत वड़े उत्तरदायित्व के पद पर कार्य कर रहे थे। किसी विद्यार्थी को ऐसे काम के लिए समय दे सकना उनकी अत्यधिक व्यस्तता के लिए समय का अपव्यय था। अतएव स्वाभाविक रूप से उन्होंने उत्तर दिया—"मुझे वड़ी प्रसन्नता होती, अगर मैं इसके लिए समय निकाल सकता। लेकिन मुझे अफ़सोस है कि मैं आजकल वहुत व्यस्त हूँ ।···वस और कुछ ?"

शंकर जैसा सोचता था, यह उत्तर उसके सर्वथा अनुरूप था। इसलिए वह निराश नहीं हुआ और विना किसी प्रकार के संकोच के उसने तत्काल कह दिया—"मैं विल्कुल इसी दुविधा से गुज़रते हुए आया था कि सम्भव है आप मुझे समय दें, सम्भव है न दें। लेकिन मैं अगर आपके परिवार में जन्म लेता, तो आज आप मेरे पितामह होते। और अगर आज आपका पौत्र आपसे यही प्रश्न करता, तो क्या आप उसको भी यही उत्तर देते ? मैं जानता हूँ, आपके पास समय नहीं है, लेकिन रात को जव आप पलँग पर शयन करने के लिए जाते होंगे, तव क्या दस-वीस मिनट चरण-सेवा के लिए आप अपने किसी भृत्य को भी न देते होंगे ? और यदि नहीं देते

तो क्या दे नहीं सकते ? मैं ऐसा ही आपका सेवक बनना चाहता हूँ। सच कहता हूँ दादा, मैं निराश होना नहीं जानता। मैं यह संकल्प लेकर आया था कि मेरी यह छोटी-सी प्रार्थना तो आप अवश्य स्वीकार करेंगे।"

यद्यपि जोशीजी की अवस्था अब साठ और सत्तर के बीच में थी। उनके बाल पक चुके थे। उनके दांत साफ़ हो गये थे; पर उनकी शारीरिक सम्पत्ति अवस्था के अनुरूप काफ़ी बढ़ चुकी थी। वे पैदल बहुत कम चल पाते थे और कभी-कभी उनका रक्तचाप भी बढ़ जाया करता था। पहले तो उन्होंने यही समझा कि यह विद्यार्थी बहुत साधारण कोटि का है और जो प्रश्न यह अभी कर रहा है, इनके उत्तर पाकर कोई लेख तैयार कर लेगा और किसी पत्र में छपाकर पन्द्रह-बीस रुपये साधारण रूप से प्राप्त कर लेगा। आम के आम और गुठलियों के दाम ! लड़का अपनी समझ से काफ़ी चालाक मालूम पड़ता है।

किन्तु जब जोशीजी ने इस बार शंकर का वक्तव्य सुना, तो उनको आश्चर्य हुआ। उनके मन में आया—'सचमुच हमारी नई पीढ़ी बिल्कुल ठीक मार्ग पर चल रही है; हमें ऐसी प्रतिभाओं को दबाना नहीं चाहिए।' अतएव तब उन्होंने उत्तर दिया—"तुम्हारी यूनीवर्सिटी में कोई अध्ययन-पीठ भी तो होगा ?"

शंकर ने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया—"विश्वविद्यालय में मेरी अपनी एक इतिहास-परिषद् है और मैं इस वर्ष उसका मन्त्री चुना गया हूँ। मैं आपका बहुत आभारी हूँगा, यदि त्यागमूर्ति पण्डित मोतीलाल नेहरू की जयन्ती पर आप इसी विषय को लेकर भाषण देना स्वीकार करें।"

अब जोशीजी इन्कार न कर सके। बोले—"तुम्हारा नाम क्या है ?"

शंकर ने उत्तर दिया—"मेरा छोटा-सा नाम केवल 'शंकर' है।"

अब जोशीजी कुछ मुस्कराये और उन्होंने उसके कन्धे को थपथपाते हुए उत्तर दिया—"अच्छा शंकर जी, मैं तुम्हारे मंदिर में अवश्य आऊँगा। मुझे दो दिन पहले से बता देना होगा।"

शंकर ने जोशीजी के चरणों का स्पर्श कर कह दिया—"इस कृपा के लिए मैं आपका सदा आभारी रहूँगा।"

यह था शंकर का प्रथम पदक्षेप जिसके द्वारा वह अपनी निश्चित की हुई पद्धति और शैली के अनुरूप राष्ट्र-निर्माताओं के ऐतिहासिक अध्ययन का एक ठोस कार्यक्रम बनाने में समर्थ हुआ। कालान्तर में जब वह दिवस आया, वह क्षण आया कि विश्वविद्यालय के अन्दर एक बहुत बड़े मंडप में जोशीजी का भाषण हुआ, तो लगभग दस हज़ार जन-समूह के बीच विश्व-विद्यालय के उपकुलपति को यह स्वीकार करना पड़ा कि ऐसा सारगर्भित और प्रभावशाली भाषण सुनने का मेरे जीवन में यह प्रथम अवसर है। और सच बात तो यह है कि इसी प्रकार के भाषण विद्यार्थी-वृन्द को राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति निष्ठावान् बना सकते हैं।

उपकुलपति महोदय लगभग बीस मिनट तक कृतज्ञता-ज्ञापन करते रहे और इसका फल यह हुआ कि दूसरे दिन देश के सभी अंग्रेज़ी और हिन्दी के दैनिक पत्रों में जो विवरण प्रकाशित हुआ, उनमें बाक्स दे-देकर लिखा गया—"हमारे इस महान् राष्ट्र का निर्माण ऐसे लोकनायकों ने किया है जो अठारह-अठारह घण्टे तक, अविराम गति से, कार्य करते रहते थे। जो भूखे होने पर भी खाना केवल इसलिए नहीं खाते थे कि नींद आ जायगी और फिर काम नहीं होगा। जो अपने शरीर और परिवार के स्वास्थ्य की चिन्ता न करके राष्ट्रीय जीवन और राजनीतिक उत्कर्ष की चिन्ता में संलग्न रहा करते थे। जो अस्वस्थ होने पर भी विचार-विमर्श सम्मति और संकेतों के द्वारा राजनीतिक योजनाओं के कार्यक्रम को निरंतर पूर्ण और सफल बनाने में तत्पर रहा करते थे। जिन्होंने अपनी आहुति दे दी, लेकिन राष्ट्र के किसी छेड़े हुए कार्य को रत्ती-भर भी हानि न पहुँचने दी। जो मरने से पहले अमर हो गये और अपना स्थान रिक्त करने से पूर्व उस पर एक ऐसा महामानव आसीन कर गये, जिसने अपनी प्रौढ़ा-वस्था में ही, न केवल राष्ट्र को स्वाधीन बनाने का गौरव प्राप्त किया,

वरन् शान्ति, अहिंसा और एकता की व्यावहारिक नीति के द्वारा भारतवर्ष का मान और महत्त्व संसार की दृष्टि में उत्तरोत्तर वढ़ाये रखने में ही अपनी जीवन की सार्थकता का अनुभव किया।"

कई दिनों तक पत्रों में इस भाषण की चर्चा होती रही। अधिकांश पत्रों ने इस पर सम्पादकीय लेख लिखे और कई दिन तक पत्रों, तारों और फ़ोन के सन्देशों द्वारा जोशीजी को वधाइयाँ मिलती रहीं। और इसका परिणाम यह हुआ कि जोशीजी की व्यक्तिगत वैठक का द्वार शंकर के लिए खुल गया।

शंकर के साथियों में एक थे त्रिलोचन। आपकी प्रशंसा यह थी कि क्लास में कलम लेकर आप कभी न वैठते। जब कोई कहता—"यार! प्रोफेसर समर्थ के भाषण के नोट्स तो दिखलाओ, तो आप मुस्कराकर उत्तर देते—"उर्दू का एक शब्द है, जो तीन अक्षरों से वनता है। आप उसको जानते हैं?"

सुननेवाले हँस पड़ते और तव आप स्वयं ही कह उठते—"आप हैं चुग़द! जो लोग नोट्स लेने वैठते हैं, वे भाषण की आत्मा का रस प्राप्त नहीं कर सकते, नहीं कर सकते। इसलिए मैं नोट्स-वोट्स नहीं लिया करता।" लेकिन जव परीक्षा के दिन निकट आये, तव यही त्रिलोचन अपने साथियों के द्वार पर जाकर कुत्ते की पूँछ वन गये। वोले—"यार, अपने नोट्स तो दिखलाओ।"

एक दिन यही त्रिलोचन साहव कहीं शंकर के यहाँ जा पहुँचे। उसके कमरे का दरवाज़ा भीतर से वन्द था। शंकर ने दरवाज़ा खोला। त्रिलोचन साहव वोले—"चाणक्य के सम्वन्ध में मैं तुम्हारे नोट्स देखना चाहता हूँ।"

शंकर ने उत्तर दिया—"क्षमा कीजिएगा, नोट्स के सम्वन्ध में मेरी एक नीति है और वह यह है कि एक तो मैं किसी को दिखलाता नहीं हूँ। दूसरे, अगर दिखलाता भी हूँ तो सिर्फ़ दस-पाँच मिनट के लिए। सो भी

यहीं, मेरे इसी कक्ष के अन्तर्गत, इसी टेविल पर, इसी वत्ती के नीचे और उस समय, जब मैं अपने अध्ययन से छुट्टी लेकर सोने के लिए पलंग पर जाता हूँ। आपको स्वीकार हो तो वारह वजे रात को आ जाइएगा।"

त्रिलोचन शंकर का यह उत्तर सुनकर चकित हो गया। उसने सुना था कि शंकर बहुत गम्भीर प्रकृति का व्यक्ति है। उसने यह भी सुना था कि वह बड़ा घमण्डी है, किन्तु यह उसने अभी तक न किसी से सुना था, न उसको जानने का अवसर मिला था कि शंकर मूलतः वस्तुवादी, कठोर संयमी और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी है।

त्रिलोचन ने उत्तर दिया—"और कोई होता तो आपके इस उत्तर को अपने लिए अपमानजनक ही मानता, लेकिन मैंने जैसी आपकी प्रशंसा सुनी है विल्कुल वैसा ही आपने आज अपना परिचय भी दे दिया है। मैं वारह वजे आ जाऊँगा।"

कुछ ऐसी वात हुई कि इसी विषय को लेकर प्रश्नपत्र में पन्द्रह अंक का एक प्रश्न आ गया। और उस वर्ष त्रिलोचन द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हो गया। परिणाम यह हुआ त्रिलोचन शंकर का भक्त वन गया।

इस प्रकार शंकर एक तो सदा अध्ययन में लगा रहता। जव वहुत थक जाता, तो फ़ोन से जोशीजी के कार्यक्रम का पता ले लेता। यदि वे उन दिनों नगर में उपस्थित रहते, तो वह रात को उनके यहाँ जाकर घण्टों वैठा रहता। उसे अव जोशीजी के पैर दावने में संकोच नहीं होता था। धीरे-धीरे वह उनके परिवार का एक सदस्य-सा वन गया। जव कभी वह जाता, तव उसे अगले दिन के कार्यक्रम का पता चल जाता। यदि कभी कोई पार्टी होती, तो जोशीजी उसके प्रवन्ध के लिए शंकर को वुला लेते। कभी यदि उनके घर पर किसी विशेष सम्मान्य अतिथि को निमन्त्रण दिया जाता, तो उसकी व्यवस्था के लिए शंकर को जाना ही पड़ता।

यह क्रम महीनों चलता रहा और फिर यही क्रम वर्षों चलता गया।

छाया विश्राम का एक आवश्यक अंग है, लेकिन छाया उन्नति के लिए एक बहुत बड़ा अवलम्ब भी है। छाया पाकर जैसे हम ग्रीष्म के आतप और पावस की बूंदा-बूंदी से बच जाते हैं, वैसे ही किसी मर्यादा-शील, प्रतिभावान् अधिकारी अथवा सम्मान्य व्यक्ति के वरद हाथों की छाया-तले अपने जीवन-निर्माण में कृतकार्य और अग्रसर भी हो जाते हैं। छाया के आधार—नाना विटप-पल्लव—जैसे पवन-झकोरों से हमारे रोम-रोम को कम्पित, पुलकित और प्रफुल्लित कर देते हैं, तन की प्यास को शान्त कर हमारे मानस को सन्तोष और तृप्ति की थपकियाँ देकर हमें शक्ति और बल देते हैं, वैसे ही जीवन-मार्ग में अग्रसर बनाने में किसी महामानव की प्रलम्ब भुज-छाया सदा पिता के समान सहायक, पोषक और माता के समान ममतामयी भी होती है। माना कि छाया प्रकाश की पीठिका है, किन्तु छाया प्रकाश का अन्तर्तम भी है। प्रकाश तापमय है, छाया तापमुक्त।

जोशीजी की छाया में पलकर शंकर ने दो वर्ष में एम० ए० कर लिया और वह दिन भी निकट आ गया जब पी० सी० एस० की परीक्षा में उसका स्थान 'अ' के बाद द्वितीय हो गया।

अब शंकर के मस्तिष्क में केवल एक शब्द गूंजता रहता था—निर्माण···निर्माण···निर्माण।

---

## : १८ :

काल के चरण कुछ आगे चले आये ।

जब कभी शंकर कानपुर आता है तो केदारबाबू के घर में एक ऐसी चहल-पहल उत्पन्न हो जाती है कि सारे मुहल्ले में विचार और विनोद, खान-पान और मनोरंजन के माध्यम से निर्माण की ध्वनियाँ और प्रति-प्रतिध्वनियाँ गुंजित हो उठती हैं। वह जीवन जो साधारण जनता के देखने में नहीं आता, जो प्रायः आमोद-प्रमोद के सीमित कार्यक्रमों, व्यक्तिगत कमरों, संलग्न विश्रामकक्षों और एयर-कण्डीशण्ड रेल के डब्बों के भीतर छिपा रहता है, केदारबाबू के घर में हँसता-गूंजता और कल्लोल करता है।

कई दिन की उमस के बाद कल लगभग चालीस मिनट तक मूसला-धार पानी बरसता रहा। आज पवन में शीतलता थी। राजमार्ग के उस पार खड़ा हुआ पीपल का पेड़ अपनी प्रत्येक डाल, टहनी और पत्तियाँ हिला-हिलाकर झूम रहा था। पत्ते हरे-पीले और लाल, पत्ते हरे-पीले मिश्रित, पत्ते लाल-पीले मिश्रित, कोंपलें छोटी-छोटी, नन्हीं-नन्हीं, पतली-पतली किंतु निर्बाध चंचल।

केदारबाबू सदा की भाँति अपने कमरे में लेटे हुए थे। मुन्नी की माँ द्वार के निकट आकर एक बार खाँसती हुई तर्जनी और अंगूठे के बीच में अवगुण्ठन का छोर सँभालते हुए खड़ी हो गई। एकाएक केदारबाबू ने सिर घुमाकर आश्चर्य के साथ कह दिया—"ओः मुन्नी की माँ! क्या है?"

मुन्नी की माँ नीची दृष्टि किये हुए बोलीं—"दादा, बरेली से वह जो

वकील साहब आये हुए हैं, उनको क्या जवाब दिया जाय ?"

केदारबाबू एकाएक झटके के साथ उठ बैठे और भौंहें सिकोड़ते हुए बोले—"मेरे पास कोई जवाब नहीं है।" और इस कथन के साथ वे सोचने लगे—'मैं समझता था कि जो तस्वीर मैं बना रहा हूँ, वह मेरी है; क्योंकि वह मेरी रचना है। उसके रंग मेरे हैं; क्योंकि उसके चुनाव में मेरी रुचि का योग है। मैंने कई प्रकार के रंग जो प्रयोग कर-करके डाले हैं, उनके साथ जीवन की घड़ी-घड़ी की साँस का उतार-चढ़ाव तक शामिल है। लेकिन आज मुझे ऐसा जान पड़ता है कि तसवीर बन जाने के बाद जब वह बोल उठने योग्य हुई है तब वह बिना किसी संकोच के मुँह उठाकर यह कहने लगी है कि मैं तुम्हारी नहीं हूँ। मैं किसी की नहीं हूँ। मैं स्वयं हूँ, अपने-आप में पूर्ण! मेरा एक अलग अस्तित्व है!...फिर बोल उठे—"मैं कुछ नहीं जानता...मैं कुछ नहीं कह सकता। वकील साहब को मैं कोई आश्वासन नहीं दे सकता। अच्छा हो वे मेरा भरोसा न करें। उनकी लड़की के साथ विवाह करने के लिए मैं मुन्नी को मजबूर नहीं कर सकता!"

इतने में वकील साहब स्वयं चिक़ की ओट दरवाज़े पर आकर धीरे से बोल उठे—"अ...बड़े बाबू हैं?"

मुन्नी की माँ सिकुड़ी हुई एक ओर हो गई। केदारबाबू एकदम से उठ बैठे और खड़े होकर सिकुड़े हुए परदे को फैलाते हुए बोले—"एक मिनट।" तब तक मुन्नी की माँ अन्दर हो गई और केदारबाबू बोल उठे—"हाँ, अब आइए, विराजिए।"

वकील साहब के साथ इस समय कैलाशबाबू भी थे।

नंगे सिर, बदन पर बनियान के ऊपर तनज़ेब का कुरता डाले वकील साहब तो कुर्सी पर बैठ गये, पर कैलाशबाबू खड़े-खड़े बोले—"वह मिठाई वाला आया है! उससे क्या कह दूँ?"

केदारबाबू बोल उठे—"कह दिया जाय, अभी हम कुछ नहीं कह

सकते। जब ज़रूरत होगी तब बुलवा लिया जायगा।

उत्तर सुनकर कैलाशबाबू थोड़ी देर खड़े रहे।

इतने में वकील साहब बोल उठे—"तो अब मेरे लिए आपका क्या हुक्म है?"

केदारबाबू बोले—"देखिए वकील साहब, मैं आपको धोखे में नहीं रखना चाहता। यह काम इतनी जल्दी का नहीं है। आप जानते हैं, लड़का कैसे विचार का है। आप यह भी जानते हैं कि हम उससे कोई काम ज़बर्दस्ती नहीं करवा सकते। हाँ, अगर आप धैर्य से काम लें तो सम्भव है, आपको सफलता मिल जाय। इस समय मैं इसके सिवा आपको कोई वचन नहीं दे सकता।"

कैलाशबाबू चले गये और वकील साहब मत्थे पर हाथ रखते हुए बोले—"आप जानते हैं, यह स्थिति मेरे लिए कितनी चिन्ताजनक है!"

केदारबाबू ने सिर हिलाते हुए कह दिया—"जानता हूँ। मैंने भी दो लड़कियों के विवाह किये हैं। आप ही की तरह मैं भी दर-दर भटका हूँ। मैंने टक्करें खाई हैं और उपेक्षा तथा अपमान के तिक्त और ज़हरीले घूँट भी कण्ठ से नीचे उतारे हैं! पर आप खुद सोचिए—आप की लड़की अगर मेरे घर आ गई तो हम कहाँ होंगे! हमारे घर की परिपाटी रही है कि खाना घर की स्त्रियाँ बनाती रही हैं, बहू-बेटियों से लेकर मेरी माँ तक। हमारे घर में खाना परोसने के लिए सदा बड़ी बहनें, अम्मा अथवा बुआ ही बैठती रही हैं। यह काम हमारे घर में नौकरानियों से कभी नहीं हुआ। इसलिए हमने पहले ही आपके साथ सम्बन्ध करने में संकोच किया था। लेकिन जब आपने यह विश्वास दिलाया कि मेरी लड़की के संस्कार भी ऐसे ही हैं, उसको घर-गृहस्थी के कामों में कोई आपत्ति नहीं होगी, तब अपने को झुकाकर मैंने आपके साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लिया था। सारी कठिनाई यह है कि मुन्नी कहता है कि मुझे थोड़ा सोच लेने दीजिए। अब मैं आपसे पूछता हूँ—

मैं उससे कैसे कह दूँ कि नहीं, इस मामले में मैं तुमको सोचने का अधिकार नहीं देता ! जबकि विवाह उसका हो रहा है—मेरा नहीं। मेरा खयाल है, आप मेरी स्थिति को पूर्ण रूप से समझ रहे हैं।"

अब वकील साहब उठकर खड़े हो गये और बोले—"यह आप कह रहे हैं ! मुझे शक है कि यह आपका उत्तर है ! आपको पता है कि दो साल पहले जब मैं आपके पास इसीलिए आया था, तब भी आपने मुझे यही उत्तर दिया था कि लड़का सयाना है, वह खुद समझदार है। इसलिए उसको सोच लेने का अवसर मुझे देना ही पड़ेगा। मुझे दुःख है कि आज भी घुमा-फिराकर आप वही बात कह रहे हैं। माफ़ कीजिएगा, मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि आपके लड़के के मन में पहले से ही किसी जगह पर एक लड़की की तसवीर जमकर बैठ गई है। पर लड़का मुँह खोल-कर यह नहीं कह सकता कि मैं उसी से विवाह करूँगा। सम्भव है, आप जानते हों कि लड़की कौन है, पर आपमें इतनी हिम्मत नहीं कि आप उसके साथ सम्बन्ध करने को तैयार हो सकें। इन्हीं परिस्थितियों का फल आज सारा समाज भोग रहा है। मैं स्वयं भोग रहा हूँ। आज ढाई-तीन वर्ष से आप मुझको लटकाये हुए हैं और खेद है, अब भी आप मुझको लटकाये रखना चाहते हैं ! अब भी आप यही फ़रमा रहे हैं कि धीरज धरिए। मैं जानना चाहता हूँ कि उस धीरज की सीमा क्या है—परिभाषा क्या है ?"

'किसी भी महान् कार्य की योजना जब सफलता की चरमसीमा पर जा पहुँचती है तब इधर-उधर के छोटे-मोटे प्रयोजनों की हानि तो होती ही है'—सोचते हुए केदारबाबू मुस्कराने लगे।

तब वकील साहब बोले—"आप मुस्करा रहे हैं और मेरा दिल बैठा जा रहा है ! अगर समाज की यही दशा रही, तो यह विवाह-प्रथा बहुत जल्दी नष्ट हो जायगी ! और यदि वह नष्ट हो गई, तो हमारा आज का यह व्यक्तिगत जीवन भी नष्ट हो जायगा। हम उन होटलों में भोजन करेंगे, जिनमें खाना परोसने वाले ब्वाय नहीं होंगे, वेश्याएँ होंगी ! यद्यपि

वेश्या हम उन्हें कह न पायेंगे। हम अपने घर में बैठकर अगर भोजन करेंगे, तो हमको अपने मन का खाना नसीब न होगा और हम भूखे उठ आयेंगे! अपने घर में बैठकर खाना खाना हमको स्वीकार ही न होगा। आप जानते हैं कि फिर इसका परिणाम क्या होगा? धीरे-धीरे हमारी सारी सामाजिक पवित्रता नष्ट हो जायगी। हमारे घर कलह और क्रन्दन के नाटकघर बन जायेंगे! अधिकांश सन्तानें हमारे शुद्ध रक्त-वीर्य की न होकर वर्णसंकर होंगी और आर्य-जाति का नाम-भर इतिहास में शेष रह जायगा!"

अब केदारबाबू हँस पड़े और बोले—"वाह वकील साहब, आपने भविष्य का चित्र बड़ा सुन्दर अंकित कर दिया! आपका यह तर्क भी बड़ा खूबसूरत है कि अगर आपने हमारे साथ सम्बन्ध न किया, तो समूची आर्य-जाति नष्ट हो जायगी! हम आपके ऐसे जोरदार तर्क की प्रशंसा करते हैं। सपना चाहे जितना बुरा हो, लेकिन उसका स्वार्थगत आधार बड़ा चमत्कार-पूर्ण है। और यह बात भी आपने खूब कही कि मुन्नी के मन के भीतर कोई लड़की आ बैठी है। कमाल करते हैं आप! क्योंकि यह जानकर भी आप उसी के हाथ से अपनी लड़की के गले में फाँसी लगवा देने को तैयार हैं! काम बड़े साहस का है; इसलिए आप सचमुच बड़े वीर पुरुष हैं! अच्छा साहब, हम आपको लटकाना नहीं चाहते। आप जहाँ चाहें अपनी लड़की का सम्बन्ध तय कर लें—आपको पूरी स्वतन्त्रता है।"

वकील साहब इस बार अपने घर में धर्मपत्नी से लड़ाई करके चले थे। चलने से पूर्व उन्होंने अपने दो बड़े लड़कों और तीन छोटे-बड़े भाइयों, एक बहिन और घर की तीन-चार अन्य बहू-बेटियों के बीच में यह प्रतिज्ञा की थी कि इस बार मैं सम्बन्ध तय करके ही लौटूंगा। उनके जेब में एक चेकबुक कुलबुला रही थी। वे यह तय करके चले थे कि चाहे मुझे आज बीस हजार रुपये भी पेशगी देने पड़ें, पर विवाह-सम्बन्ध मैं तय करके ही लौटूंगा। वे जिस होटल में ठहरे हुए थे, उसका मैनेजर

उनकी प्रतीक्षा कर रहा था और जिस ताँगे पर वे आये थे, उसको हाँकनेवाला अब ऊँघने लगा था और वकील साहब के पैरों के नीचे की धरती खिसक रही थी। अतः केदारबाबू की यह बात सुनकर वे स्तम्भित हो उठे और एक ठण्डी साँस लेकर बोले—"काश, आप जान सकते कि निराश लौटने पर मेरे घर की क्या हालत होगी! मेरी समझ में नहीं आता कि अब मैं घर कैसे लौटूं! घरवालों को समझा-बुझाकर मना भी लूंगा, लेकिन उस लड़की पर क्या बीतेगी जो दो साल के अन्दर सैंकड़ों बार अपने सोने का संसार बसाने का स्वप्न देखती रही है।"

जिस समय इस कमरे में ये बातें चल रही थीं, उसी समय उसके पास वाले दूसरे कमरे में टेबिल के ऊपर एक फोटोग्राफ रखा हुआ था। उसे कामना, शंकर को देखने के लिए वहाँ छोड़ गई थी। और शंकर उसे देखकर एक वाक्य का स्मरण कर रहा था—'एरोगेंट् येट इन्ट्रेस्टिंग[1]!'

इतने में द्वार के पास किसी व्यक्ति की छाया झाँकती हुई जान पड़ी। कत्थई वर्ण का परदा बीच में थोड़ा-सा हिला। सामनेवाला पीपल का पेड़ अपनी ऊपरी डालियों और टहनियों को लेकर सम्पूर्ण पत्तियों के साथ एक बार उत्तराभिमुखी होकर झुका और फिर उठकर पूर्ववत् हो गया।

केदारबाबू बोल उठे—"आपकी इस स्थिति के साथ मेरी पूर्ण सहानुभूति है; लेकिन आप यहाँ थोड़ी-सी ग़लती कर रहे हैं। जब तक किसी लड़की का विवाह नहीं हो जाता, तब तक हिन्दू-धर्मशास्त्र के अनुसार उसको अपने सोने का संसार बसाने का, कोई निश्चित स्वप्न देखने का अधिकार नहीं होता। उसका हृदय तो कुम्भकार का वह चाक होता है, जिस पर अनेक प्रकार के बर्तन—शत-शत और सहस्र-सहस्र—सदा बनते ही रहते हैं, लेकिन उस चाक को उनमें से किसी की इतनी भी परवा नहीं होती, जितनी किसी व्यक्ति को शरीर पर कभी दो-एक मिनट के लिए रेंगनेवाली चींटी की। और मैं साफ़ ही कह दूं कि मुझे सपना

---

१. उद्धत होने पर भी मनोरंजक है।

देखनेवाली ऐसी अधीर वहू न चाहिए। मुझे तो वास्तव में समय आने पर सुनहरे स्वप्नों का निर्माण करनेवाली वहू चाहिए। आपको मालूम नहीं, मैं निर्माण का पक्षपाती हूँ। कल्पना की उन क्रीड़ाओं का नहीं, जिनका मूल्य धारा के किनारे वननेवाले फेनिल वुलवुलों के समान होता है। मेरा खयाल है, आप मेरी वात समझ रहे होंगे।"

अव वकील साहव और घवरा गये। उनकी आँखों में आँसू भर आये थे। वे उठकर खड़े हो गये और एक निःश्वास के साथ वोले—"समझ रहा हूँ साहव। जितनी आशा लेकर मैं आया था, उससे कहीं अधिक दुःख और परिताप लेकर जा रहा हूँ!"

वकील साहव वाहर आकर सड़क पर खड़े हुए तांगे पर जा वैठे।

इतने में पास खड़े हुए रिक्शे पर से एक व्यक्ति उतरा। वह पैंट और वुश-शर्ट पहने हुए था। उसके हाथ में जो अँगूठी थी, उसमें मीना के रोमन अक्षरों में 'G' अंकित था। उसके हाथ में लेदर का एक सुन्दर वैग था, जो अभी थोड़े ही दिनों का खरीदा हुआ जान पड़ता था। वह अव केदारवावू के कमरे के द्वार पर जा खड़ा हुआ। मुन्नी की माँ परदे के उस पार से ही अन्दर चली गई। केदारवावू ने आगन्तुक से पूछा—"आपका आगमन?" आगन्तुक ने हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए कहा—"दादा, मैं पहले भी आता रहा हूँ। आपने कदाचित् मुझे पहचाना नहीं। मेरा नाम घनश्याम है। मैं शंकर से मिलने आया हूँ।"

"ओः घनश्याम, तुम तो घर ही के लड़के हो। पर इधर वहुत दिनों में दिखलाई पड़ने के कारण मैं तुम्हें पहचान न सका!" कहते हुए केदारवावू प्रसन्नता के साथ वोले—"फिर भी वहाँ खड़े कैसे रह गये! इधर यहाँ आकर वैठ जाओ। आओ, आओ।"

घनश्याम तव पलँग के पास रखी हुई उसी कुरसी पर जा वैठा, जिस पर अभी थोड़ी देर पहले वे वकील साहव वैठे हुए थे।

अव केदारवावू कुछ जोर के साथ वोले—"अरे मुन्नी, देख, तेरे मित्र

घनश्यामजी तुमसे मिलने आये हैं।"

उसी समय शंकर आ गया और घनश्याम का हाथ अपने हाथ में लेने का-सा भाव दिखलाकर दूसरी ओर मुड़ता हुआ बोला—"मैं अब तुम्हारी प्रतीक्षा कर ही रहा था।"

शंकर का कमरा सामान से भरा पड़ा था। अतः उसने पलँग पर रखे वस्त्रों को एक ओर अलग रख घनश्याम से कह दिया—"आ जाओ इधर। पैर नीचे लटका लो और आराम से बैठ जाओ।"

घनश्याम ने बैग को एक ओर रखते हुए पूछा—"कुछ बात उठी थी?"

शंकर मुस्कराते हुए बोला—"भाई, बात तो नहीं उठी। पर रास्ते में जो एक बड़ा काँटा पड़ा था, दादा की चतुरता से उससे बाल-बाल बच गया हूँ। इसलिए सीधेतौर से बात न उठने पर भी स्थिति पहले की अपेक्षा बहुत सुधर गई है। बस, अब कोई चिन्ता की बात नहीं है। तुम माँ को ज़रा धीरज बँधाते रहना। फिर अपने-आप सब ठीक हो जायगा।"

"तो तुम आज भी रेणु से मिलने न पाओगे?" घनश्याम ने साधारण रूप से ही प्रश्न कर दिया।

शंकर विचार में पड़ गया। वह तुरन्त कोई निश्चयात्मक बात न कह सका। तब घनश्याम बिगड़ उठा। बोला—"इस शिथिलता का ही दूसरा नाम कायरता है, जो एक तुम्हारा ही नहीं, शासन और व्यवस्था-क्षेत्र में अधिकारी-जाति-भर का आज सबसे बड़ा गुण बन गया है। मेरी समझ में नहीं आता कि स्पष्ट रूप से न सही, घुमा-फिराकर भी क्या यह बात तुम दादा से नहीं कह सकते?"

"नहीं कह सकता भैया—किसी तरह नहीं कह सकता। प्राण दे सकता हूँ, पर अपना सांस्कृतिक गुण नहीं छोड़ सकता। तुम क्रान्तिकारी लोग, मैं जानता हूँ, दुनिया-भर में आग लगा सकते हो! पर अगर तुमसे कहा जाय कि अपने घर के चूल्हे को ही जला दो, क्योंकि लकड़ियाँ सूखी

लाने का काम भी तुम्हारा ही है, तो यह काम तुमसे होगा ?"

घनश्याम अपना बैग उठाकर उठ खड़ा हुआ और कुछ उत्तेजना के स्वर में बोला—"यह बात तुम मेरी बात के उत्तर में कह रहे हो भक्त-राज ! तुम्हें पता भी है कि आजकल रेणु कैसे धर्म-संकट में है ? अगर भावना में डूबकर उसने कहीं कुछ उल्टा-सीधा कर डाला, तो फिर तुम मुझे दोष न देना। यह बात मैं बहुत सोच-समझकर कह रहा हूँ। आगे तुम्हारी इच्छा।"

और इस कथन के साथ ही वह चल दिया।

तब शंकर ने तुरन्त सामने आकर घनश्याम को जाने से रोक लिया। बैग उसके हाथ से छीनते हुए उसने कह दिया—"बैठो, बैठो। इतनी जल्दी चले जाओगे। खाना नहीं खाओगे मेरे साथ ? अरे, मैं आज तुमको वह खीर खिलाऊँगा कि तुम अँगुलियाँ चाटते रह जाओगे।"

"तो वादा करो कि आज तुम रेणु के आँसू पोंछकर ही जाओगे !" घनश्याम के मुँह से निकल गया।

शंकर ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"देखो, समय निकाल सका तो…।"

घनश्याम तब यह सोचता हुआ वहाँ फिर बैठ गया कि कछुए की गति से चलनेवाले अपने इस साथी के साथ अब मुझे अपना थोड़ा समय नष्ट करना ही पड़ेगा !

---

: १९ :

केदारबाबू की जो ज़मीन बटाई पर उठी हुई थी उस पर दो आदमी जुताई और बुआई से लेकर सिंचाई, निराई, कटनई और मड़नई—यहाँ तक कि घर के अन्दर अनाज छोड़ जाने तक का काम भी किया करते थे। वे जाति के कोरी थे, जिनका मूल पेशा कभी गजी-गाढ़ा बुनना रहा करता था। मिलों के जन्म और विकास के साथ-साथ यह पेशा उत्तरोत्तर अवनति की ओर पग बढ़ाता चला गया और अन्त में ये लोग खेती-बाड़ी की मजदूरी करने को विवश हो गये। इनमें से जो लोग मेहनती और बुद्धिमान् थे, उनको तो ज़मींदारों ने अपने खेत दे भी दिये, किन्तु जो कामचोर, आवारा और बेईमान थे, वे केवल दिन काटते रहे। मौरूसीदार होना दूर रहा, शिक्मी काश्तकार भी न हो पाये। ये दो आदमी इन्हीं लोगों में से थे। एक का नाम उजियारे था, काम करने में यह कुछ आगे था। दूसरे का नाम तो उजागर था, लेकिन मेहनत के काम में कभी आगे न बढ़ने और जहाँ तक हो सके जी चुराने के कारण उसका नाम अब अँधियारे पड़ गया था।

जब केदारबाबू के पूर्वज इस गाँव में रहते थे, तब से ये लोग बटाई का काम करते आ रहे थे। परन्तु अब उत्तरप्रदेशीय खेतीबाड़ी का विधान बदल गया था। और ज़माने की हवा लग जाने के कारण क्या उजियारे और क्या अँधियारे दोनों-के-दोनों इस दाँव-घात में बने रहते थे कि ज्योंही मौक़ा मिले, त्योंही यह ज़मीन अपने हाथ में कर ली जाय। जब से गोकुल-सुकुल मकान बनवाने के सम्बन्ध में देवकी से मात खा चुके थे, तब से परमेश्वरीदयाल और उनका पूरा खानदान भी यही चाहता था कि मकान

का वदला अव इस वार डटकर ले ही लिया जाय। वे गाँव के पटवारी जानकीलाल से भी मिलते रहते थे और सारा कार्यक्रम एक तरह से तय कर लिया गया था।

लक्ष्मी के यज्ञोपवीत के दिन थे और केदारवावू के गाँव का यह घर मेहमानों से भरा हुआ था। यों तो उन्होंने उनके ठहराने की पूरी व्यवस्था कर ली थी, पर एकाएक पानी वरस जाने के कारण परिस्थिति वदल गई थी। रात के अभी आठ नहीं वज पाये थे। परनालों और रास्ते के गड्ढे-खुड्ढों में कहीं झींगुर, कहीं मेरवां और कहीं मेढ़क वोल रहे थे। आम और नीम के घने वृक्षों पर कभी-कभी कोयल और मोर भी वोल उठते थे। तीन दिन से पानी नहीं वरसा था और उमस वढ़ गई थी। परिणाम यह हुआ कि रात में मेहमानों को ठहराने के लिए चारपाइयों की कुछ कमी पड़ गई। गाँव में यों भी केदारवावू का कम प्रभाव नहीं था। और जव से शंकर डिप्टी-कलेक्टर हो गया था, तव से तो उसका मान और भी वढ़ गया था। लेकिन परमेश्वरीदयाल समय-समय पर यह प्रकट कर दिया करते कि ऐसे डिप्टी-कलेक्टर मैंने वहुत देखे हैं। उनके इस कथन में प्रतिक्रिया वोलती थी और वोलता था उनका परम्परागत ज़मीदाराना स्वभाव। चारपाइयों की कमी पड़ जाने की सूचना मिलते ही केदारवावू एकाएक वोल उठे—"अरी देवकी विटिया, त्रिभुवन-सिंह और उनके दोनों पड़ोसी निरंजनसिंह और दलगंजनसिंह के यहाँ से तो पलंग आये नहीं हैं। उजियारे और अँवियारे को भेजकर मँगवा ले झट से वेटी।"

देवकी दे पद्मा से कह दिया—"अरे पद्मा, उजियारे और अँवियारे को लेकर निरंजन और दलगंजन के यहाँ से दो-दो पलंग तो उठवा ले आ।"

पद्मा वोल उठा—"मुझको मत भेजो अम्मा, अँवियारे मुझको सूखा टाल देगा, तुम देख लेना। इवर कई महीनों से मैं देख रहा हूँ कि वह मेरा कोई काम नहीं करता और मेरी हर वात का जवाव उलटकर देता

है। मेरे किसी काम के लिए उसे कभी फ़ुरसत नहीं रहती।

देवकी ने पद्मा के पास जाकर उसे समझाते हुए कहा—"इस समय जब दरवाज़े पर मेहमान पड़े हुए हैं, दोनों में से कोई इस छोटे से काम के लिए इन्कार नहीं कर सकता।"

पद्मा ने उत्तर दिया—"ख़ैर, कोई बात नहीं अम्मा, मैं तुम्हारे कहने से चला जाता हूँ।"

इतना कहकर पद्मा चला गया। पर थोड़ी देर में वह अकेला लौट आया और बोला—"अम्मा, आखिर को वही हुआ, जो मैंने कहा था। अँधियारे बोला—चारपाई ढोने का काम चमार किया करते हैं। सो क्या हम चमार हैं? क्या तुमने हमको चमार समझ रखा है? जाओ-जाओ, पलँग-वलँग हम कुछ नहीं ढोयेंगे।

और उसकी स्त्री बिलौटा बाहर निकलकर हाथ फटकारती हुई बोली—हमका न्यौता नाहीं दिह्यौ। जिनका दिह्यौ हैं, उनहीं का लै जाव। उनहीं ते चारपाई ढुलवायौ। पलँग बिछवायौ चाहे जौन गुलामी करवायौ।

मैंने कहा—हम तुमसे बात नहीं करते? उजियारे कहाँ गया?

बिलौटा बोली—हियाँ कोउ नाहीं है। खेत माँ होइहैं—खेत माँ। मुला जइहै कोऊ ना। हम अबहीं ते कहे देइत हैं। तुमका हमते बोलै कै जरूरति नाहीं तौ हमहीं का तुमते बोलै कै कौन जरूरति है: पलँग ढुलवावै चले हैं! पलँग नहीं वइतौ जहाज ढोइहैं। जाव ना, अब काहे क ठाढ़ हौ।"

देवकी पद्मा को लेकर सीधे केदारबाबू के पास जा पहुँची और बोली—"दादा सुनिए, आपके असामी क्या कह रहे हैं?"

पद्मा ने सारा हाल बतलाते हुए कहा—"मैं तो अब कभी उसके घर जाऊँगा नहीं। क्योंकि उसने मेरा जो अपमान किया है उसे मैं जीवन में कभी भूल नहीं सकता।"

केदारबाबू ने उस समय इसके उत्तर में कुछ नहीं कहा और नाई को भेजकर अपना काम निकाल लिया। किन्तु महीने-भर बाद जब देवकी

ने इन दोनों असामियों से खेत छीन लिये, तो दूसरे असामी के खेत जोतना प्रारम्भ करने पर उजियारे और अँधियारे दोनों भाई अपने स्वजातीय वृन्द के साथ सदल-बल लाठी लेकर खेत को घेरकर आ डटे।

नये असामी का नाम था—लछमन। वह जाति का काछी था। उसके स्वजातीय बन्धु-बान्धवों की भी कमी न थी। वह जानता भी था कि सम्भव है, कल जुताई के समय ये लोग कुछ अलसेट डालें। इसलिए उसने भी मिनटों में लट्ठधारी लोग जुटा लिये। फल यह हुआ कि लाठी तो नहीं चली, क्योंकि थाने का गाँव था, लेकिन दोनों दलों के सरगना लोगों के मुचलके हो गये और तय यह हुआ कि अगर उजियारे और अँधियारे को ज़मीन पर अपना अधिकार जमाना है और खेतों को छोड़ना नहीं है, तो उनको इसके लिए ज़ाव्ते की कार्रवाई करनी चाहिए।

केदारबाबू कुछ इस स्वभाव के थे कि उन्हें झंझट पसन्द नहीं था। साथ ही कभी-कभी उनके मन में यह भावना भी ज़ोर मारती रहती थी कि शक्ति, सम्पन्नता और आतंक के आधार पर निर्बलों को अपदस्थ करना भी एक प्रकार का पाप है। उन्होंने चारपाई ढुलवाने के सम्बन्ध में यही सोचा कि कुछ भी हो, है तो यह वेगार का ही रूप। अतः उन्होंने उजियारे और अँधियारे को अपने घर बुलाकर भी समझाने की आवश्यकता नहीं समझी। वे स्वयं भी उसके घर नहीं गये; सर्वथा मौन ही बने रहे। परिणाम यह हुआ कि एक दिन फिर देवकी को उनके यहाँ जाना पड़ा।

रविवार का दिन था और शंकर एक दिन के लिए कानपुर आया हुआ था। एक कमरे में बैठा हुआ शंकर ताले की परीक्षा कर रहा था। इतने में देवकी बोल उठी—"दादा, एक बात मेरी समझ में नहीं आई।" तभी केदारबाबू ने पूछा—"कौन-सी बात देवकी?"

देवकी शंकर के सामने चाय का प्याला रखती हुई बोली—"मंगलपुर की ज़मीन रहे चाहे चली जाय, लेकिन आप इन दोनों बदमाशों का दिमाग़ दुरुस्त करने के लिए कुछ करेंगे नहीं! मुझे इस ज़मीन से कोई

मोह नहीं है दादा ! आप जानते हैं कि उसकी उपज आप ही लोगों के काम आती है। शोभा है, सुशीला है। समय-समय पर उनके यहाँ कुछ-न-कुछ भेजना ही पड़ता है। फिर विष्णु है, ब्रह्मा है, कामना है। सब को अपने खेतों से कितना प्रेम है?"

इतने में ब्रह्मा आम चूसता हुआ आ पहुँचा और बोला—"दीदी बिल्कुल ठीक कह रही हैं। हमारे खेत का चना इतना बड़ा होता है कि अकेले भाड़ फोड़ सकता है !

और विष्णु जो चुपचाप बैठा हुआ पीतल की मुरली पर ब्रासो की पालिश कर रहा था, बोल उठा—"हमारे खेत में वह जो बेर का पेड़ है न दादा, उसका एक-एक बेर आँवला जितना बड़ा होता है। और मीठा इतना कि लखनउहा सफ़ेदा आम तो उसके सामने झख मारता है !"

कामना अचार बना रही थी। देवकी के पास आकर पूछने लगी—"दीदी, आम की यह जो मीठी चटनी बनाई जा रही है, इसमें गुड़ कितना पड़ेगा ?"

देवकी बोली—"पाँच सेर।" और फिर प्रस्तुत प्रश्न पर कुछ कहने जा रही थी कि कामना से बिना बोले न रहा गया। बोली—"दादा इस बार अपने खेतों का गेहूँ बड़ा उजला हुआ है। शोभा दीदी के यहाँ जो पूड़ियाँ गई थीं, उनकी प्रशंसा तो बड़ी अम्मा तक ने लिख भेजी थी। मगर दादा क्या कोई ऐसी बात है कि हमारे खेतों पर आँच आ रही है?

केदारबाबू हँस पड़े और बोले—"हाँ कम्मो, हमारी सरकार चाहती है कि जो लोग स्वयं खेती नहीं करते, वे किसान होने का दावा छोड़ दें। और जब यह बात सही है कि हमारे हाथ खेती के काम के योग्य नहीं रह गये, तब हम इस मोह में क्यों पड़ें ? हम क्यों कहें कि यह ज़मीन हमारी है ? हम इन्हें नहीं देंगे।"

शंकर कप के अन्दर चम्मच घुमाता हुआ बोल उठा—"दादा, यह बात तो बड़ी बेजा है। यह ज़मीन तो मेरा ख़्याल है आपको भी अपने

दादा से ही मिली होगी। इस प्रकार जो जमीन लगभग एक शताब्दी ऊपर से अपनी बनी रही, उसको अब आप केवल इस आधार पर छोड़ देना चाहते हैं कि सरकार का इरादा बदल गया है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जो भूमि अब आपके बच्चों के उपयोग की है उसको आप उनकी स्वीकृति के बिना छोड़ देने को तत्पर हैं।"

अब केदारबाबू हँस पड़े और बोले—"यह तुम कह रहे हो मुन्नी! एक डिप्टी कलेक्टर ऐसी बात कह रहा हैं, अपने दादा से!"

प्याला शंकर के होंठ से लगा था, अब टेबिल पर आ गया और वह बोला—"दादा, डिप्टी कलक्टरी आपके चरणों की सेवा की देन है। लेकिन जिस भूमि के सम्बन्ध में यह विवाद है, उसका अधिकार तो आपके उस रक्त-वीर्य की देन है जिससे मेरा जन्म हुआ है। मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि मेरा अपना एक गाँव है, अपना एक घर है, अपने बाग़ और खेत-पात हैं। किसी भी दशा में मैं उन पर से अपना अधिकार छोड़ना नहीं चाहता।"

केदारबाबू अब गम्भीर हो गये। बोले—"हूँ, तो तुम यह बात आज इसीलिए कह रहे हो कि अब तुमको अपने पद का एक गौरव प्राप्त है, एक बल प्राप्त है, एक शक्ति तुम्हारी मुट्ठी में है, एक संकेत तुम्हारी भृकुटियों की प्रतीक्षा किया करता है, एक-न-एक काग़ज़ तुम्हारे सामने हस्ताक्षरों की बाट देखता रहता है। पर अगर तुम इसको मेरे चरणों की सेवा का प्रताप मानते हो तो भी वह मेरी ही आत्मा का स्वर है, मेरा ही आदेश है। और मेरा आदेश एक आदेश है, जो अगर अपने प्रकार और रूप का पहला है तो वह अन्तिम भी है। हमने तय कर लिया है कि अब यह भूमि अपने उन असामियों को सौंप देनी होगी जो आज एक शताब्दी से भी अधिक समय से हमको धन-धान्य से संतुष्ट करती रही है। वह अन्नपूर्णा उन जन्मजात कृषकों के परिश्रम का फल है। इसीलिए उसके भोग करने का अधिकार उन्हें मिलना ही चाहिए। संसार की सारी

सम्पदा केवल मेरे भोग के लिए है, यह तृष्णा बड़ी मायाविनी है मुन्नी। इसको संयत रक्खे बिना हम पतन की ओर उन्मुख हो जायँगे।"

शंकर अभी चाय नहीं पी पाया था। उसका प्याला अभी आधा ही रिक्त हुआ था। फिर भी वह अब दादा के सामने कुरसी पर बैठा न रह सका। चुपचाप तुरन्त उठकर वहाँ से चल दिया।

रात हुई। बच्चे सो गये। दादा की आँखों में नींद नहीं थी। वे बराबर यही सोच रहे थे कि 'क्या मुझसे कहीं ग़लती हो रही है? जो तस्वीर मैं बना रहा था, क्या वह ग़लत बन गई है? और अगर ग़लत बन गई है, तब तो इसे सुधारना ही होगा। कहीं-कहीं रंग कुछ गहरे हो गये हैं; उनको हलका करना होगा; और कहीं पर कुछ वर्ण जहाँ कुछ मन्द हैं, वहाँ पर उन्हें कुछ तीव्र करना होगा। गहराई वैसे तो कोई बुरी चीज़ नहीं है, लेकिन अनावश्यक गहराई एक पाखण्ड है, जो दम्भ को जन्म देती है, गर्व उत्पन्न करती है, घमण्ड जिससे फूटता है; संचित विश्वासों की निधियाँ जिससे बिखर-बिखर जाती हैं; फैल-फैल जाती हैं; धूल में मिलकर सदा के लिए खो जाती हैं। क्या कहा था शंकर ने?—'किसी भी दशा में मैं अधिकार छोड़ना नहीं चाहता?' हूँ, मेरे जीते-जी वह अपने को अधिकारी मानने लगा! कहता था—'जो भूमि अब आपके बच्चों के उपभोग की है, उसको आप उनकी स्वीकृति के बिना छोड़ देने को तत्पर हैं!'—हूँ, स्वीकृति के बिना? बाप को अब हर काम में बच्चों से स्वीकृति लेनी पड़ेगी?—"कौन?"

"मैं हूँ दादा, देवकी।"

"अच्छा देवकी, तुम्हारी भी यही राय है कि ज़मीन पर हमारा अधिकार जन्मजन्मान्तर के लिए है क्यों? उस समय तुम्हारे कहने से मैंने वह खाली पड़ी हुई ज़मीन सुकुल को नहीं दी थी। उसी से तुमने सोच लिया होगा कि मेरे अन्दर ज़मीन और जायदाद के लिए बड़ा मोह है। क्यों?"

देवकी चुपचाप बैठी रही। उसने कोई उत्तर नहीं दिया। कैलाशबाबू

दरवाज़े तक आये और लौट गये। उन्होंने अन्दर आकर बैठने का साहस नहीं किया।

अन्दर मुन्नी की माँ और उनमें बखेड़ा खड़ा हो गया था। मुन्नी की माँ कह रही थीं—"हमको जो-कुछ भी सुख मिला है—बड़ाई, मान, इज़्ज़त, प्रतिष्ठा, रुपया-पैसा जो-कुछ भी—एक दादा के कारण। मुन्नी जो इस पद पर आया है, वह भी उन्हीं की दौड़-धूप का फल है। मैं भूली नहीं हूँ, जब मुन्नी कह दिया करता था कि मैं किसी बड़े आदमी के तलवे चाटने नहीं जाऊँगा, तब एक दादा ही उसको उल्टा-सीधा समझा-बुझाकर वहाँ ले जाते थे और आज तुम्हारी यह हिम्मत कि तुम उनसे लड़ना चाहते हो? हमें खेत-पात कुछ नहीं चाहिए। हमें देहात के घर-द्वार से कोई प्रेम नहीं है। हम उनके बिना भी जी सकते हैं। हज़ार-दो-हज़ार, चार हजार क्या, लाखों रुपयों का मोह भी दादा के मुक़ाबिले में कोई चीज़ नहीं है। तुमने अगर उनकी इच्छा के विरुद्ध एक बात भी उनसे कही, तो तुम्हारे हित में अच्छा न होगा, यह मैं अभी से कहे देती हूँ।"

मुँह में पान का बीड़ा रखते हुए कैलाशबाबू बोले—"तुम्हारी ज़बान बहुत चलने लगी है मुन्नी की माँ! तुम यह समझ बैठी हो कि दादा में मुन्नी से ज़्यादा बुद्धि है! बात यह है कि तुम हो मूर्ख, और गुसाईंजी झूठ थोड़े ही कह गये हैं कि 'मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलै बिरंचि सम।' समझीं? सो तुम जाओ अपना चूल्हा-चौका सँभालो। राजनीति के इस पेचीदे मामले को तुम क्या समझोगी!"

"अच्छा," गरजती हुई मुन्नी की माँ बोली—"पेचीदे मामलों को जैसे तुम बहुत समझते हो!—दादा से भी ज़्यादा! क्यों अरे मैं कहती हूँ कि अगर दादा न होते, तो तुम आज कहीं 'दाता-धर्मात्मा' करते होते! करते तो थे मुनीमी, सेठजी ने जवाब दे दिया, तब से एक पाई भी घर ले आये? आज दादा का विरोध करते हुए तुम्हें लाज नहीं आती! जाओ, अगर मैंने सुना कि तुमने एक भी अरुन बात उनसे कही तो कल

सवेरे तुम मेरा मुँह नहीं देखोगे ! जाओ, जाओ न, अब वैठे क्यों हो ?"

इतने में शंकर आ गया। तव उसकी माँ वोली—"वैठो मुन्नी, तुमसे एक वात कहनी है मुझको। ज़मीन के मामले में तुम दादा की आज्ञा पर चलना, वेटा!"

शंकर माँ के पास वैठ गया और वोला—"मुझे किसी वात के लिए मजवूर मत करो अम्मा ! मैं अभी कुछ निश्चय नहीं कर पाया।" इतना कहने के वाद वह मन-ही-मन सोचने लगा—'मैं खुद नहीं जानता कि मुझे क्या करना है। मैं मानता हूँ कि हमारा, हमारे वंश का जो सुन्दर भवन आज वना है, उसके निर्माता एकमात्र दादा हैं। उन्हींने मेरा निर्माण किया है। कभी-कभी मेरे मन में आता है कि आज जो-कुछ मैं सोचता हूँ उसके कारण भी दादा ही हैं। पर कहीं ऐसा तो नहीं है कि जिस दादा ने मेरा निर्माण किया है, मेरा आज का स्वर उसी दादा का है और आज जो दादा कह रहे हैं, वह स्वर उनका नहीं है—उनका कदापि नहीं है। सदा-सर्वदा उन्होंने मर्यादा-प्रतिष्ठा और गौरव के संचयन में ही अपनी शक्तियों की वलि दी है, अपने मित्र-वर्ग के सहयोग की आहुतियाँ दी हैं। और आज जव हम यहाँ आ पहुँचे हैं, तव वे हमको त्याग का उपदेश देने चले हैं! तव या तो यह चित्रकार अपने-आप में ग़लत है या यह तसवीर ही ग़लत वनी है।'

शंकर उठकर खड़ा हो गया और वोला—"अम्मा, अव ट्रेनटाइम निकट आ रहा है इसलिए मैं तो अव जाऊँगा। कल हमको एक वहुत ज़रूरी मामले पर अपनी तजवीज़ देनी है, वल्कि रात में ही उस पर सोचना भी है। हो सका तो मैं उसको लिख भी डालूँगा। अरे विष्णु,⋯भैया, मेरी वैडिंग तो ज़रा ठीक-ठाक कर दे। तव तक मैं दादा के पैर छू आऊँ।"

इतना कहकर शंकर जो केदारवावू के पास जाने लगा तो रास्ते में सामने पड़ गया विलायती।

शंकर ने स्वभावेन प्रश्न कर दिया—"कहो विलायती, क्या हालचाल

है ? सुखी तो हो ?"

विलायती खीसें काढ़ता हुआ खुजलाने लगा। शंकर ने अनुभव किया, वह कुछ कहना चाहता है, पर कह नहीं पा रहा है बिचारा, संकोच के कारण।

तब उसके मुँह से निकल गया—"कुछ कहना तो नहीं है ?"

विलायती ने एक पत्र शंकर के हाथ में दे दिया।

शंकर ने पूछा—"क्या है इसमें !"

अब विलायती बोल उठा—"घरवाली ने कुछ रुपये मँगाये हैं। मगर···अभी तक मैं वही रुपया नहीं भर पाया हूँ, जो दादा से गये साल लिया था। हर महीने तनख़ाह में पन्द्रह रुपये कटाने पड़ते हैं। उसके बाद···?" विलायती इसके आगे चुप हो गया।

शंकर ने तुरन्त बीस रुपये पर्स से निकालकर उसे दे दिये !

देवकी का कण्ठ भरा हुआ था—आँखें डबडबाई हुई थीं। वह बोली—"दादा फिर मेरे लिए क्या कहते हो ? मैं कहाँ रहूँगी ? ज़मीन चली जायगी, तो तुम्हारे जिस गौरव की छाया मेरे सिर के ऊपर रहा करती थी, वह भी मुझसे दूर-दूर चली जायगी। ज़मीन की बात सोचते हुए तुम्हें मेरा ख्याल नहीं आया। जान पड़ता है उस समय तुम मुझको भूल ही गये।"

केदारबाबू उठ बैठे और तकिये का सहारा लेते हुए बोले—"रोओ मत देवकी, जब कर्त्तव्य सामने हो, तब रोना हमारा धर्म नहीं। रोना पाप है। क्या तुम समझती हो कि गाँव में पड़ी रहकर जिस तरह का जीवन तुमने बिताया है, वही तुम्हारे लिए बहुत बड़ी चीज़ है ? और अगर तुम यहाँ रहने लगोगी तो इतने बालगोपाल के बीच तुम्हें किसी प्रकार का दुःख मिलेगा ? तुम भूल रही हो देवकी कि तुम किससे बात कर रही हो।"

देवकी के आँसू नहीं रुके। उसके मुंह से निकल गया—"मैं आज

के लिए नहीं रोती हूँ दादा, मैं उस पावन भविष्य के नाम पर रो रही हूँ, निरन्तर विगत जीवन के वीस वर्षों से मैं जिसका स्वप्न देखती चली आई हूँ। दादा, आपके ही चरणों के निकट वैठकर मैंने जीवन को थोड़ा-वहुत समझने की चेष्टा की है। जिस त्याग और आदर्श की ओर आपकी विचारधारा लहरें लेती है, उसके अनुसार एक ऐसा भी दिन आ सकता है, जव स्वार्थों से भरे हुए इस संसार को हँसते-हँसते छोड़कर आप कापाय वस्त्र धारण कर एक सर्वस्वत्यागी संन्यासी के वेश में, वहुजनहिताय वहुजनसुखाय इस घर और मोहल्ले को ही नहीं नगर और प्रान्त को ही छोड़ देंगे! कहाँ चले जायेंगे दादा, यह कोई नहीं जानेगा। मैं भी नहीं जानूँगी और तुम भी नहीं जानोगे!" और इतना कहते-कहते देवकी रो पड़ी।

इतने में शंकर आ पहुँचा—"अरे दीदी, तुम रो रही हो! ना दीदी, रोने का कोई काम नहीं। हम सव लोग तो उनके आज्ञाकारी हैं। हमारा अपना कुछ नहीं है—कुछ नहीं है। वस, वन्द करो रोना। आओ ज़रा दरवाज़े तक आओ, दीदी। मेरा ट्रेन-टाइम आ गया। इसलिए मैं आज्ञा चाहता हूँ। आज मुझसे जो भूल हो गई है, वैसी फिर कभी नहीं होगी। मैं वचन देता हूँ, अच्छा।" और इतना कहकर शंकर दादा के चरणों की ओर झुक गया।

आशीर्वाद का वरद हस्त केदारवावू ने शंकर के सिर पर रखते हुए, कह दिया—"शंकर, मेरा आशीर्वाद है कि एक दिन तुम इस भूमि पर राज्य करोगे। जाओ, सदा सुखी रहो।"

शंकर दादा से विदा लेकर फिर जो माँ के पास पहुँचा, तो माँ ने वेतन वाले उससे सारे रुपये उसे लौटा दिये। आनन्दाश्रु आँखों में भरे हुए वह वोली—"अव ये रुपये मैं तुझे खर्चे के लिए दे रही हूँ मुन्नी।" शंकर हँसता-हँसता वोला—"पर अम्मा, अपने लिए ज़्यादा नहीं तो पचास रुपये तो रख लेती!"

तव मुन्नी की माँ वोली—"वह दिन भी जल्दी आयेगा मुन्नी। तू चिन्ता न कर वेटा। मुझे खुद उसका ध्यान है।" अत्यधिक हार्दिक उल्लास के इस शुभारम्भ में मुन्नी की माँ का कण्ठ भर आया।

शंकर सीढ़ी उतर रहा था। लेकिन उसके पैर काँप रहे थे। उसके नेत्रों में आँसू भरे हुए थे, लेकिन उसका हृदय हर्ष-गद्गद था।

देवकी कह रही थी—' मुन्नी, मैं नहीं जानती थी कि तुम इतने बड़े निकलोगे, इतने महान् वन जाओगे, जैसे तुम इस समय दादा के आगे मेरी इन आँखों के सामने अभी वन गये !"

शंकर मुस्कराता और देवकी के पैर छूता हुआ वोला—"दीदी, हमारा यही एक रास्ता है और यही एक सहारा भी है। आदर्श के विना निर्माण हो ही कैसे सकता है ?"

तव तक घर के और भी सारे लोग निकट आ गये थे। मुन्नी की माँ शंकर का हाथ चूम रही थीं, मत्था चूम रही थी और उसे सीने से लगाकर सिर से लेकर पीठ तक हाथ फेरती हुई कह रही थी—"जाओ जुग-जुग जियो वेटा।"

शंकर जव तांगे में वैठ गया, तव विष्णु वोला—"दद्दा, दशहरे की छुट्टी में हम तुम्हारे यहाँ आयेंगे"—और ब्रह्मा ने कह दिया—"विष्णु भैया के साथ जानते हो कौन-कौन होगा ?—दादा, अम्मा, कम्मो दीदी, लक्ष्मी, पद्मा, देवकी दीदी और वावू। यहाँ तक कि हमारा नया नौकर मटरू भी होगा।"

इतने में ताँगेवाले ने चावुक घोड़े की पीठ पर जमा दिया और घोड़ा पड़पड़ाता हुआ चल दिया।

शंकर सोच रहा था, तस्वीर ग़लत नहीं वन सकती, अगर चितेरा विवेकशील हो। तस्वीर विल्कुल ठीक वनी है। फिर से उसमें तूलिका के स्पर्श की भी आवश्यकता नहीं है।

---

## : २० :

गोकुलसुकुल का घर कच्चा वना है। द्वार पर एक छप्पर पड़ा है। यह छप्पर मिट्टी के तीन चौकोर खम्भों पर आधारित है। इस साल फसल माड़कर खलिहान से उठाने में पन्द्रह-वीस दिन की देरी हो गई। फल यह हुआ कि नया छप्पर वे अपने दरवाज़े पर डालने के लिए तिन[1] का प्रवन्ध कर न सके कि वर्षा प्रारम्भ हो गई। इस कारण उनके द्वार का यह छप्पर अपनी जीर्णावस्था को छिपा नहीं पा रहा था। कहीं-कहीं वीच में खुल गया है और ऊपर की ओर दृष्टि डालने पर आकाश का नीला टुकड़ा स्पष्ट दिखलाई पड़ जाता है। छप्पर के नीचे एक पुरानी चारपाई पड़ी हुई थी, जिसकी एक पाटी वीच में टूट-सी गई है, तभी रस्सी से कसकर वाँध दी गई है। इसके जोड़ की दूसरी पाटी वाँस की है, जो पाये के मुँह से गुज़रती हुई उस पार तक निकल गई है। इस चारपाई में जो पाये लगे हैं, वे न इस चारपाई के हैं, न केवल किसी दूसरी के। वास्तव में वे चार चारपाइयों के हैं। अदवाइन में भी दो तरह का हिसाव-किताव है : पहली आधी तो सन की है, दूसरी आधी मूँज की ! चारपाई के सिरहाने पर एक सुजनी की विछावन तकिया सहित तहाई हुई रखी है, जिसके एक कोने पर मोड़कर रखे हुए पंचांग का एक फटा हुआ कोना मुंह वाये पड़ा हुआ है। चारपाई के नीचे तम्वाकू की लुगदी जहाँ-तहाँ फैली पड़ी है और दीवाल के नीचे उत्तर से लेकर दक्षिण के कोने तक चींटियों की एक वहुत वड़ी सेना चली आ रही है।

गोकुलसुकुल की धोती प्रायः वहुत ढीली रह जाती थी। यहाँ तक

---

१. एक प्रकार की लम्वी घास, जिससे छप्पर छाये जाते हैं।

कि कभी-कभी वे अपनी ढीली धोती के कारण सीढ़ी चढ़ने या जल्दी में आगे बढ़ते हुए लिभिड़ कर गिर भी पड़ते थे ! उस दिन बड़ी देर से गोकुल-सुकुल गिरवां हाथ में लिये हुए गैया के पीछे दौड़ रहे थे, मगर वह पकड़ाई न देती थी। आगे-आगे गैया दौड़ी जा रही थी और पीछे-पीछे गोकुलसुकुल ! दौड़ते-दौड़ते एक जगह वे अँगूठे में चभेट खाकर गिर पड़े। दायें अँगूठे का पूरा नाखून कुछ भीतर घुस गया। फल यह हुआ कि अँगूठे के साथ आधा पैर लहू-लुहान हो गया। एक गांठ भी फूट गई। बड़ी कुशल हुई कि शरीर में और कहीं चोट नहीं आई। थोड़ी देर बाद जब लँगड़ाते-लँगड़ाते वे घर को लौटने लगे तो उनके साथ हो गये कामता-पंडित और जमुनाप्रसाद। उनका एक हाथ कामतापंडित अपने कंधे पर रखे हुए थे और जमुनाप्रसाद उनकी गैया को गिरवां में बांधे हुए पीछे-पीछे यह सोचते चले जा रहे थे कि इस साल खेती कैसे होगी। भैंसे तो खरीद नहीं पाये।

एक स्थान पर रास्ता कुछ ऊंचा-नीचा और पथरीला था।

"लो, सामने फिर एक इटखुर्रा पड़ गया और तभी कामतापंडित के मुँह से निकल गया—"ज़रा बच के चलना सुकुल, आगे रोड़ा है।"

गोकुलसुकुल के पैर के अँगूठे में जलन हो रही थी, फिर भी उन्होंने कामतापंडित की तरफ़ घूमकर देखा और कह दिया—"दद्दा, मैंने रास्ते में पड़नेवाले रोड़ों की कभी परवा नहीं की। गेहूँ की रोटी मैं खाता हूँ और अरहर की दाल। ज़्यादा तो नहीं, पर एक तोला घी भी खाता हूँ। खून में कम गर्मी नहीं रहती।"

तब आगे बढ़ते हुए कामतापंडित बोले—"चले चलो, चले चलो। जानता हूँ, तुम्हारे खून में बड़ी गरमी रहती है।"

कामतापंडित फिर कुछ ठहरकर बोले—"गर्मी रहती है! भाड़ रहता है—ज्वालामुखी पहाड़ रहता है!"

और बस यही स्थिति गोकुलसुकुल को असह्य हो उठती। अपनी

शक्ति और सामर्थ्य का उपहास वे सहन न कर सकते थे। झट उनको ताव आ जाता। अतः वे हटकर अलग होते हुए बोले—"अपना सहारा हटा लीजिए। मुझे आपके सहारे की ज़रूरत नहीं है।"

और तब गोकुलसुकुल स्वयं अलग होते हुए बोले—"क्या मैं अभी आपको कोई गाली दे रहा था? यही तो कह रहा था कि मेरे खून में गर्मी रहती है। और आप लगे सनकने!"

गोकुलसुकुल की बात सुनकर कामतापंडित हँस पड़े। बोले—"चले चलो सुकुल, देख लेंगे तुम्हारी गर्मी भी कभी। बहुत से मौके आयेंगे। अभी उसी दिन भीष्म की तरह प्रतिज्ञा कर रहे थे कि हवेली बनकर रहेगी। बन गई हवेली! अब क़िला बनाने का इरादा है शायद। तभी काम चालू नहीं करवाया है!"

गोकुलसुकुल अब अपने को सँभाल न सके। बोले—"बस दद्दा, आज से हमारा बोलचाल बन्द। न तुम कभी मेरी यह मनहूस सूरत देखना, न मैं ही तुम्हारी तरफ़ देखूँगा। अब हम उसी दिन तुमको नमस्कार करेंगे, जब हमारे दिन फिरेंगे। उससे पहले न तुम दद्दा, न मैं सुकुल!"

अब कामतापंडित खड़े हो गये। बोले—"देखो सुकुल, हम तुम्हारे पड़ोसी हैं। हमारा यह धर्म नहीं है कि इस समय तुम्हारा साथ छोड़ दें। हम तुमको घर पहुँचाये बिना न मानेंगे। अगर रास्ते में तुम इस तरह बकते भी जाओगे तो उसे चुपचाप सुनते रहेंगे।"

कामतापंडित का कथन सुनकर अब गोकुलसुकुल चुप रह गये और फिर उनके साथ-साथ चल दिये। दो-तीन पग आगे बढ़े होंगे कि उन्होंने कहना प्रारम्भ कर दिया—"दद्दा, तुमको हमारे घर का हाल नहीं मालूम और फिर मेरे मन की हालत भी नहीं मालूम। मुहल्लेवालों से लड़ने का मुझे कोई शौक तो है नहीं। मगर वह जो तुम्हारी बिटिया है न, जिसका नाम हीरा है, बस सारा टंटा उसी के ज़रिये खड़ा हो जाता है। पूरी खूँटाफार है। अभी तक मकान-मकान की रट लगाये हुए थी—अब

जानते हो, क्या कहती है ?"

कामतापंडित ने उत्सुकता के साथ पूछा—"हाँ बताओ, क्या कहती है?"

"कहती है"···गोकुलसुकुल कामतापंडित के कन्धे पर हाथ रखते हुए बोले—"कहती है, मकान बनवाकर करोगे क्या ? आगे कोई रहनेवाला भी तो होना चाहिए।" और इस कथन के साथ-साथ उसका कण्ठ भर आया।

दो पग और आगे बढ़े, फिर रुक गये और खड़े होकर बोले—"कितना बड़ा दर्द मैं अपने दिल में छिपाये रहता हूँ, तुम क्या जानो दद्दा!"

तब मुस्कराते हुए कामतापंडित बोले—"चलो-चलो, दर्द-वर्द कहीं कुछ नहीं है। अभी कहते थे—खून में बड़ी गर्मी है। अब कह रहे हो, दिल में दर्द छिपाये रहता हूँ। अभी थोड़ी देर में कहीं ठण्डी साँस लेकर यह न कहने लगना कि तबियत घबरा रही है—दिल बैठा जा रहा है!"

जमुनाप्रसाद अब गाय को लिये हुए आगे निकल आये थे। उनके आगे भी एक समस्या थी। आषाढ़ मास सिर पर था और खेती के लिए भैंसों की गोई वे अब तक नहीं खरीद पाये थे। वे सोच रहे थे कि गोकुलसुकुल मुझे सौ-पचास रुपये उधार दे सकते थे, लेकिन उस दिन देवकी का पक्ष लेकर मैंने सुकुल के विरोध में बहुत-कुछ कह डाला। आज बड़ी मुश्किल से यह अवसर हाथ लगा है। पर रुपये माँगने के लिए बात उठाई कैसे जाय ?

इतने में थोड़ा रुककर चलते हुए गोकुलसुकुल बोल उठे—"एक बात कहें दद्दा ?"

पर तभी कामतापंडित के मुँह से निकल गया—"···हाँ-हाँ, बच के। फिसलन है, पानी है, फिर कीचड़ है। बहुत सँभलकर चलने की ज़रूरत है।···हाँ, अब बतलाओ, क्या कह रहे थे ?"

"तुम तो रास्ता इस तरह बतलाते चलते हो, जैसे मैं अँधेरे में हूँ।" उत्तर देते हुए गोकुलसुकुल ठहर गये और कामतापंडित की ओर आश्चर्य

से देखते रह गये।

कामतापंडित बेलौस बात करते थे। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—"प्रशंसा-लोलुप आदमी अँधेरे में ही रहता है।"

गोकुलसुकुल कामतापंडित की बात सुनकर मर्माहत हो उठे। बोले—"ऊँ हुँ, मैं नहीं मान सकता दद्दा। देवता तक तो अपनी बड़ाई सुनकर प्रसन्न हो ही उठते हैं, मैं तो फिर भी आदमी हूँ! लेकिन प्रसन्न होने का यह मतलब तो नहीं होता कि उसे सुझाई न पड़े।"

अब कामतापंडित ने धीरे-धीरे, सावधानी के साथ, अपने कथन को स्पष्ट करते हुए कह दिया—"चले चलो सुकुल। चलना मत बन्द करो। हाँ, क्या कहा?—सुझाई न पड़े, यह मतलब नहीं होता। सो माना कि नहीं होता, पर इतना तो तुम मानोगे सुकुल कि जिस प्रकार के बुद्धिहीन और आधे पागल व्यक्ति अपनी प्रशंसा सुनकर मतवाले हो उठते और निन्दा, बुराई तथा विरोध होते देख जामे से बाहर हो जाते हैं, उन्हीं में से तुम भी हो। देवकी से बातचीत करने में तुमने जैसे शब्द कहे, क्या मैं कभी उन्हें भूल सकता हूँ!"

"जाने दो दद्दा, अब उन बातों को भूल ही जाओ। भगवान् न करे कि फिर कभी मैं वैसा मरकहा पशु बनूँ।...अच्छा, मैंने तुम्हारे फ़ायदे की एक बात सोची है," कहते-कहते गोकुलसुकुल फिर रुककर खड़े हो गये।

अब हँसते हुए कामतापंडित बोले—"मेरे फ़ायदे की बात—और उसको तुम सोचो, कमाल है! ऐसी बात कही है तुमने सुकुल कि अकेले हम नहीं, हमारे सात पुरखे तर गये!"

"दद्दा, तुमको तो हर घड़ी मज़ाक सूझता है। मगर मैं इस कुन्ती के बारे में तुमसे कहना चाहता था," गोकुलसुकुल ने आगे बढ़ते हुए कह दिया।

कामतापंडित ने मुस्कराते हुए पूछा—"तो इसका नाम तुमने कुन्ती रक्खा है?"

गोकुलसुकुल ने एक हौंसले के साथ उत्तर दिया—"इसका नाम कुन्ती और दोनों बछड़ों का अर्जुन और भीम।"

"हा हा हा हा" के स्वरों में हंसते हुए कामतापंडित बोले—"क्या बात है सुकुल, तुम्हारे ठाठ की।"

लेकिन गोकुलसुकुल अब कुछ उदास होकर कहने लगे—"दद्दा, मैंने इस कुन्ती को बड़े प्यार से पाला था। लेकिन अब मैं इससे तंग आ गया हूँ। आज तो पैर के अँगूठे को ही इसने भुर्ता करवा दिया, कल हाथ-पैर से भी हाथ धो बैठूंगा। इसलिए मैं सोचता हूँ कि जो तुम दे दोगे, सो मैं ले लूंगा। मगर अब इस कुन्ती को अपने पास न रक्खूंगा। मैं एक ही पशु पाल सकता हूँ, दो नहीं। या तो मैं हीरा के पीछे-पीछे लग सकता हूँ, या इस कुन्ती के।"

अब कामतापंडित आश्चर्य-चकित होकर बोल उठे—"बस सुकुल, तुम्हारी इस बात का कोई जवाब नहीं है। पर वैसे तो मैं चाहे इस गाय को ले भी लेता, और चार आदमी जो तय कर देते, वह मैं दे भी देता। लेकिन अब न लूंगा।"

गोकुलसुकुल ने प्रश्न कर दिया—"क्यों?"

कामतापंडित ने कुछ सोचते हुए उत्तर दिया—"अब यह मैं तुम्हें न बताऊँगा सुकुल। और इसको बताने के लिए तुम कभी मुझसे अनुरोध भी न करना।"

कामतापंडित का यह उत्तर सुनकर गोकुलसुकुल चुप रह गये। अब उनका घर भी निकट आ गया था। अपने घर की ओर चलते समय कामतापंडित जब थोड़ा आगे बढ़ गये तो मन-ही-मन कहने लगे—'यह आदमी पशु अधिक है।' जमुनाप्रसाद कुन्ती को पेड़ के नीचे बाँधकर अपने घर चले गये। मन-ही-मन उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि रात-बिरात, अँधेरे-उजेरे, अकेले मिलने पर ही रुपये के लिए सुकुल से कहूँगा।

जमुनाप्रसाद आजकल नित्य यही सोचा करते थे—'न जाने किस तरह

लोग रुपया माँगते हैं ! मेरी तो जान निकलने लगती है।' कभी-कभी एक निःश्वास लेकर वे मन-ही-मन यह भी कह उठते—'क्या तुम इससे अच्छी दुनिया नहीं बना सकते थे' ?···कामतापंडित के इनकार से गोकुल-सुकुल का क्रोध शान्त होने के बदले कुछ और भड़क उठा। घर पहुँचते ही एक डोर को चौहर करके उन्होंने कुन्ती की पीठ पर दो-चार हाथ सड़ासड़ जमा दिये। हर बार वे उससे यही प्रश्न करते जाते—"और भागेगी इधर-उधर ? बोल, और भागेगी ?"

अन्त में कुन्त 'वाँ' करके चिल्ला उठी।

इतने में कामतापंडित फिर आ पहुँचे। पर इस समय देवकी को हीरा के निकट बैठा देखकर उनके आश्च की सीमा न रही। एकाएक उनके मुँह से निकल गया—"चलो, यह बहुत अच्छा हुआ कि दोनों में सुलह और सफ़ाई हो गई !"

हीरा ने सिर ऊपर उठाते हुए उत्तर दिया—"दद्दा, बार-बार जैसे कोई मुझसे कहने लगता था—"पास-पड़ोस से वैर रखने वाला आदमी कभी सुख की नींद नहीं सो पाता।"

उधर जमुनाप्रसाद की स्थिति बड़ी विचित्र हो रही थी। बहुत साहस करके वे घर से निकलते, गोकुलसुकुल के द्वार पर आते, मगर आगे न बढ़कर वहीं रुक जाते। प्रत्येक बार वे अपने-आप से प्रश्न करने लगते—'अगर अन्दर कोई दूसरा आदमी बैठा हो, तो ?' अन्त में एक बार साहस करके जो अन्दर गये भी, तो द्वार पर कामतापंडित के जूते रखे देख चुपचाप पुनः बाहर लौट आये।

निर्धनता मनुष्य को कितना भीरु बना देती है !

हीरा की बात सुनकर कामतापंडित बोल उठे—"क्या बात कही है बिटिया तुमने ! तबियत हरी हो गई ! मगर इस बात के नीचे एक पेंदी है।"

"पेंदी !" आश्चर्य के साथ हीरा ने पूछा—"पेंदी कैसी ?"

कामतापंडित खड़ी चारपाई की पाटी पर हाथ टेकते हुए बोले—जैसे लोटे के नीचेवाले भाग में एक पेंदी रहती है, वैसे ही हर बात का एक आधार होता है। पेंदी मैं उसी आधार को कहता हूँ। अभी तुमने जो बात कही हीरा, उसमें भी मुझे ऐसा एक आधार देख पड़ता है। शायद तुम्हें मालूम नहीं कि बापू हमको कितना बढ़िया मंत्र सिखा गये हैं। उस मन्त्र का प्रभाव मेरी राय में उस बूटी से किसी भाँति कम नहीं है, जिसे हनुमान्‌जी लक्ष्मणजी की रक्षा के लिए सुमेरु पर्वत से ले आये थे!'

तब उत्सुकता के साथ हीरा ने पूछा—"मुझे भी बता दो दद्दा, वह कौन-सा मंत्र है?"

कामतापंडित ने मुस्कराते हुए कह दिया—"अहिंसा।"

अभी क्षण-भर पूर्व गोकुलसुकुल ने घर के अन्दर प्रवेश करते हुए जो देवकी को बैठा देखा, तो सबसे पहले उसके मुँह से निकल गया—"देवकी!"

और देवकी ने गोकुलसुकुल को दूर से लँगड़ाते और निकट आने पर उनके पैर को लहू-लुहान जो देखा, तो यकायक उसके मुँह से निकल गया—"हाय तुम्हारे पैर में यह खून कैसा जीजा!"

गोकुलसुकुल ने पास पड़ी हुई कथरी को आगे खिसकाकर उस पर बैठते हुए उत्तर दिया—"यह सब बाद में पूछना देवकी। पहले इसमें जो कुछ लगाना हो, सो लगाकर पट्टी तो बाँध दे।"

देवकी को ऐसे अवसरों पर सेवा करने का चस्का लग गया था। अतः रुई, लोशन और पट्टी बाँधने वाला साफ़ कपड़ा झट घर से लाकर वह यथाविधि घाव पर पट्टी बाँधने लगी।

अब गोकुलसुकुल बोल उठे—"बिटिया, उस दिन मैंने तुमको बहुत कड़ी बातें कह डाली थीं। उनके लिए मुझे बड़ा दुःख है। उस दिन की बातों की याद कर-करके सच पूछो तो मैं मन-ही-मन रोया करता हूँ। सारा गाँव तुम्हारी प्रशंसा करता है। कौन नहीं जानता कि तुम सबके सुख-दुःख में शामिल रहती हो! किसी की तकलीफ़ तुमसे देखी नहीं

जाती। ऐसी हालत में सच पूछो तो मुझको सदा तुम्हारा मान ही करना चाहिए, क्या मैं इतना भी नहीं जानता ? लेकिन उस समय मेरी मति मारी गई थी देवकी। अब मैं तुमको क्या बताऊँ बिटिया। यह जाँघ खोलो तो लाज—वह जाँघ खोलो तो लाज ! फिर इस दुनिया में तरह-तरह के आदमी हैं, जिनके तरह-तरह के मुँह हैं। कोई कहीं से बोलता है—कोई कहीं से !"

देवकी पट्टी बाँध चुकी थी। अब साबुन से हाथ धोकर गमछे से मुँह पोंछ रही थी। एकाएक हँस पड़ी और बोली—"जाओ जीजा, तुम कैसी बातें करने लगे !"

उधर कामतापंडित चारपाई पर बैठे हीरा को समझाते हुए कह रहे थे—"अब तुम चाहे जो कुछ कहो बिटिया, मैं तो सीधी बात जानता हूँ। तुमको उस दिन निमोनिया हो गया था। उस समय गाँव भर में ऐसा कौन माई का लाल था, जो मृत्यु के मुख में जाते-जाते हाथ पकड़कर तुम्हें खींच लेता ? अगर देवकी ऐसे समय पर न आ जाती, तो दूसरे दिन ही तुम्हें भूरे बाबा की बगिया में फूँक देने की नौबत आ गई होती !"

"आ तो गई होती, दद्दा ! सिर हिलाती हुई हीरा बोली—"इसमें ज़रा भी शक़ नहीं है।"

अब एक कोने की ओर मुँह फेर तम्बाकू फुरकते हुए कामतापंडित बोले—"तो अब सोचने की बात है हीरा कि उस समय जब देवकी के साथ तुम्हारा बोलचाल तक बन्द था, ऐसा कौन-सा आकर्षण था, जिसने देवकी को तुम्हारे घर आने और तुमको दवा देने के लिए विवश कर दिया ! ज़रा उसके दिल को तो देखो हीरा ! ऐसे समय उसने वैर-विरोध का ज़रा भी खयाल नहीं किया ! जब तुम्हारा दुःख उससे सहन न हुआ, तब वह अपने-आप तुम्हारे पास खिंची चली आई। मैं तो कहता हूँ—देवकी देवी है देवी ! तुमने बहुत अच्छा किया, जो उससे क्षमा माँग ली। मेरे इतना कहने का मतलब यह है कि लड़ाई का जवाब लड़ाई

ही नहीं है, वैर का उत्तर दुश्मनी ही नहीं है, बुराई का मुकाबिला बुराई से ही नहीं होता, भलाई से भी होता है। ऐसे समय देवकी ने आकर सचमुच बड़ी वीरता का काम किया। उसने तुमको जीत लिया। पर उसके बाद तुमने जो उससे माफ़ी माँगकर उसके दिल की गाँठ खोल दी, उसमें तुम्हारी हार नहीं हुई हीरा। जानती हो क्यों ?—क्योंकि ऐसा करके तुमने भी अपने हृदय के बन्द कपाट खोल दिये। आपस में जब वैरभाव हो, तब जो आदमी आगे बढ़कर क्षमा माँग लेता है, उसकी हार फिर हार नहीं मानी जाती। क्षमा माँगने के लिए भी बहुत बड़ा दिल चाहिए। जैसे हर एक आदमी बुराई का बदला भलाई से नहीं दे सकता, वैसे ही अपने अपराध पर सच्चे हृदय से क्षमा माँग लेना—इस अहंकार, दम्भ और पाखण्ड से भरी हुई दुनिया में—हर एक आदमी का काम भी नहीं हो सकता। तुमने सचमुच बड़ी समझदारी का काम किया है।"

अपनी प्रशंसा सुनकर हीरा पुलकित हो उठी। तब उसने मुस्कराते हुए पूछा—"दद्दा रौंसा का चवेना बना है। ले आऊँ ?"

इतने में जमुनाप्रसाद आ गये। कामतापंडित ने उनके बैठने के लिए जगह कर दी। साथ ही उन्होंने पेट पर हाथ फेरते और हँसते हुए कह दिया—"हाँ, पेट तो कुछ कह रहा है बिटिया। अच्छा, फिर लाओ। मुझको तो सब हज़म होता है। बचपन में अम्मा पिताजी को पढ़ाया करती थीं कि जिस गाँव में लड़की का व्याह हो, उस गाँव के कुएँ का पानी भी न पीना चाहिए। मगर एक हम हैं कि बेटी के घर जाकर समधिन को पास बैठा देखते हुए प्रेम के साथ भोजन पाते हैं और जब चलने लगते हैं, तो अन्दाज़ से सवाया दाम चुका देते हैं। नजर-भेंट की बात दूसरी है, उसका हिसाब अलग रहता है।"

हीरा कामतापण्डित और जमुनाप्रसाद दोनों के लिए चवेना ले आई। तब जमुनाप्रसाद कान पर हाथ रखकर बोले—"अच्छा, रौंसा का चवेना बना है ! वाह ! तब तो अच्छे मुहूर्त में घर से चला था। लेकिन बिटिया

उस दिन सुकुल को जो-कुछ कहा हो, आज मैं उसके लिए, इस अन्न को सामने रखकर, तुमसे माफ़ी माँगता हूँ।"

जमुनाप्रसाद की बात सुनकर कामतापण्डित उनकी ओर देखते रह गये। क्षण-भर बाद वे यह भी सोचने लगे—'जान पड़ता है, जमुना इस समय कुछ कष्ट में है। अन्यथा ऐसा कभी सम्भव न था।

निर्धनता मनुष्य का सारा आत्म-गौरव मिट्टी में मिला देती है!

प्रसन्नमुख हीरा बोली—"कोई बात नहीं चाचा। आपस में कभी-कभी ऐसा हो ही जाता है।"

इतने में आँधी आ गई और कामतापण्डित हँस पड़े। बोले—"वाह! गांधीजी के नाम के साथ आँधी का कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है!"

बात-की-बात में कोलाहल मच गया। ज़ोर से हीरा बोली—"अरे अरे! आँधी तो बड़े ज़ोर से आ गई। देखो, पेड़ गिर पड़ा! हाय कुन्ती मरी!" और इतना कहती हुई वह तत्काल उधर ही भाग खड़ी हुई।

इसी समय कुन्ती 'बाँ-बाँ' बोल उठी!

अब कामतापण्डित भी चिन्ता के स्वर में बोले—"कहीं मेरी श्यामा······!" और तुरन्त भाग खड़े हुए।

"यार, गैया तो मुझे भी···" कहकर जमुनाप्रसाद भी तुरन्त चल दिये। यद्यपि तब भी वे सोच यही रहे थे कि इस समय रुपये माँगने का मौक़ा अच्छा था!

तब देवकी भी यह कहकर भाग खड़ी हुई—"जीजा, बकरियाँ मेरी भी बाहर बँधी हैं।"

अब किवाड़ फटाफट बोल रहे थे। एक खिड़की टूटकर भीतर आ गिरी, जहाँ गोकुलसुकुल बैठे हुए थे। उसके आगे पड़े हुए छप्पर के बाँस में लटकता हुआ तोता अपने पर फड़फड़ाते हुए बोल रहा था—

"होइहै सोइ जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावहि साखा।"

कभी वह अड्डे पर बैठ जाता, कभी पिंजड़े की तीलियों में बार-बार

चोंच गड़ा लेता। गोकुलसुकुल एकदम से घबरा उठे। बारम्बार वे सोचने लगे—'मालूम नहीं क्या होनहार है।'

हीरा भागकर कुन्ती को देखने चली गई। पेड़ की एक डाल उसके ऊपर जा गिरी थी और वह उसमें दबी पड़ी थी !

हीरा चिल्ला उठी—"दादा, दौड़ना, कुन्ती दब गई !"

गोकुलसुकुल भी चिल्ला उठे—"क्या कहा, कुन्ती दब गई ! हाय राम ! यह सब क्या हो रहा है !"

इतने में बादल गरजने लगे। बिजली चमकने लगी। अन्धकार हुए अभी थोड़ी ही देर हुई थी और हीरा जो लालटेन स्वामी के कमरे में जलाकर खिड़की पर रख गई थी, वह आँधी के झोकों में आकर नीचे गिर गई, जहाँ एक ईंट पड़ी हुई थी। परिणाम यह हुआ कि लालटेन का शीशा चूर-चूर हो गया और मिट्टी का तेल फैल गया।

इतने में एक क्षीण स्वर कामतापण्डित के मकान से आता सुनाई पड़ा—"श्यामा तो बच गई, मगर पेड़ की डाल से एक कोठे की दीवार आधी गिर गई और कोठे का कोना भी नीचे आ रहा है !"

अब लालटेन हाथ में लिये हुए कामतापण्डित कुन्ती के पास आ पहुँचे और एकाएक उसको दबा हुआ देखकर चिल्ला उठे—"कुन्ती दब गई है। भाई लोगो, दौड़ो, जल्दी आओ।"

जमुनाप्रसाद अपनी गाय को अन्दर बाँधकर जो बाहर आये तो यह देखकर दौड़ पड़े कि कुन्ती को जिस पेड़ के नीचे बाँधा था, उसी की एक डाल फट पड़ी है। तब वे चिल्ला उठे—दौड़ना भाई, बचाना। यहाँ गैया दब गई है।" इसी क्षण फिर एक क्षीण स्वर में कुन्ती ने 'बाँ' किया। पर आँधी का वेग इतना अधिक था कि विपरीत दिशा में स्वर आगे बढ़ ही न पाता था। गोकुलसुकुल अब भी चारपाई पर बैठे हुए थे। कभी-कभी उनके मुँह से निकल जाता—"हाय राम ! क्या होनहार है" ! वे अगर चाहते, तो आवाज़ के सहारे लाठी टेकते हुए घटनास्थल पर जा सकते थे; किन्तु

आँधी के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वर जो आपस में टकराते और वायु का वेग हहर-हहर करता हुआ हाहाकार करने लगता, तो वे यही सोचने लगते कि अभी और न जाने क्या होनहार है ! कहीं ऐसा न हो कि जिस समय मैं घटनास्थल पर जाऊँ, उस समय कोई चीज़ मेरे ऊपर आ गिरे ! अभी मैं अँगूठे में चभेट खा ही चुका हूँ।...हाँ, हो, अँगूठे में बड़ा दर्द है।"

फिर एक वार उनके मन में आया कि किसी भी तरह वहाँ जाकर देखना चाहिए कि क्या हाल है।

पड़ोस का कोलाहल सुनकर देवकी बोली—"पद्मा, तुम यहीं बैठना। मैं अभी आई। देखो, डरना नहीं।"

उसके चौके में चूल्हा जल रहा था। उस पर ऊपर चढ़ी हुई बटलोई, जिसमें दाल चुर रही थी, उसने नीचे उतार ली। जलती हुई लकड़ियाँ बुझा डालीं और आग को पहले तवे और फिर पीतल की एक फूटी थाली से ढक दिया।

अन्दर बँधा हुई बकरियाँ अब जुगाली कर रही थीं। बिजली कौंध रही थी। हवा के झोंके साँय-साँय बोल रहे थे कि एकाएक पानी बरसना प्रारम्भ हो गया। यहाँ तक कि देवकी जब आँगन पार करके अपने घर के द्वार पर आई, तो इतने ज़ोर की बौछार उसके सामने आ गई कि वह भीग गई।

पर देवकी हाथ में लालटेन लिये हुए थी और अपने सिर को उसने एक बोरे के कोने से ढक लिया था। वह थोड़ा आगे बढ़कर फिर वहीं रुक गई।

अब नीम के उस पेड़ के नीचे कुन्ती मुँह बाये पड़ी थी। उसकी जिह्वा लगभग एक बालिश्त बाहर निकल आई थी और नथुनों के रास्ते ऊपर से बहता हुआ बहुत-सा खून नीचे पड़ा था ! वह अब अन्तिम साँसें गिन रही थी ! पानी बरस रहा था। बादल गरज रहा था। और बिजली

काँप रही थी ।

देवकी जो कुन्ती के पास पहुँची तो क्या देखती है कि वहाँ पड़ोस के कई आदमी उपस्थित हैं । कोई डालें काट रहा था । कुछ लोग एक बड़ी डाल को उठाकर कुन्ती के ऊपर से हटाने में लगे हुए थे । कुछ लोग खड़े हुए कह रहे थे—"बड़ा अनर्थ हो गया ! कुन्ती विचारी कितनी सीधी थी ! किसी को मारना तो जानती ही न थी ।"

इतने में दूसरा बोल उठा—"कुन्ती सीधी चाहे न भी थी, लेकिन आखिर को गऊ थी और अभी कलोर थी । और फिर सुन्दर कितनी थी ! ऐसी गाय हमारे गाँव में तो अब दूसरी रह नहीं गई । जिस दरवाज़े से निकल जाती, लोग तमाशा देखते रह जाते थे । गाय क्या थी, छोटी-मोटी हथिनी थी, हथिनी !"

इतने में हीरा सिसकियाँ भरती हुई गोकुलसुकुल के यहाँ जा पहुँची और बोली, "अगर मैं अब तक कुमारी ही बनी रहती, तो ज़्यादा सुखी होती ! तुम इतने कायर निकले कि दुनिया में मुँह दिखाने को भी अब मेरे लिए जगह नहीं रह गई है ! सारा टोला वहाँ खड़ा है और तुम यहाँ सीताराम-सीताराम जप रहे हो ! अँगूठा क्या छिल गया, घाव हो गया ! जैसे लड़ाई से घायल होकर लौटे हो ! राम-राम ! वहाँ लोग बार-बार पूछते हैं सुकुल कहाँ गये, मैं किस-किसको जवाब दूँ ? लाज के मारे मैं तो मरी जा रही हूँ !"

हीरा की इन बातों के उत्तर में गोकुलसुकुल ने कुछ नहीं कहा । उनका हृदय अब भी धक्-धक् कर रहा था । वे सोच रहे थे—'अगर कुन्ती मर गई तो !—हाँ, मर गई तो !'

इतने में घटनास्थल पर एक-साथ कई लोगों ने ज़ोर लगाकर कुन्ती के ऊपर गिरी हुई डाल को थोड़े अन्तर से आगे की ओर डाल दिया । किन्तु जब डाल कुन्ती के ऊपर से उठ गई, तभी जमुनाप्रसाद बोल उठे—"कुन्ती मर गई !"

तव एक-साथ कई स्वर गूंज उठे—"क्या कहा ? कुन्ती मर गई !"

"हाँ हो, मर गई !"

"कुन्ती चली गई !"

"हाँ, कुन्ती चल वसी !"

हीरा दौड़ती हुई उसके पास ही आ गिरी। उसके मुँह से निकल गया—"हाय कुन्ती !"

इतने में अन्दर से वाहर आते-आते गोकुलसुकुल एक द्वार से लगकर चीख उठे—"अरे वाप रे ! साँप !"

जमुनाप्रसाद को इन घटनाओं के लिए इतना दुःख और भय न था जितना यह सोचकर हो रहा था कि अव रुपया तो इनसे मिलने से रहा !

एक-साथ पुनः कई स्वर सुनाई पड़े—"क्या कहा—साँप !"

दूसरे ने उत्तर दिया—"वह आया, वह गया।"

तव एकदम से भगदड़ मच गई। कोई गिर पड़ा, कोई वहीं वैठ गया। किसी ने कहा—"हे शिवशंकर भोलानाथ !"

जमुनाप्रसाद के भी मुँह से निकल गया—"हे प्रभू !"

थोड़ी देर में सव लोग गोकुलसुकुल के पास आकर खड़े हो गये। पानी अव थम गया था। हीरा के हाथ में लालटेन थी। कामतापण्डित ने पूछा—"कहो सुकुल, क्या हुआ ?"

जमुनाप्रसाद वोल उठे—"हुआ कहीं कुछ नहीं है। मेरी समझ में तो यह आ रहा है कि सुकुल धपसट में आकर भय खा गये हैं।"

पर गोकुलसुकुल कुछ वोले नहीं—वे वोल नहीं सके !

हीरा घवरा गई। उसके मुँह से निकल गया—"हाय दद्दा, इनको क्या हो गया !"

इतने में कामतापण्डित ने उनके वदन को हिलाते हुए पूछा—"सुकुल, अरे ओ सुकुल ?"

तव गोकुलसुकुल ने हाथ उठाकर चुप रहने का संकेत कर दिया।

उनकी साँस तीव्रता के साथ उठ और गिर रही थी। उनका सीना ऊपर को उठता था और फिर भीतर की ओर सिमट जाता था।

कामतापण्डित ने पूछा—"साफ़-साफ़ बताओ, क्या बात है?"

तब गोकुलसुकुल ने हाँफते-हाँफते कहा—"पूछो मत। दिल अब भी धड़क रहा है। भगवान् ने बाल-बाल बचाया, नहीं तो कुछ बाकी थोड़े ही रह गया था!"

कामतापण्डित बोले—"मगर बच तो गये न?"

गोकुलसुकुल को अब कुछ बल मिला और हाँफते-हाँफते उसके मुँह से निकल गया—"बच तो गया दद्दा, मगर मैं तब से यही सोच रहा हूँ—अगर वह काट खाता तो! देखो, इस जगह पर हाथ रखकर देखो, आँधी-सी चल रही है कि नहीं! उफ़!"

अब जमुनाप्रसाद बोल उठे—"देखो वही बात निकली न!"

थोड़ी देर बाद जब सब लोग चले गये और कामतापण्डित भी चलने को हुए, तो वे बोले—"सुकुल, कुन्ती ने तुमको जवाब बहुत अच्छा दिया। तुम उसको बेच रहे थे न? और तुमने उसे मारा भी था! उसकी 'बाँ' की आवाज़ अब भी मुझे सुनाई पड़ रही है!

...."मगर सुकुल तुम बुरा न मानना। कुन्ती अगर किसी कारण तुम्हारे बन्धन में नहीं रहना चाहती थी, तो क्या यह उसका कोई कसूर था! उसके भीतर भी तो एक जीवात्मा थी, उसकी अपनी भी कुछ ज़रूरतें रही होंगी, जिन्हें वह तुमसे पूरी कराना चाहती होगी, जिन्हें तुम अपने अज्ञान से सोच नहीं पाये। तभी तो वह भागी-भागी फिरती थी बेचारी! उसकी इस दशा को, भूख-प्यास की ही तरह, उसकी एक माँग और एक ज़रूरत को न समझकर तुमने उसे मारा। तुम समझते हो, यह तुम्हारा कसूर न था, अपराध न था, पाप न था! सच पूछो तो तुमने बड़ा भारी पाप किया है।"

अब गोकुलसुकुल को ध्यान आ गया था, कल भी उन्होंने उसे जब

रस्सियों से मारा था, तब वह 'वाँ' करके चीत्कार कर उठी थी ! तब उन्होंने कामतापण्डित के पैर थाम लिये और अत्यन्त विनीत और मर्म-स्पर्शी स्वर में कह दिया—"दद्दा, एक भगवान् को छोड़कर, इस बात को तुम्हारे सिवा कोई नहीं जानता—इसलिए मेरी लाज अब तुम्हारे ही हाथ में है। आज मुझसे कहा सो कहा, अब आगे किसी से न कहना, और मैं भी तुम्हारी बात कभी जीवन-भर न टालूँगा।"

कामतापंडित ने एक ठण्डी साँस ली और उनके मुँह से निकल गया—"अच्छा सुकुल, ऐसा ही होगा।"

एक बार फिर उनके मन में आया क्यों न वे इसी समय जड़ दें कि 'और जो-कुछ हुआ सो हुआ, पर इस बात का फ़ैसला बड़ी जल्दी हो गया कि तुम्हारा ख़ून कितना गरम है !'

मगर फिर कामतापंडित ने कहा कुछ नहीं। मन-ही-मन वे सोचने लगे—'जान पड़ता है क्षमा भी वीरता का ही लक्षण है, क्योंकि असा-धारण-जन ही उस ठंडे, किन्तु मूक और भारी अस्त्र का प्रयोग करते हैं।'

---

: २१ :

गोमती कई दिनों से रेणु से बोल नहीं रही थी। मनमुटाव तो महीनों से चल रहा था लेकिन काम-काज के क्रम में शब्दों के माध्यम से पारस्परिक व्यवहार-परिवर्तन बन्द न हुआ था। किन्तु अब स्थिति बदल गई थी। अब तो न प्रत्यक्ष रूप में रेणु से गोमती को कोई मतलब रह गया था और न रेणु ही के मानस में माँ के लिए आदर और श्रद्धा की वह भावना शेष रह गई थी, जो भूख-प्यास के ऊपर उठकर उनकी सेवा के लिए उसे सदा सन्नद्ध और तत्पर बनाये रखती थी।

कहते हैं दो सगे सम्बन्धियों में विभाजन तब होता है जब दोनों में से कोई एक-दूसरे से कुछ अधिक की—मिथ्या और निराधार—आशा करने लगता है। बहुत बड़ी आशाएँ आदमी पूरी भी नहीं कर पाता और बहुत बड़ी आशा रखनेवाला व्यक्ति एकदम निराश होने का आघात भी सहन नहीं कर पाता। परिणाम यह होता है कि दोनों का हृदय एक-दूसरे को नोचने लगता है।

गोमती नहाने जा रही थी, तभी उसने लल्ली से कह दिया—आज से हमारी रोटी भी अलग बनेगी। मैं किसी की लौंडी नहीं हूँ जो थोप-थोपकर खिलाऊँ! बहुत दिन खिला चुकी!"

अब लल्ली की स्थिति बड़ी मर्मान्तिक हो गई। इधर माँ रेणु के लिए विष से बुझे वचन बोला करती, उधर रेणु भी ताव में आकर कोई ऐसी बात कह देती जो लल्ली को बुरी तो लगती थी, पर उसका आभास तक अपनी माँ को नहीं देना चाहती थी!

पर इन अवस्थाओं के बीच में अर्थ की एक बहुत बड़ी रेखा थी।

माँ का कहना था कि रेणु को अपने विवाह के लिए मेरी सहायता करनी चाहिए। और रेणु इसके उत्तर में स्पष्ट कुछ कहती तो न थी, लेकिन उसके भीतर जो लपटें उठा करती थीं और पवन-झकोरों के साथ उनका स्वर जो सुनाई पड़ता, उसका स्पष्ट मन्तव्य यह था कि कोई आदमी अपने ही दाह-संस्कार के लिए अग्नि-शय्या की लकड़ी नहीं चुना करता! मैं भी अपने विवाह के लिए अपनी कमाई की एक पाई नहीं खर्च करूँगी। जब मैं यह समझूँगी कि अब मेरे कौमार्य से मेरी और अम्मा की प्रतिष्ठा को आँच पहुँच रही है, तब चुपचाप इस संसार से विदा ले लेने के लिए मेरे पास साधनों की कमी न होगी।

इस कथन में जो प्रबल गर्मी थी, लोहे को द्रव पदार्थ बना देनेवाली जो असीम ज्वाला थी, उसके अन्दर भी एक बात छिपी हुई थी। वह रेणु के लिए सचमुच बहुत ही प्राणघातक थी। उसमें उसके मान का प्रश्न निहित था। उसमें उसके सिद्धान्तों का खून होता था! उसमें वह अपनी ही दृष्टि से नाली का एक क्षुद्र कीड़ा बन जाती थी!

बात यह थी कि गोमती चाहती थी, अब इस अवस्था में रेणु को किसी दूसरे व्यक्ति से विवाह स्वीकार कर लेना चाहिए।

यह एक ऐसा आत्मदाह था जिससे उसके शरीर का लोम-लोम ही नहीं, त्वचा से लेकर अस्थि मज्जा तक जलता रहता था! यह एक ऐसी पीड़ा थी जो सोते-जगते उसकी अन्तरात्मा को उबालती और खौलाती रहती थी! इस परिस्थिति के साथ वह किसी प्रकार समझौता न कर सकती थी।

और भी एक बात थी। हर महीने गोमती को पन्द्रह रुपये मकान भाड़े के देने पड़ते थे। जब तक रेणु कुछ पैदा न करती थी तब तक आर्थिक संघर्ष का कोई प्रश्न ही न था। पर अब गोमती सोचती थी कि मकान-किराये का रुपया रेणु को देना चाहिए। किन्तु वह सोचती-भर थी, रेणु से स्पष्ट न कह पाती थी। कई मास तक यह मामला टलता

गया। अन्त में एक वार गोमती ने रेणु से तीन मास के किराये का भुगतान करने के सिलसिले में पैंतालिस के वदले पचास रुपये जो माँगे, तो रेणु इन्कार न कर सकी। वह यह सोचती थी कि उसके ये रुपये अम्मा वाद में लौटा ही देंगी। लेकिन गोमती ये रुपये वापिस न कर सकी। इस कारण रेणु सोचने लगी थी कि माँ अव छल से मुझसे रुपये ऐंठना चाहती हैं! संयोग की वात कि एक दिन गोमती ने मकान-किराये के सिलसिले में उससे फिर पचास रुपये की माँग कर दी; पर इस वार रेणु ने स्पष्ट कह दिया—

"रुपये तो हैं मेरे पास, पर मैं दूंगी नहीं। क्योंकि मैं जानती हूँ, ये रुपये क्यों मुझसे माँगे जा रहे हैं, जवकि घर का सारा खर्चा मुझे चलाना पड़ रहा है!"

उसके इस उत्तर को सुनकर गोमती स्तव्ध रह गई। इसीलिए रेणु न तो अव माँ से वोलती थी और न उसकी ओर दृष्टिक्षेप ही करती थी!

रेणु ने पहले तो इसका उत्तर उपेक्षा में दिया। फिर जव माँ ने दूसरे लोगों से कहलाना और प्रभाव डालना आरम्भ कर दिया, तो रेणु ने उत्तर दे ही दिया—"अगर मेरी इस अवस्था में माँ की चूड़ियाँ फूट गई होतीं, तो क्या वे स्वयं किसी दूसरे व्यक्ति को वरण कर लेतीं? जवकि मैं अभी तक विवाह के नाम पर चूड़ियाँ धारण भी नहीं कर पाई हूँ! मैं मानती हूँ कि कन्या जव तक विवाहित नहीं हो जाती, तव तक तन की वात तो दूर रही, मन भी वह किसी को देने की अधिकारिणी नहीं होती। लेकिन हिन्दू-धर्मशास्त्र का इस विषय में स्पष्ट आदेश है कि सोलह की अवस्था पारकर लेने पर वह स्वेच्छानुसार किसी को भी वरण कर सकती है। इस दशा में उसका यह आचरण न उसे अपराधी वनाता है और न माता-पिता की मर्यादा के साथ ही उसका कोई सम्वन्ध माना जाता है। मैं प्राणोत्सर्ग कर सकती हूँ, पर किसी अन्य व्यक्ति के साथ वरणोत्सर्ग नहीं कर सकती!"

इसी क्षण लल्ली वोल उठी—"तुम अपने लिए तो खाना वनाओगी ?"
गोमती ने मस्तक पर वल देते हुए उत्तर दिया—"तो फिर ?"

लल्ली वोल उठी—"फिर उसी चौके में दीदी और अपने लिए मैं खाना वना लिया करूँगी।"

गोमती ने झिड़कते हुए कहा—"नहीं, अव हमारा चौका-चूल्हा भी अलग होगा !"

वहन और माँ की ये वातें रेणु ध्यान से सुन रही थी। अतः उत्तर में तो वह कुछ न वोली, किन्तु समय पर कालेज जाने की तैयारी करती रही।

घड़ी टिक-टिक वोल रही थी।

रेणु ने देखा—नौ वज रहे हैं। तव उसने अपना वैग उठाया और वह चुपचाप सीढ़ियाँ उतरने लगी।

इतने में दो सीढ़ी उतरती-उतरती तीसरी सीढ़ी से नीचे पैर रखते हुए उसने देखा—कोई एक तरुण व्यक्ति सिर पर हैट, आँखों पर चश्मा और वगल में एक सुन्दर वैग लिये हुए ऊपर आ रहा है।

अव रेणु के पैर थम गये और क्षण-भर वाद उसे प्रतीत हुआ कि उसके हृदय की गति भी जैसे थम गई है। एक वार उसके मन में आया वह ऊपर लौट जाय। एक वार यह भी उसके मन में आया कि वह कई सीढ़ी उतरकर उसके सामने जा पहुँचे और···।

इतने में शंकर ने अभ्यासवश हैट सिर से उतारते हुए अपनी दोनों आँखें ऊपर कर दीं। पहले उसके होंठ कुछ हिले, फिर वह वोल उठा—"ओः रेणु, तुम कहीं जा रही हो क्या ?"

रेणु को कुछ ऐसा लगा, जैसे वह वहीं गिर पड़ेगी। एक वार तो नयन भी झपक गये, किन्तु वरवस सचेत रहकर उसने कह दिया—"अव कहीं जाना न होगा। आओ, ऊपर उसी कमरे में, जहाँ उस दिन लल्ली ने विठा रखा था। याद तो होगा···?"

शंकर असमंजस में पड़ गया। सोचने लगा, ऊपर जाकर वह माँ

से मिल ले, या रेणु को साथ लेकर, कहीं अन्यत्र बैठकर एक बार इतमीनान के काम की बातें कर डाले। पर फिर उसे ध्यान आ गया घनश्याम का। तब वह मन-ही-मन सोचने लगा, उसके रहते वह रेणु से कैसे मिलेगा!

रेणु ने देखा—वे ऊपर नहीं आ रहे हैं। तब वह स्वयं बोल उठी—"अच्छा चलो, तुम्हारे साथ ही कहीं ··।"

और इस कथन के साथ वह स्वयं ही नीचे की सीढ़ियाँ उतरने लगी।

दरवाज़े पर एक गाड़ी खड़ी थी, शंकर बोला—"चलो, यह गाड़ी मुझे भेजने के लिए ही आई है।"

रेणु शंकर के साथ उसी में जा बैठी।

इतने में लल्ली जो चौके से निकलकर खाने के लिए रेणु को बुलाने आई, तो उसे कमरे में न पाकर छज्जे पर जा खड़ी हुई। पर तब तक गाड़ी आगे बढ़ गई थी।

रेणु ने पूछा—"कब आये?"

"कल रात को आया हूँ। रात-भर का जगा हुआ हूँ। नींद आँखों में भरी हुई है। कर्तव्य का भार सिर पर लदा हुआ है। इसलिए अब लौटा जा रहा हूँ। चलते समय मैंने सोचा, तुमसे मिलता जाऊँ। बहुत दिनों से देखा न था। समय ही न निकाल पाता था। किसी प्रकार आना भी हुआ, तो सारा समय घरवालों ने ले लिया।···पर क्या घनश्याम से कुछ मालूम नहीं हुआ?"

"आजकल वे रात की ड्यूटी करते हैं। इसलिए प्रातःकाल उनसे भेंट नहीं हो पाती।···लेकिन तुम मेरे यहाँ आने का समय कैसे निकाल सके?"

शंकर मुस्कराने लगा। तब रेणु बोली—"एक चिट्ठी भी कभी नहीं लिख सकते थे?"

"हाँ, तुमको तो नहीं लिख सका, लेकिन घनश्याम से सब हाल तो

मिलता रहता था। एक दिन वह मेरे यहाँ गया भी था। अब तो तुम एम० ए० कर रही हो, मैंने सुना है।"

रेणु कुछ लाड़ दिखलाती हुई बोली—"तुम्हारी बला से !"

शंकर इस बार हँस पड़ा। बोला—"और सब तो ठीक ही हुआ, मगर मैंने सुना माँ से भी लड़ाई कर रखी है तुमने। यह बेजा बात है। कितना संघर्ष है उनके जीवन में जब सोचता हूँ, तो सोचता रह जाता हूँ ! तुम्हारे निर्माण में उन्होंने क्या नहीं किया ? आज के युग में कोई भी माँ इससे अधिक और क्या कर सकती है कि वह भूखी रहकर सन्तान का उज्ज्वल भविष्य बनाती रहे !"

रेणु के हाथ में जो रूमाल था उसको अब उसने कण्ठ के नीचे लगा लिया। फिर वह गम्भीर हो गई और बोली—"हाँ, माँ इससे अधिक लड़की का और क्या भविष्य-निर्माण कर सकती है कि हर घड़ी उसके सामने शतरंज के नये मोहरे पेश करती रहे !"

शंकर आश्चर्य से रेणु के मुख की ओर टकटकी लगाकर देखने लगा। बोला—"माँ के इस अपराध में कुछ मेरी भी विवश परिस्थितियों का हाथ है ! और हाँ, अच्छी याद आई, तुम अब तो कभी-कभी मेरे घर भी जाती रहती हो। सुना है, दादा स्वयं तुम्हारी प्रशंसा करते हैं।"

"हाँ, बहुत प्रशंसा करते हैं ! कहते हैं कि न तो उसके पिता है, न उसे भाई का ही सहयोग प्राप्त है ! माली हालत भी कुछ अच्छी नहीं। माँ एक वर्नाक्यूलर-स्कूल में लड़कियों की नाक पोंछने का काम करती है ! ऐसे घर की लड़की भला हमारी बहू बनने योग्य हो सकती है !"

शंकर गम्भीर हो गया। बोला—"देखो रेणु, तुमको मेरे दादा के सम्मान के विरुद्ध एक शब्द भी कहने का अधिकार नहीं है। वे मेरे निर्माता हैं ! तुमको जो शिकायत हो, वह तुम मुझसे कहो, लेकिन मेरे माता-पिता के सम्बन्ध में तुमको सोच-समझकर बात करनी चाहिए।"

तब कुछ साहस के साथ रेणु बोली—"तब ठीक है। तुम आज चले

ही जाओगे। यह और भी ठीक हुआ। इस बार तीन वर्ष में देखने को मिले हो, अब शायद तेरह वर्ष में मिलो! जिन्दगी पार है!"

"देखो रेणु! हमें अब इसी समस्या को सुलझाना है। विवाह के सम्बन्ध में आजकल बहुतेरे प्रस्ताव दादा के पास आ रहे हैं। यों तो इस सम्बन्ध में बाबू और माँ का भी एक तरह से उनके साथ बहुत मतभेद है। लेकिन कोई एक शब्द भी उनके सामने कहने को तैयार नहीं। मेरी स्थिति भी कुछ ऐसी है कि अपनी ओर से मैं उनसे लड़ाई कर नहीं सकता, विमुख नहीं हो सकता; परिणाम चाहे जो हो। अच्छा, तुम एक काम तो कर सकती हो कि इस साल एम० ए० कर लेने के बाद फ़ैजाबाद आ जाओ।"

रेणु बोली—"मैं सब कर सकती हूँ, पर तुम कुछ नहीं कर सकते! तुमको मालूम होना चाहिए कि अब लल्ली भी वयस्क हो रही है। मुझे उसकी ओर भी देखना पड़ता है। उसके भविष्य का ध्यान छोड़कर मैं अन्यत्र कहीं जा-आ नहीं सकती। इस साल वह भी तो इण्टर में आ गई है।"

"हूँ, तो मतलब यह है कि तुम भी अपने लिए सक्रिय नहीं बनना चाहती!"

"हाँ, जैसे तुम अपने लिए निष्क्रिय बने रहना चाहते हो!"

शंकर ने अनुभव किया कि रेणु की इस चाल में जैसे उसका हाथी मर गया हो। तब एक मुस्कराहट उसके आनन पर छा गई और उसने उत्तर दिया—"इस प्रकार के उत्तर को हम चार अक्षरों की एक अभिव्यक्ति मानते हैं। एक जब दूसरे से कह देता है, तुम उल्लू हो; तब दूसरा भी उत्तर में यही छर्रा उसके मुख पर बन्दूक की नली से दाग़ देता है—तुम खुद उल्लू हो। इसी को हम 'तू-तू मैं-मैं' कहते हैं।"

रेणु हँस पड़ी। बोली—"यह छर्रा, यह बन्दूक, यह शूटिंग···! बड़े शिकारी बन गये हो! अहिंसावाद के इस युग में इन हिंसात्मक प्रवृत्तियों

के साथ···, अच्छा प्रवृत्तियाँ जाने दीजिए, वातावरण के साथ, मेरी तो एक घड़ी भी न पटेगी।

शंकर वोल उठा—"लो, सामने यह ठेलेवाला मर गया आकर! क्या शहर है! दोनों ओर सवारियों के बीच में ठेलेवाले, ये कपड़े की गाँठें, ये धनाधीशों की लम्बी कारें, ये दुर्गन्ध उगलती चमड़े की गाड़ियाँ, ये लोहेवालों की लम्बी सरियाँ, कोयले, चूने, गन्दगी और कूड़ा-कर्कट ढोने वाले खुले हुए ट्रक?···क्या शान है कानपुर की!"

मुस्कराती हुई रेणु वोली—"औद्योगिक नगर ऐसे ही होते हैं। मेरिनड्राइव की कल्पना कर लेना वड़ा सरल है, पर सभी स्थल तो मेरिन-ड्राइव वन नहीं सकते!"

"हाँ, नगरों का नगर जो है!"

रेणु वोली—"परिस्थितियाँ साथ नहीं दे रही हैं। नहीं तो, अगर एक लीगल प्रैक्टिशनर की हैसियत से तुमसे 'आर्गू' करती, तो मजा पैदा हो जाता!"

"हाँ, मज़ा तो पैदा हो जाता; क्योंकि मैं चुटकियों में तुमको उड़ा दिया करता!"

"अच्छा फिर रही।"

शंकर कुछ सोच ही रहा था कि रेणु पुनः कह उठी—"रही न फिर?"

"रही! लो, हाथ मारो।"

रेणु ने ज्यों ही हाथ वढ़ाया, तुरन्त शंकर ने अपने दोनों हाथों के वीच में उसका हाथ लेकर जकड़ लिया। रेणु ने हाथ छुड़ाकर तर्जनी अपने होठों पर खड़ी करते हुए, नेत्रों से ड्राइवर की ओर संकेत कर कह दिया—"शिप्!"

अव दोनों अंग्रेजी में वात करने लगे—"तुमको आज कालेज नहीं जाना है?"

"मैं अपने कालेज से ही वाहर आकर तुमसे वोल रही हूँ !"

"हाँ रेणु, वे भी कोई दिन थे ।"

"और यह भी एक दिन है !"

"पर अभी वह दिन आने में देर है ।"

"मगर यह दिन भी कितनी देर में आया !"

"देर में आने वाले दिन वड़े मधुर होते हैं ।"

"मुझे वहुत मिठास अच्छी नहीं लगती !"

"इसीलिए मैं मिठास के वीच में हरी, छोटी, ततैया-मिरच का प्रयोग कर लेता हूँ ।"

"आज इसीलिए आये हो शायद !"

"मैं तुमसे सिर्फ़ मिलने चला आया हूँ । क्योंकि इस वीच विवाह के प्रस्ताव दादा के पास वरावर आ रहे हैं । तुम जानती हो, ऐसे समय तुम्हारी याद ताज़ी कर लेना मेरे लिए कितना आवश्यक था !"

रेणु की आँखों में आँसू छलक आये, वोली—"जाओ, तुम वड़े मायावी हो ! मेरी समझ में नहीं आता कि तुमने चिट्ठी-पत्री क्यों नहीं जारी कर दी ।"

"रेणु, तुम्हें कैसे समझाऊँ कि मैं अव अपने को किस तरह वचाकर रखता हूँ ! तुम्हें शायद ज्ञात नहीं होगा कि मेरी लेखनी का एक-एक अक्षर अपनी ज़िम्मेदारी रखता है । तुम दादा को दोष दे रही हो, लेकिन कभी तुमने सोचा कि पिछले वर्षों में अगर मैं तुम्हारे साथ विवाह कर लेता, तो आफ़िशल सर्किल में हमारी कितनी किरकिरी हो जाती !"

"अच्छा, तो तुम अपना आभिजात्य लादे रहो ! मैं भी किसी तरह जीवन की नैया पार कर लूँगी !"

रेणु यह वात प्रसंग में पड़कर कह तो गई, पर फिर वह हृदय की मर्मवाणी के पावन प्रतीक अपने सजल नयनों को वोलने से न रोक सकी। इस वार शंकर ने अपने वुश-शर्ट में खुंसे हुए वाँयें ओर के सुवासित

रूमाल से उसके आँसू पोंछते हुए कह दिया—"देखो रेणु, मैं अपने को तुमसे कुछ छिपाना नहीं चाहता। हम लोगों के मिलन में यह जो देर हो रही है, मुझे तो इसमें भगवान् की ही प्रेरणा का स्पष्ट हाथ जान पड़ता है। चन्द्रग्रहण के अवसर पर तुमने अपनी वीरता का जो परिचय दिया—ज़रा सोचो, उससे हमारे भविष्य का पथ कितना प्रशस्त हो गया है! मैंने पचासों बार इस विषय को सोचकर देखा है कि उस दिन तुमने मेरी माँ की प्राण-रक्षा न की होती, तो हमारा यह चिरमिलन आज की इन घड़ियों से बहुत दूर चला गया होता! मगर मेरी उस दिन की बात तुमने गाँठ में बाँध ली। हम दोनों के लिए यह कितने गौरव की बात है!"

"मगर यह जो नई गाँठ आज तुम मेरे सामने पेश कर रहे हो!"

"गाँठ पेश कर रहा हूँ, या खोल रहा हूँ!"

"जाओ तुम बहुत भोले हो! अभी गठबन्धन हुआ ही कहाँ?"

"तुम भूलती हो रेणु, तुम्हें अपने ही कथन याद नहीं आ रहे हैं। याद है, तुमने उस दिन क्या कहा था?"

"हाँ, क्या कहा था? बोलो!"

"कहा था कि आपकी मिठाई तो मैं छोड़ ही नहीं सकती।"

रेणु तब कोई उत्तर सोचने लगी।

शंकर मुस्कराने लगा। बोला—"मगर तुम भी कम चालाक नहीं हो। मेरी मिठाई तुमने स्वीकार कहाँ की! पाँच रुपये के उस नोट पर मैंने तारीख़ के साथ अपने हस्ताक्षर कर रखे हैं।"

अबकी बार रेणु ने अनुभव किया कि इन्होंने तो मेरा वज़ीर ही साफ़ कर दिया!

तब वह बोली—"लाओ, मुझे वह नोट लौटा तो दो। लाओ, देर मत करो।"

शंकर ने अपने लेदर-बैग को खोलकर एक लिफाफ़े में रखे हुए उस

नोट को वापस देते-देते कहा—"लो, अब तो तुम मानोगी कि हमारा गठबन्धन हो चुका !"

रेणु अब विचार में पड़ गई। पाई हुई निधि को वह अब लौटा ही कैसे सकती थी !

इतने में स्टेशन निकट आ गया और वह एकदम से अवाक्-सी रह-कर बोली—"अरे स्टेशन भी आ गया !"

शंकर बोला—"यहाँ तुम भूल रही हो रेणु। यह स्टेशन तो भौतिक है, स्थूल है। हम दोनों इस समय गति पर हैं। हमारे बीच अभी कोई स्टेशन नहीं आया।"

गाड़ी खड़ी हो गई। कुली ने सामान उतार लिया।

रेणु ने पूछा—"गाड़ी आने में कितनी देर है ?"

शंकर बोला—"क्यों, कालेज को देर हो गई ?"

रेणु ने उत्तर दिया—"देर-वेर की चिन्ता मत करो, यहीं स्टेशन से फ़ोन कर दूंगी प्रिंसिपल को। मैं पूछ इसलिए रही थी कि तुमको मैं यहाँ अपने साथ बैठाकर खाना खिलाना चाहती हूँ।"

"मगर मैं तो घर से खूब तन कर आया हूँ। अम्मा ने आज हमको खीर बनाकर खिलाई थी। मगर अम्मा ने क्यों, बनाई तो असल में कामना ने थी।"

"हाँ जी, कामना की खीर आज की दुनिया में लोग अकेले-ही-अकेले उड़ा लेते हैं! ऐसे समय भला हमारी याद क्यों करने लगे ! तुमने अगर मुझे पहले से सूचित कर दिया होता, तो क्या मैं उसकी एक प्लेट से भी वंचित रह जाती ? तुम्हें मालूम नहीं है शायद, अम्मा ने मुझको प्यार करना प्रारम्भ कर दिया है !"

"गुड, इस सफलता के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूँ रेणु।"

"जाओ, तुम कुछ नहीं जानते, कुछ नहीं समझते। यह सफलता तुम्हारी है या मेरी ?"

"अब तुम अधिक समझदारी मत छाँटो रेणु। क्योंकि वास्तव में मेरी सफलता का सीधा अर्थ है तुम्हारी सफलता !"

रेणु ने अनुभव किया—वह फिर मात खा गई।

शंकर ने कुली से कह दिया—"देखो, तुम यहीं बैठो, अभी गाड़ी आने में दस मिनट की देर है। मगर दस क्यों···?" और कुली से पूछा "क्यों, गाड़ी लेट तो नहीं है ?"

कुली बोला—"हाँ, बीस-पच्चीस मिनट लेट है साहब।"

शंकर मुस्कराने लगा। बोला—"ठीक है, तुम यहीं बैठो। हम लोग अभी आते हैं, थोड़ी देर में।"

दोनों शाकाहारी जलपानगृह में चले गये। रेणु ने झट से फ़ोन का रिसीवर कान से लगाकर उसका डायल घुमाना प्रारम्भ कर दिया। फ़ोन कर लेने के बाद वह एक केबिन में जा बैठी और बोली—"बोलो, क्या मँगाऊँ ?"

"तुम्हारे कहने से दो-एक सैण्डविचेज़ ले लूँगा।"

इतने में ब्वाय आ गया। रेणु बोली—"एट पीसेज़ सेण्डविचेज़, दो प्लेट खीरमोहन और दो प्लेट खीर।"

शंकर बोला—"मैं और कुछ नहीं लूँगा।"

ब्वाय की ओर देखकर रेणु बोली—"तुम जाओ जी, इन्हें बकने दो।"

थोड़ी देर में ब्वाय सब सामग्री ले आया। दोनों चम्मच का प्रयोग करने लगे।

इतने में इधर-उधर से झाँकते हुए विष्णु और ब्रह्मा वहीं आ पहुँचे। रेणु उनको देखकर संकुचित हो उठी। शंकर दोनों अनुजों को देखते ही हँस पड़ा और बोला—"तुम दोनों बड़े शैतान हो गये हो। कालेज क्यों नहीं गये ?"

पास बैठते हुए विष्णु ने कहा—"दद्दा, मैंने सोचा कि आज कालेज

अगर गया भी तो वहाँ जी न लगेगा। क्योंकि ध्यान तो लगा रहेगा तुम्हारी गाड़ी के टाइम की सुइयों की ओर।"

और ब्रह्मा के मुँह से निकल गया—"मैंने सोचा, ऐसे समय हमको तुम्हारा आशीर्वाद लेना ही चाहिए।"

रेणु से खीरमोहन की प्लेट दोनों के आगे बढ़ा दिया। तब विष्णु बोल उठा—"वाह! क्या कहने हैं? एक न शुद, दो शुद।"

इतने में टेबिल की घण्टी पर रेणु ने अँगुली रख दी। ब्वाय फिर आ गया। रेणु बोली—"दो प्लेट खीरमोहन और।"

शंकर कभी-कभी रेणु की आँखों में आँखें डालकर रह जाता और रेणु ब्रह्मा और विष्णु की दृष्टि बचाकर अपने दोनों मृगलोचनों से जो मूक उत्तर दे देती, शंकर उसे सहज ही हृदयंगम कर लेता।

थोड़ी देर बाद जब शंकर गाड़ी में बैठ गया और वह चल पड़ी तो एक ओर से वह अपना रूमाल हिलाने लगा, दूसरी ओर से रेणु। ब्रह्मा और विष्णु ने देखा—आज इस ट्रेन में ऐसे अनेक रूमालों का पारस्परिक आदान-प्रदान कितना प्यारा लग रहा है!

गाड़ी चली गई, तब भी रेणु उसके अन्तिम डब्बे की ओर देखती रही—इकटक! विष्णु बोल उठा—"तुम यहाँ कब आ गईं भाभी?"

और ब्रह्मा ने कह दिया—"हमको तो यह दृश्य आज प्रथम बार देखने को मिला है और कितनी प्रसन्नता की बात है कि मुँह मीठा होते ज़रा भी देर न लगी।...किन्तु भाभी, अरे, यह मैं क्या देख रहा हूँ!"

रेणु ने आँसू पोंछते हुए कहा—"कुछ नहीं, यों ही।"

विष्णु बोला—"तुम चिन्ता मत करो भाभी। तुमने देखा नहीं, आज दद्दा कितने प्रसन्न थे! वे जब चले आये, तो बाबू अम्मा से बड़ी देर तक बातचीत करते रहे; लेकिन उस समय हम लोग कुछ जान नहीं सके थे।"

रेणु के मन में आया, वह इन दोनों से कह दे कि घर में किसी से

कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। पर तब तक ब्रह्मा ने कह दिया—"भाभी, तुम किसी सोच-विचार में न पड़ना। इस तरह के संयोग, मैं सोचता हूँ, सबके जीवन में आते होंगे। ऐसी कविता हम सब लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं!"

विष्णु से अब न रहा गया। बोला—"चल-चल, लगा अपनी फिलासफी छाँटने!"

रेणु बोली—"उस समय तो हम लोग बहुत जल्दी में थे। चलो थोड़ी मिठाई और खा लो। हाँ-हाँ, चलो, संकोच मत करो।"

विष्णु ने उत्तर दिया—"भाभी, मिठाई खाने के दिन आने में अब देर नहीं है। सच भाभी…!"

रेणु ने एक हाथ विष्णु के कन्धे पर रखा और दूसरा ब्रह्मा के कन्धे पर। फिर वह बोली—"तुम हमारे घर कभी नहीं आते?"

मुँह बनाते हुए ब्रह्मा ने कह दिया—"हूँ, जैसे तुम अपने घर का पता हमको कभी बतला ही चुकी हो!"

हाथ खींचती हुई बोली—"तो चलो, आज ही चलो, आओ।"

और इतना कहकर ब्रह्मा और विष्णु के साथ रेणु जब स्टेशन के बाहर निकलकर ताँगे पर बैठने लगी, तो वह सोच रही थी—'आज माँ का वह बिगड़ उठना भी मेरे लिए एक वरदान बन गया!'

---

: २२ :

गोकुलसुकुल पर कैसी विपत्ति आ गई, इसका अनुभव कर जमुना-प्रसाद बहुत दुखी हुए। विशेष रूप से इसलिए कि उनसे ऋण लेने का अवसर भी हाथ से निकल गया! यद्यपि वे अब भी उनका मुख देखते रहते थे।

गोकुलसुकुल तीन दिन तक घर से नहीं निकले। हीरा ने पूछा—"तुमको हो क्या गया है! लोग पूछते हैं सुकुलजी कहाँ गये, दिखलाई नहीं पड़ते? तुमको क्या है, जवाब देते-देते हलाकान तो मैं हो जाती हूँ।"

गोकुलसुकुल कुछ बोले नहीं, केवल उनकी आँखों में आँसू भर आये।

हीरा बोली—"तुम अपना दुःख भूलोगे नहीं, तो फिर मेरी ज़िन्दगी कैसे कटेगी! मैं किसको देखकर जीऊँगी! दो रस्सी मार देने से इतने बड़े डील-डौल का कोई जानवर भला कहीं मर सकता है, जो तुम सोचते हो कि तुम्हीं ने उसकी हत्या की है!"

गोकुलसुकुल उठकर बैठ गये। तकिया आवरणहीन थी और कुछ मैली भी। सिरहाने से उठाकर उन्होंने अपने घुटनों पर रख ली और बोले—"हीरा, तुमने जो बात कही है, उसमें सचाई हो सकती है। लेकिन यह बात कहकर तुम जो मुझे समझाना चाहती हो, उसको तुम खुद नहीं समझ रही हो। माना कि मैंने कुन्ती की हत्या नहीं की, लेकिन कुन्ती की मौत जिस आँधी ने की है, उस आँधी के साथ क्या मेरी पहले की कोई दुश्मनी थी? नहीं थी तो फिर उसकी मौत हुई क्यों? कुछ समझ में आता है?"

हीरा दालान में झाड़ू-बुहारी कर रही थी। बैल छप्पर के नीचे

बँधे हुए थे। उनका गोबर और मूत्र मिला हुआ कीचड़ अभी तक ज्यों-का-त्यों पड़ा हुआ था।

हीरा बोली—"तो अब तुम्हारी मंशा क्या है? उठोगे नहीं? जाओ, दिसा हो आओ जाकर। तुम बाहर सफ़ाई करो, तो मैं भी घर के काम में लगूँ।"

गोकुलसुकुल ने एक ठण्डी साँस लेते हुए कहा—"अच्छा हीरा, मैं जाता हूँ। जाना ही पड़ेगा। ज़िन्दगी के लिए आदमी को अन्त में अपना काम-काज देखना ही पड़ता है।" और इतना कहकर गोकुलसुकुल छप्पर के नीचे आकर सफ़ाई करने में लग गये। जमुनाप्रसाद ने देखा, गोकुलसुकुल बाहर निकले हैं, तो उनके मन में फिर कुछ आशा उत्पन्न हो उठी। पर इतने में उन्होंने देखा कि परमेश्वरी आ मरे! बात यह थी कि इधर कई दिन से परमेश्वरी हीरा के घर नहीं आये थे। आज जब भीतर आते हुए एकाएक देख पड़े, तो गोकुलसुकुल रुद्ध कण्ठ से बोले—"कक्का, कुन्ती तो चली गई!"

परमेश्वरीदयाल ने सहानुभूति प्रकट करते हुए कह दिया—"तुम भी सुकुल, बहुत भोले और कोमल हृदय के आदमी हो। नहीं तो इसमें दुखी होने की दरअसल कोई बात नहीं है। तुम यह क्यों नहीं सोचते कि भगवान् की कितनी बड़ी दया तुम्हारे ऊपर है! नहीं तो यह भी तो हो सकता था कि आँधी के अर्राटे में तुम पेड़ के नीचे होते और जिस डाल के फट जाने से कुन्ती की जान गई, वह डाल तुम्हारी भी जान ले लेती!"

अब जमुनाप्रसाद मन-ही-मन कह रहे थे—'जब तक भगवान् की इच्छा नहीं होती तब तक मनुष्य की तो बात ही और है, वृक्ष का पत्ता तक नहीं हिलता!'

गोकुलसुकुल बोले—"कक्का, तुम्हारा कहना भी ठीक है; लेकिन तुम समझ रहे हो कि कुन्ती तो चली गई है और मैं बच गया हूँ, तो इसमें भगवान् की कृपा का बहुत बड़ा हाथ है। अगर ऐसी बात है, तो यह

तुम्हारी भूल है। तुम ग़लती पर हो। तुम सोचते हो कि कुन्ती एक चार पैर का जानवर थी, पशु थी, लेकिन तुमने यह क्यों नहीं सोचा कि कुन्ती हमारे घर की एक लाड़ली बेटी थी, हमारा ही अंग थी!"

परमेश्वरीदयाल अब तक खड़े थे और गोकुलसुकुल बरहँचा लिये हुए छप्पर के नीचेवाले कीचड़ की सफ़ाई तो कर ही रहे थे, साथ ही वे अपने मन में घर किये हुए कीचड़ की भी सफ़ाई करने में लगे हुए थे। उन्होंने कहा—"कक्का, हमारे मन की पीड़ा तुम अभी पूरी तरह जान नहीं पाये। तुम्हारी बिटिया भी नहीं जान पाई। और शायद भगवान् को छोड़कर मेरे सिवा कोई भी नहीं जान पाया।"

परमेश्वरीदयाल लिड़ौरी पर बैठे हुए थे। बोले—"मैं फिर तुमसे यही कहूँगा कि तुम ग़लती पर हो। एक कुन्ती चली गई, दूसरी आ जायगी। मैंने आज ज्वाला अहीर की गैया देखी है। बड़ी ख़ूबसूरत है। छोटे-छोटे सींग, न बहुत बड़ी और न बचकानी। मैंने उससे कह दिया है कि चराते तुम जाओ, मगर यह गैया तुमको सुकुलजी को देनी पड़ेगी।"

गोकुलसुकुल अब एक बैल के पास जाकर उसको उठाते हुए बोले—ज़रा, हट तो जाना अर्जुन। मैं सफ़ाई कर लूं, तो फिर तुम यहाँ खड़े होना और भीम तुम बड़े अहदी हो। एक बार बैठे सो बैठे। अरे उठो भैया!"

परमेश्वरीदयाल हँस पड़े। बोले—"सुकुल, तुम्हारी सब बातें गड़बड़ होती हैं। यह जो तुम्हारे अर्जुन और भीम हैं, इन्हें तुम कितना दाना देते हो?"

हाथ झाड़ते हुए गोकुलसुकुल बोले—"दाने के हिसाब की हमारी कोई लिखा-पढ़ी तो है नहीं। दाना हुआ तो दाना दे दिया, रोटी बची तो रोटी खिला दी; दाल बची तो सानी में मिला दी। मट्ठा, दूध, गुड़ जो कुछ भी बचा तो और न बचा तो—घर से निकालकर—देता ही रहता हूँ। देखते नहीं हो, शेर-के-से बच्चे हैं! हाथ रख दो तो फनफना उठते हैं! गाँव-भर में हमारे अर्जुन और भीम का है कोई जोड़? अर्जुन के

पानी को कोई पा नहीं सकता और भीम की मस्ती तो वस देखने की चीज़ है !"

जमुनाप्रसाद अपने मकान के द्वार पर खड़े हुए वार-वार गोकुल-सुकुल के द्वार पर दृष्टि डालते हुए देखने लगते थे।

परमेश्वरीदयाल वोले—"ज्वाला कह रहा था और कोई होता तो मैं उसे अपनी गैया कभी नहीं देता, चाहे कोई हज़ार खुशामद करता। मगर तुम सुकुलजी के लिए माँग रहे हो, तो इन्कार कैसे, करें ! उनके यहाँ जायगी तो जव तक जियेगी, हमको असीसेगी।"

उधर, जमुनाप्रसाद सोच रहे थे—"यह परमेश्वरी सौ वर्ष तक तो मरेगा नहीं !"

गोकुलसुकुल प्रसन्नता से मुस्करा उठे। वोले—"ज्वाला ऐसा कह रहा था ! सच ?"

परमेश्वरीदयाल लिड़ौरी से नीचे उतर आये और वोले—"भूठ वोलने के लिए सुकुल, दुनिया में वहुत से आदमी हैं। तुमसे भूठ वोलूं, तो कहीं ठिकाना लगेगा ? खैर ! मैं इस समय तुमसे यह कहने आया था कि दादा आज-कल में आनेवाले हैं। देवकी कह रही थी कि चिट्ठी आ गई है। मैं चाहता हूँ, तुम किसी वहाने उनको अपने घर में वुलाओ, उनका न्योता करो। दो-चार वढ़िया-वढ़िया चीज़ें वनवाओ। इस तरह वे तुम पर खुश हो जायँगे। अपना काम निकालने में आदमी को असली के साथ नकली की भी थोड़ी-वहुत पुट देनी पड़ती है। तुम उनसे यह कह देना कि ग़लती मेरी नहीं, देवकी की है। पहले उसने कह दिया था कि हाँ जीजा, जव ज़मीन वेकार ही पड़ी रहती है, तव मकान वनवाने में कोई हरज की वात नहीं ! मगर इस वात को हुए कई वर्ष वीत गये। हमने कुछ कहा नहीं। हमने यह भी सोचा कि जव विटिया राज़ी है, तव फिर तुमसे पूछने की ज़रूरत ही क्या है ? इसीलिए फिर हमने तुमसे भी कुछ चर्चा नहीं की। लेकिन मालूम नहीं किसने देवकी

विटिया को वहका दिया जो उसने उल्टी-सीधी तुमसे जड़ दी। खैर दादा, यह तो बिल्कुल अपने घर की वात है। यह घर भी तुम्हारा ही है और वह घर तो है ही! जैसा वह घर, वैसा यह घर। और मान लो कि ऐसा ही एक घर और वन जाय, तो इस तरह तुम्हारे तीन घर हो जायँगे। इस तरह दादा फ़ौरन ही राज़ी हो जायँगे। तुम जानते नहीं, वे देव-पुरुप हैं देवपुरुप! और देखो, यह वात किसी को वताना नहीं। आदमी की जात वड़ी नाकिस होती है। खाना तो वह पचा लेती है, मगर वात नहीं पचा पाती।"

अव गोकुलसुकुल हँसने लगे। वोले—"कक्का, मैं न जानता था कि तुम राजनीति के ऐसे पंडित हो; मगर···।"

तव परमेश्वरी गोकुलसुकुल की वात काटते हुए वोल उठे—"अव मगर-वगर कुछ नहीं। सुनो-सुनो, वात सुनो। हाँ, तो फिर इधर आकर एक-दम चुप लगा जाना और जव वह कानपुर लौट जायँ तो देवकी से इस विपय में कोई चर्चा न करना। उधर दादा को चिट्ठी लिख देना कि अव तुम्हारी चरनों की किरपा हो जाय तो मैं एक दिवलिया यहाँ खड़ी कर लूं। वस, दादा तुमको चिट्ठी लिख देंगे। दस्तावेज़ हो जायगी दस्तावेज़! कचहरी, अदालत, तहसीली से कलक्टरी तक—और यही क्यों—कमिश्नरी और फिर हाईकोर्ट तक पत्थर की लकीर हो जायगी। वेजा कहता हूं?"

गोकुलसुकुल की वाछें खिल गईं। कूड़े को पलवा में भरते हुए वोले—"वैसे सलाह तो तुम्हारी कक्का वड़ी चौकस है और कारगर भी हो सकती है। मगर एक वात है, मैं अव देवकी को नाराज़ नहीं करना चाहता।"

परमेश्वरीदयाल वोले—"सुकुल, वस यही तुममें खरावी है। वड़े डरपोक आदमी हो तुम। देवकी विटिया की नाराज़ी की क्या वात है इसमें भला? जव दादा इजाज़त दे देंगे, तो फिर देवकी का उसमें क्या वस रह जायगा! दादा की वात को भला वह काट सकती है?"

पहुँचा तक गोवर से सने हाथ लटकाये तम्वाकू थूकते हुए गोकुलसुकुल वोले—"कक्का, आजकल मेरा मन जो है सो कुछ दुखी रहता है। वैसे तो सव ठीक ही था। मगर कुन्ती की वजह से हृदय जैसे वैठ गया हो! किसी तरह खाना तो खा लेता हूँ, मगर खाने में अव कुछ मजा नहीं रह गया है। पानी पी लेता हूँ, मगर पानी पीने में भी अव प्यास नहीं वुझती। मिठाई खाता हूँ तो जान पड़ता है, मिट्टी खा रहा हूँ! चारपाई पर लेटता हूँ तो जान पड़ता है, कंकड़ों पर लेटा हूँ! जानते हो क्यों?—क्योंकि कुन्ती तो है ही नहीं, जिसको देख-देखकर मैं जिया करता था। रोज सवेरे उठकर उसके चरण छूता था। उसके गोवर से घर जो लीप देता था तो वह एकदम से जगमगा उठता था! मगर इन वातों को तुम समझोगे नहीं कक्का! वात यह है कि भगवान् ने तुम्हारे घर में चार वच्चे जो दे दिये हैं!"

इतना कहते-कहते गोकुलसुकुल की आँखें डवडवा आईं।

तव परमेश्वरीदयाल लिड़ौरी से उतर कर वोले—"तो इसमें ऐसी कौन-सी वात है जो अव आगे कहीं तुम्हारा रास्ता रोक रही हो। एक कुन्ती चली गई, दूसरी आ जायगी। इतमीनान न हो तो कल ही भिजवा दूँ। खूव तवियत से पूजा किया करो उसकी। पैर छुओ, पूरी खिलाओ, कपड़े वनवाओ, गहना गढ़ाओ, चंदन लगाओ, आरती उतारो। जो चाहो सो करो। मगर मेरा मतलव तो यह है कि मकान क्यों न वनवाओ? वेजा कहता हूँ?"

गोकुलसुकुल कूड़े से भरा हुआ पलवा सिर पर रखते हुए वोले—"अच्छा कक्का, फिर विचार करेंगे। म···ग···र एक वात है, महूरत साध कर गैया को खूँटे में वाँधेंगे। क्योंकि इस वार जी कुछ ऐसा छगुन गया है कि गैया लेने में हिरदय धक्-धक् वोलने लगता है। पर तुम कहते हो, तो ले लेंगे।"

परमेश्वरीदयाल अव गोकुलसुकुल के पीछे हो गये। आगे-आगे कूड़े

का पलवा सिर पर रखे हुए गोकुलसुकुल बोल उठे—"अच्छा कक्का, दूध उसके नीचे भला कितना उतरेगा ?"

परमेश्वरीदयाल बोल उठे—"दूध उसके नीचे कम-से-कम चार-पाँच सेर तो उतरेगा, फिर खिलाई के अधीन बात है। छै सेर हो जाय, सात सेर हो जाय और उसकी तुमसे पट जाय, तो दस सेर भी हो जाय। ऊँची-पूरी गाय है। जैसे तुम्हारे ये अर्जुन और भीम हैं, वैसे ही इनके मुताबिक इनकी महतारी वह कुन्ती भी होगी।"

परमेश्वरी को गोकुलसुकुल के पीछे लगता देखकर जमुनाप्रसाद मन-ही-मन तमतमा उठे—'मेरा तो ख्याल है कि अगर इसे साँप काट खाये, तो इसको मैर भी न चढ़ेगा !'

तब गोकुलसुकुल बोले—"अच्छा, तो बात तय हो गई। हमारी ओर से तो तय हो गई, अब रह गई तुम्हारी बिटिया हीरा की ओर से। सो उसको तुम और पटा लेना। वैसे मेरा तो कुछ विचार है कि आजकल देवकी से उसकी इतनी ज़्यादा पटती है कि अब इस मामले की बात उठाना उसके लिए टेढ़ी खीर है।"

बातें करते हुए गोकुलसुकुल और परमेश्वरीदयाल दोनों गाँव के बाहर आ चुके थे। इतने में एक बैलगाड़ी पर बैठे हुए केदारबाबू आ पहुँचे।

परमेश्वरीदयाल ने जरा मुँह घुमाकर आँख मारते हुए इशारा कर दिया। गोकुलसुकुल केदारबाबू के आगे आकर उनके पैर छू ही रहे थे कि केदारबाबू ने उनका हाथ पकड़ लिया। बोले—"कहो सुकुल, अच्छी तरह तो हो ?"

केदारबाबू का प्रश्न सुनकर गोकुलसुकुल गम्भीर हो गये। बोले—"वैसे तो आपके चरण-कमलों के प्रताप से अच्छा ही हूँ, लेकिन अच्छा बस इतना ही हूँ कि जी रहा हूँ। नहीं तो कुन्ती के मर जाने से मेरी जिन्दगी के मुँह पर, माथे और छाती पर काले-काले धब्बे-से पड़ गये हैं दादा !"

केदारबाबू आश्चर्य के साथ गोकुलसुकुल के मुँह की ओर देखने लगे। बोले—"कुन्ती! सुकुल यह कुन्ती तुम्हारी कौन थी? इधर मैं आठ-दस महीने से नहीं आया, इसलिए मुझे ज्यादा जानकारी रही नहीं।"

परमेश्वरीदयाल ने केदारबाबू को गाड़ी पर से उतरते हुए जो देखा, तो बोले—"दादा, अब इस गाँव का माया-मोह तुमको कुछ रह नहीं गया। नहीं तो तुम ऐसे निरमोही न हो जाते कि ये गलियाँ, ये पेड़, ये मिट्टी के घर, ये छप्पर, तलैयाँ, पास-पड़ोस के बच्चे; दादा सच कहना, तुमको वहाँ, कभी कोई भी याद नहीं आते! यहाँ का पानी, असली घी, दानेदार राब, सोंधे-सोंधे सत्तू, मक्का और धान की खीलें, हरे चने के भुने हुए स्वादिष्ट दाने, रौंसे का चबेना, बाजरा के पुए, अरहर की दाल, सरसों का साग, कलमी आम, काले-काले फलेंदे...एक दो चीजें थोड़े ही हैं, पचासों हैं, पचासों। सब भूल गई? बेजा कहता हूँ?"

केदारबाबू एकदम से हँस पड़े। बोले—"परमेश्वरी, तुम्हारा बचपन न गया। जिन्दगी को तुम एक मीठा सपना समझे बैठे हो!"

परमेश्वरीदयाल अब केदारबाबू के मुँह की ओर ताककर रह गये। बोले—"बस दादा, तुम्हारी बात का कभी जवाब नहीं हुआ, हो ही नहीं सकता। बेजा कहता हूँ?"

केदारबाबू हँस पड़े—"परमेश्वरी, तुम्हारे पिता ने कभी कोई बेजा बात नहीं की—और बाबा ने भी नहीं की! इन दो साखों का पता तो मुझको है; इसके पहले भी तीन साख तक किसी ने न की होगी। इस तरह पाँच साख जैसे पहले किसी ने नहीं की, वैसे ही अब तुम्हारे बाद भी पाँच साख तक तो कोई बेजा बात कभी कहेगा नहीं।...मगर एक बात है, कहो कह दें, कहो टाल जायँ!"

इतना कहते हुए केदारबाबू अपने घर की ओर चलने लगे। गाड़ी पीछे-पीछे चली आ रही थी। परमेश्वरीदयाल बोले—"अब कह ही डालो दादा।"

केदारबाबू छड़ी टेकते हुए बोले—"और किसी की याद चाहे आवे या न आवे, मगर तुम्हारी इन चिकनी-चुपड़ी बातों की याद तो आ ही जाती है। और कहो, आजकल थानेदार के साथ तुम्हारी कैसी पट रही है?"

परमेश्वरीदयाल फिर हँस पड़े। बोले—"दादा, अब तुमसे क्या कहूँ! पटने को तो खैर थोड़ी-बहुत पट ही जाती है, मगर अब वह बात नहीं रही दादा, जो पहले थी। क्योंकि अब ज़माना बदल गया है अब न गाँव में ज़मीदारी की जैसी शान किसी के पास है और न थानेदारों का ही पेट इतना बढ़ पाता है कि वे अजगर बन सकें! बेजा कहता हूँ?"

"क्यों?" केदारबाबू बोले—"महीने में एक डाका भी अगर पड़ गया तो साल-माल का खरचा ऐंठ लेने में क्या लगता है!"

परमेश्वरीदयाल बोले—"नहीं दादा, अब यह बात नहीं।"

अब गोकुलसुकुल खेत में कूड़ा छोड़कर लौट आये थे। पास आते ही केदारबाबू ने उनकी ओर दृष्टिपात करते हुए पूछा—"हाँ सुकुल, तुमने बतलाया नहीं कि यह कुन्ती किसकी बिटिया थी? ब्याहता थी या क्वाँरी? काम-काज किसने किया? अरे, तुम तो बहुत उदास हो उठे!"

गोबर का पलवा हाथ में लटकाये हुए गोकुलसुकुल बोले—"दादा, कुन्ती मेरी बिटिया भी थी, बुआ भी थी और मैया भी थी।"

केदारबाबू अब आश्चर्य में पड़ गये। ऊँचाई पर चढ़ते हुए बोले—"इस गाँव की मिट्टी में कुछ ऐसी विचित्र बात है कि जितने भी इसके आदमी हैं, सब के सिर अलग-अलग ढाँचे और साँचे के बने हुए हैं। जिसको देखो, वही बात करते हुए आजकल की कविता पढ़ने लगता है। अरे सुकुल, मैं यह पूछ रहा था कि यह कुन्ती तुम्हारी थी कौन?"

गोकुलसुकुल अब मुस्कराते हुए बोले—"दादा, वह मेरी गैया थी।"

अब केदारबाबू खड़े हो गये। बोले—"सुकुल, मैंने तुम्हारी प्रशंसा कभी नहीं सुनी। जब सुना, तो यही सुना कि तुम कोई-न-कोई टण्टा पास-पड़ोस में खड़ा ही किये रहते हो। मगर आज तुम्हारी इस बात ने मुझ

को मर्माहत कर दिया !"

पलवा वहीं डालते हुए गोकुलसुकुल बोले—"दादा, यही आपका बड़प्पन है।·· अच्छा, अभी तो दो-चार दिन रहोगे न ?"

केदारबाबू ने गाड़ीवान से कह दिया—"बस, यहीं गाड़ी खड़ी कर दो। और बैल बाँधकर सामान ले आओ।" फिर गोकुलसुकुल की ओर उन्मुख होते-होते बोल उठे—"दो-चार दिन कहाँ सुकुल ! आज आया हूँ, कल चला जाऊँगा।"

गोकुलसुकुल बोले—"तो फिर दादा, आज भोजन शाम को हमारे ही यहाँ करो।"

केदारबाबू ने छप्पर के नीचे बिछी हुई चारपाई पर बैठते हुए उत्तर दिया—"सुकुल, वैसे हमको कोई आपत्ति न थी, मगर आजकल शाम के वक्त मैं भोजन कुछ करता नहीं हूँ। थोड़ी भीगी हुई किशमिश ले लेता हूँ और थोड़ा जला-भुना दूध !

इतने में परमेश्वरीदयाल बोल उठे—"वाह दादा, इस बुढ़ापे में ये नकशे ! आप तो हम जवानों के भी कान काटते हैं ! भीगी हुई किशमिश अंगूर बन जाती है और जला-भुना दूध रबड़ी—बेजा कहता हूँ ?"

केदारबाबू हँसे बिना न रह सके।

अब गोकुलसुकुल बोल उठे—"तो फिर कल सही !"

केदारबाबू ने द्वार के किवाड़ खोलकर अन्दर जाने से पहले कह दिया—"अब कल की बात कल सुकुल !··· अरे देवकी···?"

दादा का बोल पहचानकर देवकी अन्दर से बाहर की ओर भागती हुई बोली—"आई दादा !"

इतने में परमेश्वरी बोल उठे—"अच्छा दादा, मुझको हुकुम हो तो मैं भी अब नोन-तेल-लकड़ी की फ़िकर में लगूँ।"

केदारबाबू मुस्कराते हुए बोले—"हाँ-हाँ, बेजा क्या है ?"

---

## : २३ :

आह्लाद और सौख्य के मधुर स्फुरण, तुम्हारी लीला अपरम्पार है !

रेणु जब ताँगे पर चली, तो विष्णु ने कह दिया—"भाभी, तुमने तो वह कमाल किया है कि हम लोग दूसरे-चौथे और कभी-कभी तो नित्य उठते-बैठते तुम्हारी याद कर लेते हैं ! अम्मा कहती हैं—देर हो सकती है, मगर अन्धेर नहीं हो सकती। मुन्नी का मन तो हमें रखना ही पड़ेगा।"

रूमाल जेब में खोंसता हुआ ब्रह्मा बोल उठा—"देखो भाभी, अब तुमको हमारी बातचीत में सकुचाना नहीं चाहिए। भगवान् ने जो रचना एक बार कर दी, उसके प्रति हम को, आपको और हमारे बीच की सारी दुनिया को भला क्या शिकायत हो सकती है ?"

विष्णु अपनी हथेली खुजलाता हुआ बोला—"देखो ब्रह्मा, तुम यहाँ किसी साधू बाबा की तरह तो बात करो मत।"

ब्रह्मा इस पर हँसने लगा। बोला—"तुम्हारे आगे तो बात करना कठिन है। मैं भाभी से बात कर रहा था। तुमने इसमें भी किन्तु-परन्तु लगाना शुरू कर दिया !"

विष्णु ने रेणु की कलाई में बँधी हुई घड़ी की ओर देखते हुए कहा—"भाभी, अगर हम इस समय तुम्हारे घर न चलें और सीधे अपने कालेज चले जायँ, तो कोई हर्ज है ?"

इस पर ब्रह्मा बोल उठा—"हाँ भाभी, मैं भी कुछ ऐसा ही सोचता हूँ।···और हाँ, तुम भी तो अपने कालेज जाना चाहती होगी।"

रेणु प्रसन्नता के माध्यम से बोली—"मेरी बात छोड़ दो। मैंने तो

आज कालेज से छुट्टी ले ली है। मैं तो अब सीधे घर ही जाऊँगी।"

विष्णु ने जेब से इलायची निकालकर भाभी की ओर बढ़ाते हुए उत्तर दिया—"तो फिर भाभी, हम लोगों को भी कालेज में छोड़ दीजिए। हम अपनी पढ़ाई की हानि नहीं करना चाहते।...ए ताँगेवाले, देखो, इधर रेलवे क्रासिंग से मुड़ जाओ।"

ब्रह्मा बोला—"मगर भाभी को तो जाना है धनकुट्टी की तरफ़ कहीं! क्यों भाभी?"

मन्द-मन्द मुस्कराती रेणु बोली—"हाँ, जानते तो हो तुम!"

ब्रह्मा बोला—"बस इतना ही जानता हूँ कि उसी तरफ़ तुम्हारा घर है। मगर कौन-सा घर है, सो नहीं जानता।"

रेणु कुछ सोचती हुई बोली—"मगर यह कैसे जानते हो कि मैं धनकुट्टी की तरफ़ रहती हूँ।"

ब्रह्मा ने कह दिया—"मैंने तुमको एक बार......" और उसने अँगुली के पोरों पर अँगूठा रखते हुए कहना शुरू कर दिया—"एक बार, दो बार, तीन बार...मैंने अब तक तीन बार तुमको धनकुट्टी की ओर मुड़ते हुए देखा है।"

"अच्छा भाभी।" विष्णु बोला—"तुमको तो बड़ा चक्कर पड़ जायगा। तो हमको मालरोड के बस-स्टैण्ड पर उतार दीजिए। वहाँ से हम बस में चले जायँगे।"

और ब्रह्मा ने कह दिया—"हाँ, यही ठीक रहेगा। लेकिन ठहरिए अपना मकान नम्बर तो बताइए।"

तब रेणु ने पर्स के भीतर से अपना कार्ड निकाल कर ब्रह्मा को दे दिया।

विष्णु बोला—"हम लोग आज बड़े शुभ मुहूर्त में घर से चले थे।'

रेणु बोली—"तो शाम को तुम किस वक्त आओगे?"

ब्रह्मा बोला—"यही कोई छः बजे के लगभग। क्यों दद्दा?"

विष्णु ने कह दिया—"चार बजे हम कालेज से छुट्टी पायेंगे और पाँच बजे घर पहुँचेंगे। फिर नहायेंगे, कपड़े बदलेंगे, फिर चलेंगे। हाँ, यही कोई छः-सात बजे तक आ जायेंगे।"

इतने में माल रोड का बस-स्टाप आ गया और विष्णु तथा ब्रह्मा उतर पड़े। ताँगेवाले से रेणु बोली—"अब लौट चलो।"

थोड़ी-देर में रेणु जब अपने द्वार पर आकर ताँगे से उतरने लगी, तो ताँगेवाले को पैसे देने के अनन्तर वह एक मिनट के लिए वहाँ ठहर गई और सड़क की ओर मुँह करके सोचने लगी—'अभी एक घण्टा पूर्व मैं यहीं से उनके साथ स्टेशन जा रही थी।'

अब एक स्वप्न-सा उसके मानस-पट पर छाया हुआ था—दिवा-स्वप्न! फिर कुछ सोचती हुई वह अपने मकान की सीढ़ियाँ चढ़ने लगी...एक...दो...तीन। यहीं पर उन्होंने खड़े होकर अपना हैट उतारा था। वह फिर ऊपर चढ़ने लगी...आठ...नौ...दस। फिर ठहरकर सोचने लगी—'यहीं पर खड़े होकर मेरी दृष्टि उन पर गई थी।' फिर वह ऊपर चढ़ती चली गई।

कमरे में कोई न था। लल्ली पढ़ने गई थी। माँ पढ़ाने चली गई थी। दरवाज़े पर ताला लगा हुआ था। ताला खोलकर वह भीतर नहीं गई और घनश्याम के कमरे में जा पहुँची, जहाँ रजनी चारपाई पर लेटी हुई कालिदास की छोटी बहिन को दूध पिला रही थी।

रजनी ने रेणु के सामने आते ही तत्काल प्रश्न कर दिया—"अरे, आज इतनी जल्दी कैसे लौट आई!"

रेणु बोली—"यों ही, तबियत नहीं लग रही थी।"

रजनी ने अपने वक्ष को ढकते हुए कह दिया—"क्यों? उनकी याद आ गई होगी? हाँ भाई, क्यों न आयेगी? सब के अपने-अपने दिन होते हैं।"

रेणु ने उत्तर दिया—"दद्दा खाना खाने नहीं आये?"

रजनी बोली—"बस आनेवाले हैं।" और इतना कहकर उसने तकिये के नीचे रखी हुई चिट्ठी रेणु के हाथ पर रख दी और कह दिया—"लो पढ़ लो, आज तुम्हारे शंकरजी इस समय अपने घर पर आ गये होंगे।"

रेणु मुस्कराने लगी।

रजनी ने पूछा—"क्यों, हृदय में गुदगुदी पैदा हो गई न ?"

रेणु ने कुछ बतलाना उचित नहीं समझा।

तब रजनी ने कह दिया—"बात कुछ मेरी समझ में आ नहीं रही है। पहले जब कभी इस तरह की चिट्ठियाँ आती थीं, तो तुम बार-बार उनको उलट-पलटकर देखा करती थीं। पर आज तुम्हारे आगे जैसे इस चिट्ठी का कोई महत्त्व ही न रह गया हो !"

इतने में घनश्याम आ गया। रजनी पलँग से उठ बैठी। बच्ची को वहीं छोड़ उसको थोड़ा-सा थपथपाती हुई बोली—"लो, शंकर की चिट्ठी।"

घनश्याम ने चिट्ठी उठा ली और कह दिया—"कल शाम को स्टेशन पर ही हमसे भेंट हो गई थी, पर रात में देर से आने के कारण मैं तुमको यह समाचार दे नहीं सका रेणु। और भेंट तो आज भी एक बार हुई थी।"

अब रेणु को बोलना पड़ा। उसने पूछा—"मगर कल शाम को आप स्टेशन पहुँचे कैसे ?"

घनश्याम ने उत्तर दिया—"मुझे आफ़िस के काम से स्टेशन जाना पड़ा था। खैर ! शंकर से मेरी काफ़ी देर तक बातें हुई थीं। उसने कहा था—अब कोई चिन्ता की बात नहीं रह गई है। मैं और किसी प्रस्तावक की दाल गलने नहीं दूँगा। इसलिए फिर दादा को वही सम्बन्ध स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ेगा।...और हाँ रेणु, तुमसे एक बात कहनी है, विशेषांक के लिए तुम्हारा लेख चाहिए।"

रेणु प्रसन्नता से खिल उठी। बोली—"विशेषांक के लिए लेख का पारिश्रमिक भी विशेष दिलवाइएगा ? क्योंकि जब विज्ञापन के चार्जेज़ विशेष होते हैं, तब लेखों का पारिश्रमिक भी विशेष होना ही चाहिए।"

घनश्याम ने कमीज़ के बटन खोलते हुए कह दिया—"देखो रेणु, लेख तो तुम लिख ही दो। रह गई पारिश्रमिक की बात, सो विश्वास रखो, अगर अधिक नहीं तो किसी से कम भी नहीं मिलेगा।"

रेणु हँसने लगी—"मैं तो यों ही कह रही थी। लेख अब मैं जल्दी तैयार कर दूँगी।"

घनश्याम ने कह दिया—"अब की बार तुम्हारे लेख का विषय इतना रोचक होना चाहिए कि हमारे सम्पादक वाह-वाह कह उठें !"

रेणु बोली—"अच्छा सुनिए, एक विषय है—'असफलताएँ, जिनसे मुझे गति मिली।' इस विषय का प्रतिपादन मैं घटनाओं के उदाहरण देकर करूँगी। दूसरा सुनिए—'रात को, जब हमें नींद नहीं आती।' इसमें मैं यह बताऊँगी कि ऐसे समय हम जो कुछ सोचा करते हैं उसके मनोवैज्ञानिक आधार क्या होते हैं ?"

इस पर घनश्याम प्रसन्नता से हँस पड़ा। बोला—"वाह ! बहुत सुन्दर।"

रेणु बोली—"अब तीसरा सुनिए—ये जटाजूट वाले, जो मेले-ठेले में सड़कों के किनारे बैठे हुए धूनी रमाते हैं। इनके जीवन की सामाजिक पृष्ठभूमि !"

अब घनश्याम के मुँह से निकल गया— "वाह रेणु, आज तुमने अपने यथार्थ स्वरूप का परिचय आखिर मुझे दे ही दिया। अच्छा, अब एक काम करो। एक चिट में ये तीनों विषय लिखकर मुझे दे तो दो !"

रेणु ने अपना कमरा खोलकर एक कागज़ पर इन तीनों विषयों को नोट करके घनश्याम के हाथ में देते हुए कह दिया—"आज ही शाम को पूछकर बतला दीजिएगा। आज न हो सके, तो कल सही।"

घनश्याम रजनी की ओर देखता हुआ बोला—"अरे, कालिदास की अम्मा !"

रजनी हँस पड़ी। बोली—"वाह, बड़े अच्छे हो ! रोज़ नये-नये

सम्बोधन···!"

रेणु कुछ संकुचित हो उठी और तत्काल अपने कमरे में लौट आई।

लल्ली रेणु के लिए खाना ढककर चली गई थी। रेणु को अधिक भूख तो न थी, फिर भी तबियत बदलने के लिए वह भोजन पर बैठ गई!···फिर वही दिवा-स्वप्न···आज मैंने उनको खूब छकाया। मगर उन्होंने भी सारी कसर निकाल ली।···अब लखनऊ पहुँच गये होंगे, उसके बाद देखो कौन गाड़ी मिले···ये ब्रह्मा और विष्णु भी स्टेशन पर खूब आ मिले!···वे अपने घर जाकर चर्चा तो ज़रूर ही करेंगे······ अम्मा सुनकर बहुत प्रसन्न होंगी। हो सकता है, दादा के कान में भी खबर पड़ जाय। उनके पुराने संस्कार हैं। मगर यह कितना अच्छा हुआ कि मैं उनको ऊपर नहीं ले गई। भला इतनी बातें, इतने खुले रूप में, मानस के परदे खोलकर यहाँ कैसे होतीं। मनुष्य अगर सदा ही इतना विवेकशील बना रह सके! मगर कौन जानता है कि विवेक भावना को बुलाता है, या भावना विवेक को! यह भी तो एक भावना ही थी कि मैं बिना खाये उस समय यहाँ से चल खड़ी हुई थी और फिर वह क्षण भी तो विवेक का ही था जब मैं ऊपर ले आने के बजाय उनको नीचे ले गई। और फिर हम दोनों!···ओ···बिल्कुल स्वप्न जैसा लगता है। तीन वर्षों के बाद हम लोग मिले थे और इतने निकट से बातें करने का तो हमारे जीवन में यह पहला अवसर था।······'

अब साढ़े बारह बज चुके थे और रेडियो-संगीत घनश्याम के कमरे में गूँजने लगा था—'जब सपने आते-जाते हैं, हम मन-ही-मन इठलाते हैं···'

रेणु खाना रोककर ध्यान से सुनने लगी:

'वे हमको पास बुलाते हैं, तब हम कुछ शरमा जाते हैं!'

रेणु ने एक कौर उठाया और फिर मुँह में रखती हुई वह सोचने लगी—ठीक तो है···

'···जब वह मेरे घर आते हैं, तब नये स्वप्न दे जाते हैं···'

'वाह ! नये स्वप्न···।' उसने फिर मुँह चलाना बन्द कर दिया।

रेणु जब पूरा गीत सुन चुकी, तो झटपट एकाध रोटी और खाकर उठ बैठी और पलंग पर जाकर लेट रही। आज रात में उसने अपने एक लेख में कुछ संशोधन किये थे। इस समय वह फिर उसी लेख को देखने लगी। थोड़ी देर में उसे नींद आ गई। ऐसी नींद जैसी उसे इधर वर्षों से नहीं आई थी। फिर जब उसकी आँख खुली, तो दो बज गये थे और बहुत तीव्र गति से झकोरे लेता हुआ पानी बरस रहा था।

इतने में रजनी बच्चे को वक्ष से लगाये हुए पास आ पहुँची और बोली—"रेणु जीजी, तुम मुझसे तो अवस्था में दो वर्ष छोटी हो। मैं जब आई थी, तब तुम स्कूल में पढ़ती थीं। हमें वे दिन याद हैं, जब कभी-कभी तुम्हारे यहाँ दोपहर को खाना भी नहीं बनता था ! और एक दिन यह है कि अभी तुम्हारे दद्दा कह रहे थे—'बड़ी भाग्यशालिनी लड़की है ! चार ही छः वर्षों के अन्दर क्या-से-क्या हो गई।' मुझे तुम्हारी उन्नति देखकर सचमुच बड़ी ईर्ष्या होती है।···अच्छा जीजी···।"

इतने में रेणु मुस्कराती हुई बोल उठी—"देखो भाभी, यह जीजी-बीजी कहना बन्द करो। मैं तो तुम्हारी वही छोटी ननद रेणु-मात्र हूँ।"

शिथिल हो रही वीणा को काँटे से चुस्त करती रजनी बोल उठी—"तुम नहीं जानती रेणु, मेरे मन में अब तुम्हारे लिए कितनी आदर की भावना—कितनी श्रद्धा हो गई है !"

रेणु मुँह बनाती हुई बोली—"जाओ भाभी, तुम तो अब मुझको लज्जित करने लगी।"

कुछ गम्भीर होकर रजनी बोली—"लज्जित तो अब मुझको होना पड़ रहा है। तुम्हारे दद्दा कहते थे कि इतनी पढ़ी-लिखी ननद पाकर भी अगर तुम आगे न बढ़ सकीं, तो मैं यही समझूँगा कि तुम नाम की ही रजनी नहीं हो, गुण की भी हो। उनकी इस बात को सुनकर मैं बहुत लज्जित हुई। अच्छा रेणु, तुम आज से मेरी गुरु बन जाओ।"

रेणु बोली—"दीक्षा लेते समय गुरु को कुछ दक्षिणा भी दी जाती है।"

चकित उत्फुल्ल रजनी बोली—"बड़ी खुशी के साथ। अच्छा ठहरो, मैं अभी आई।"

और इतना कहकर रजनी बड़े-बड़े पाँच चौसा आम ले आई और बोली—"तुम्हारे दद्दा अभी ले आये थे। खाकर देखो, बहुत मीठे हैं।"

पानी बरसना बन्द नहीं हो रहा था। बौछार कमरे के भीतर जबरदस्ती घुस आती थी। रेणु बोली—"चलो भाभी, हम तुम्हारे ही यहाँ थोड़ी देर बैठें।" इतना कहकर वह जो अपने कमरे को बन्द करने लगी, तो क्या देखती है कि लल्ली और माँ भीगे हुए वस्त्रों में चली आ रही हैं।"

रेणु ने पूछा—"आज जल्दी छुट्टी हो गई क्या ?"

भीगी हुई धोती निचोड़ती हुई लल्ली बोली—"आज हमारा कमरा बहुत टपक रहा था। इसलिए छुट्टी हो गई।"

माँ कुछ नहीं बोली।

थोड़ी देर में जब माँ कपड़े बदलकर पलँग पर बैठ गई तो रेणु उसके पास जाकर बोली—"अम्मा, तुम मुझे क्षमा नहीं करोगी ? बच्चे क्या-क्या नहीं अपराध करते ? लेकिन माता-पिता उनको सदा क्षमा ही करते रहते हैं।"

और इतना कहकर रेणु ने माँ के पैर पकड़ लिये। बोली—"लाओ दाब दूं, थक गई होगी।"

गोमती ने रेणु के हाथ पकड़ लिये। बोली—"बस, बस, इतना बहुत है।"

रेणु ने उत्तर दिया—"नहीं अम्मा, आज बड़ा अच्छा दिन है। आज के दिन माता की सेवा करने से बहुत प्यारा आशीर्वाद मिलता है।"

गोमती रेणु के मुख की ओर देखती रह गई। फिर बोल उठी—

"सब कहने की बातें हैं। वह लोग बहुत पुराने विचार के हैं, आशा-ही-आशा में तू कितनी सयानी हो गई, कुछ पता है? मैं तो चिन्ता और लाज के मारे धरती में गड़ी जाती हूँ! शरम से मेरा सिर नहीं उठ पाता! मेरी समझ में नहीं आता जिनकी बेटियाँ इस उमर तक कुमारी रहती हैं, वे खाना कैसे खाते हैं! उन्हें नींद कैसे आती है! वे जीवित कैसे रहते हैं!" इतना कहती-कहती गोमती की आँखों में आँसू आ गये। बोली—"अगर तेरी यह हालत रही, तो किसी भी दिन मैं सबेरे तुझे मरी हुई मिलूँगी।" और इतना कहती-कहती वह सिसकियाँ भरती हुई रो पड़ी।

रेणु अपने रूमाल से माँ के आँसू पोंछती हुई बोली—"तुम घबराओ मत अम्मा, भगवान् के बड़े-बड़े हाथ हैं। वे तुम्हारी पुकार सुनकर चुप नहीं बैठेंगे।"

गोमती बोल उठी—"भगवान् के हाथ जरूर बड़े हैं, लेकिन उनके कान अब बहरे पड़ गये हैं। संसार का क्रन्दन अब उनको सुनाई नहीं पड़ता। उनकी आँखों पर मोतियाबिन्दु छा गया है। भक्तों के आँसू अब उनको दिखलाई नहीं पड़ते! उनके आजानुबाहुओं की कलाई टूट गई है; उसे अब बैठाने की जरूरत है। उनके हाथ की छाया अब हमारे सिर से उठ गई है, उड़ गई है!

रेणु बोली—"वाह अम्मा, तुम्हारे इन उद्गारों में भी भक्ति की ही विमल रसधारा है। भले ही उसका स्वर विद्रोहपूर्ण जान पड़े। मगर अम्मा भक्तों के ऐसे वचन सुनकर भगवान् कभी बुरा नहीं मानते, बल्कि कभी-कभी एक अर्थ-भरी हँसी उनके होठों पर खेल उठती है। लेकिन फिर तुम मेरी बातों का बुरा क्यों मानती हो? भगवान् जैसे हमारे निर्माता हैं, वैसे ही तुम भी तो हमारी निर्माता माता हो।"

रेणु का यह कथन सुनकर गोमती का सारा रोष घुल गया। बोली—"आज तूने खाना नहीं खाया है रेणु, जा बेटी, खाना तो खा ले।"

रेणु बोली—"अम्मा, खाना तो तुमने भी नहीं खाया।'

इतने में लल्ली भी बोल उठी—"हाँ दीदी, इन्होंने कौर भी नहीं तोड़ा है। तुम बिलकुल ठीक कहती हो।"

इतने में रेणु बोल उठी—"लेकिन अम्मा, मुझसे तो भूख-प्यास नहीं सही जाती।"

रेणु के इस कथन पर गोमती अर्थभरी दृष्टि से उसे इकटक देखती रह गई।

इसी क्षण डलिया उठाकर आम सामने उपस्थित करती हुई लल्ली बोली—"दीदी, ये आम तुम ले आई हो?"

रेणु ने उत्तर दिया—"मैं नहीं ले आई। भाभी दे गई है।"

गोमती अब गम्भीर हो गई। भृकुटियों में गाँठ डालती हुई आश्चर्य के साथ वह बोली—"भाभी दे गई है! मगर भाभी क्यों दे गई है? मैं किसी के घर की एक पाई-भर भी कृतज्ञता नहीं चाहती। वापस कर दे लल्ली! ख़बरदार जो कहीं कोई चीज़ ली।"

रेणु ने अब बहुत गम्भीर होकर उत्तर दिया—"देखो अम्मा, धैर्य मत खोओ। अविश्वास मत करो। आज से भाभी मुझसे कुछ पढ़ने आया करेंगी। इसलिए गुरुदक्षिणा के रूप में वे अपने मन से, प्रेम से, ये आम यहाँ स्वयं दे गई हैं। न किसी ने उनसे आमों की याचना की है और न वे हमको कृतज्ञ बनाने के लिए लालायित ही हैं। फिर तुम यह क्यों भूल रही हो कि तुम्हारे स्वभाव से, इस मकान के सभी लोग, ऐसा नहीं है कि परिचित न हों। यों भी अपना आभिजात्य दिखाने के लिए कोई हमारे यहाँ रत्ती-भर की चीज़ भेजने का साहस कर नहीं सकता।"

लल्ली आम काटने लगी। पहला टुकड़ा मुँह में रखती हुई बोल उठी—"अम्मा, सचमुच आम बड़े मीठे हैं।"

गोमती बोल उठी—"तो ला, फिर मैं भी एक टुकड़ा चख लूँ।" और उसके मुँह से निकल गया—"आज तो बड़ा शुभ दिन है न रेणु?"

और इतना कहती हुई गोमती जब रेणु की ओर देखने लगी, तो रेणु कुछ विचार में पड़ गई।

इसी समय गोमती के मुँह से निकल गया—"मालूम नहीं कब, किस समय शंकर यहाँ आया और लौट गया !"

माँ का यह कथन सुनकर रेणु गम्भीर हो गई।

तब गोमती बोल उठी—"वह अपना विज़िटिंग कार्ड सीढ़ियों पर छोड़ गया है।"

लल्ली इतने में आम खाती-खाती खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली—"दीदी, वह विज़िटिंग कार्ड सबसे पहले मेरे ही हाथ में पड़ा था।"

रेणु सोचने लगी—'हैट के भीतर, गोट के अन्दर, कहीं रखा होगा। हैट उतारते समय धोखे से गिर गया होगा। फिर एक दिवा-स्वप्न···।' और वह सोचने लगी—

'जब वह मेरे घर आते हैं, तब नये स्वप्न दे जाते हैं···।'

और इसी क्रम में वह यह भी सोचने लगी—'प्रेम, तुम भगवान् की एक अक्षय और अद्भुत सृष्टि हो। तुम्हारे प्रयोग में एक निम्नतम बिन्दु भी संसार की दृष्टि में पड़े बिना रह नहीं सकता। तुम चोरी चाहे जितनी किया करो, लेकिन पकड़ हमेशा लिये जाओगे। यह बात दूसरी है कि संसार के कठोर-से-कठोर बन्धन भी तुम्हें जकड़ कर, बाँधकर, छिपा कर अपने अंक में, घर में, नियन्त्रण की सीमा और शासन की मुट्ठी में न रख सकें।'

इतने में रिक्शे से उतर कर दो नवयुवक द्वार पर आकर सीढ़ी चढ़ने लगे। उनमें पहला विष्णु था, दूसरा ब्रह्मा !

---

## : २४ :

कोठी नई बनी हुई है। वैसे तो चाहे यह शंकर को न मिलती, क्योंकि वह जब बनकर तैयार हुई तो उसके स्वामी सेठ बनीराम बिश्नोई अपने साले को साथ लेकर उसको दिखलाते-दिखलाते तिखण्डे पर जा पहुँचे। फ़र्श पर प्लास्टरिंग हो चुकी थी, लेकिन पानी अब तक भरा हुआ था। भरा तो गया था तीन-चार दिन पहले, लेकिन अब तक सूख नहीं पाया था। यों चाहे सूख भी जाता, लेकिन इधर कल फिर पानी बरस गया और हमारे पड़ोस में ये जो पण्डित गार्गीदीन दाढ़ीवाले रहते हैं, रामनामी गमछा कन्धे पर डाले और भाल पर केसरिया चन्दन के बीच में त्रिपुण्ड धारण किये हुए; उनकी एक लड़की है सात बरस की। उसका नाम है मुँदरी, प्यार में जिसे मुँदरिया कहते हैं। उसका कहना है कि न अजिया मरतीं, न पानी बरसत! उसका विश्वास है कि जब कोई बुढ़िया मरती है, तो पानी ज़रूर बरसता है। जो हो, बिश्नोई सेठ अपने साले को लेकर तिखण्डे पर बनी हुई बारहदरी पर जाते हुए बोले—"सब देख लिया?"

साले थे कुछ तमाशबीन तबियत के। कहने लगे—"देख तो लिया, मगर इस बारहदरी के ऊपर चलकर देखा जाय, तो कुछ और अधिक आनन्द आ सकता है। ये ठण्डी हवाएँ, ये भूरी दिशाएँ, ये हरे-भरे झूमते पेड़ और ये काली घटाएँ। जीजाजी, सीढ़ी रखी ही है, चलिए, चढ़ा जाय इस पर।"

सेठ बिश्नोई कुछ कम अस्सी हज़ार फूंक चुके थे। बोले—"हाँ, चलो।"

सीढ़ी रखी गई। सेठ विश्नोई ने उसके दोनों पायों को पहले दोनों हाथों से धरकर लकलकाया, फिर स्वयं कह उठे—"मेरा ख्याल है, काफी मज़बूत है।"

साले साहब बोल उठे—"जीजा, मज़बूत तो है, मगर फिर भी, दिल की मज़बूती के लिए, ये जो आदमी लगे हैं, इनको बुला क्यों न लिया जाय! ये थाम लें हम लोग चढ़ चलें।"

बात सलाह की थी। दो आदमी आ गये, वे सीढ़ी थामकर खड़े हो गये और साले-बहनोई एक-दो-तीन करके ऊपर जा पहुँचे।

साले साहब ने जैसा सोचा था, अन्त में कह ही दिया—"बस जीजा, सोने का मज़ा तो यहीं है, पानी भर न बरसे। सारा शहर यहाँ से दिखलाई पड़ता है। मसजिदों के कँगूरे, इमली की झाड़ें, तिमंज़िली इमारतें, बीच-बीच में नीम और पीपल के पेड़! क्या कहने हैं!"

विश्नोई सेठ ने और दूर की हाँकनी शुरू कर दी!—"इतनी मज़बूत यह कोठी बनी है कि अठारह फ़ीट गहरी तो इसमें नींव दी गई है। तिखण्डे पर ये दीवारें जो तुम देख रहे हो, ये यहाँ भी डाई ईंट की हैं। दरवाज़ों की लकड़ी बरमा से आई है। इस लकड़ी का नाम जानते हो? न जानते हो तो नोट कर लो, नहीं तो भूल जाओगे। यह टीकवुड है, टीकवुड! और फाटक तो सीधे बम्बई से बनकर आया है। इसका भी नाम न जानते होगे। इसको 'क़ौलैप्सेबिल गेट' कहते हैं।"

मतलब यह कि विश्नोई सेठ बड़ी देर तक साले पर रंग जमाते रहे। थोड़ी देर बाद जब देखा कि पानी बरसने ही वाला है, एक-आध बूँद अभी पड़ी ही थी कि झट उतरने पर आमादा हो गये। यह न सोचा कि पाये थाम लेने के लिए आदमी बुला लें। सीढ़ी पर पैर रखा ही था कि अर्रर धम्म! नीचे जा गिरे। परिणाम यह हुआ कि रीढ़ की हड्डी टूट गई और उसके बाद विश्नोई सेठ जीवित तो कई वर्ष रहे, मगर फिर सीधे खड़े होकर चल-फिर न पाये। अब यार लोगों ने हवा बाँधनी शुरू कर

दी—"विश्नोई साहव, यह कोठी आपको फली नहीं।"

किसी ने कहा—"वात यह है कि कुछ भी हो, विना मुहूर्त्त सववाये और पण्डितों को नज़र-नियाज़ दिये इतने वड़े काम कभी पूरे होते नहीं। काम चाहे पूरे भी हो जायँ, मगर लड़कों-वच्चों को फलते नहीं हैं।"

सेठ विश्नोई का जी इन वातों को सुनते-सुनते इतना पक गया था कि जव कोई इस कोठी की चर्चा करता और पूछता—"लालाजी इतनी वढ़िया कोठी, जो आपने वनवाई, तो भला इसमें कितना पैसा गला होगा?"

लाला जी झुँझलाहट के साथ वोल उठते—"हाँ साहव, कोठी वनवाई, कोठा वनवाया, आपकी वला से! रुपया मेरा गला, आपको क्या?"

अगर कोई किराये पर लेने के लिए देखता भी, तो इवर-उवर देख-दाख कर चहलक़दमी करता हुआ चल देता, यह पूछने की भी उसकी हिम्मत न पड़ती कि इसका किराया आप क्या लेंगे?"

शंकर जो पहले-पहल फ़ैज़ावाद आया तो दो-चार दिन के लिए तो एक सिटी-मजिस्ट्रेट के यहां ठहर गया, क्योंकि जोशीजी ने फ़ोन से उनसे कह दिया था—"ज़रा ख्याल रखना। लड़का अपने ही घर का है।"

मगर फिर रहने के लिए तो कहीं व्यवस्था करनी ही थी। दुनिया चाहे जितनी आगे वढ़ जाय लेकिन यार लोग ऐसे समय भला चूकते हैं। अवसर भर आना चाहिए। एक साहव जो रंग गेहुँवा, पोशाक शेरवानी, चूड़ीदार पायजामा और क़द वचकानी, किश्तीदार कुछ तिरछी टोपी और पेशा वकालत थे, नाम सुन कर शंकर से मिले और वोले—"साहव कोठी नम्वर एक है, शहर में जिसका जोड़ नहीं! जव से वनी, तव से इसी इन्तज़ार में खाली पड़ी है कि जव कोई मिज़ाज का तेज़, असूल का पक्का वेलौस, मगर तवियत का वादशाह आफ़िसर आये तो हमको हमेशा के लिए मनहूसियत की वदनामी से वचाये।"

शंकर को इस वात में रस मिला। कुछ आश्चर्य के साथ उसने पूछा—"मनहूसियत की वदनामी को ज़रा और साफ़ कीजिए।"

वकील साहब बोले—"मतलब यह कि बने हुए तो हो गये दस वर्ष, मगर रहने को फ़क़त एक नौकर, सो भी माली ! ख्याल तो ऐसा है कि कोठी आपको पसन्द आयेगी और सेठ बिश्नोई को भले ही न फली हो, मगर आपको फलेगी, फलकर रहेगी।"

शंकर जिस कमरे में बैठा हुआ था, वह भी एक कोठी के ऊपर था। उसमें भी पूर्व-पश्चिम, आमने-सामने हवा आने-जाने के दरवाज़े बने हुए थे। पूर्व की ओर दरवाज़े के आस-पास दो खिड़कियाँ थीं। इस समय कुछ उमस हो रही थी। शंकर यद्यपि तहमत पहने हुए इतमीनान से नंगे बदन बैठा हुआ था; तथापि झट उठकर खड़ा हो गया और बोला—"बस एक मिनट !" और ट्रङ्क से एक पाउडर का डिब्बा निकालकर बदन के ऊपर छिड़कने लगा। नाक सिकोड़ता हुआ बोला—"पसीने के बू से मुझे बड़ी चिढ़ है वर्मा साहब !" और डब्बा यथास्थान रखकर कहने लगा—"हाँ, तो आपका मतलब यह है कि उसी कोठी को ले लिया जाय।"

"ख़ता माफ़ हो तो एक बात पूछूं ? मेरा ख्याल है कि शादी तो आपकी हो गई होगी ?"

—वर्माजी ने शंकर के निकट सिर बढ़ाते हुए यह प्रश्न कर दिया।

शंकर ने भी तबियत की मुस्कुराहट के साथ सवाल कर दिया—"शादी अभी तक तो नहीं हुई। आप कोई प्रस्ताव ले आये हों तो उस पर भी विचार कर लूं। क्या ख्याल है ?"

वर्मा जी कुछ झेंप गये। बोले—"आपने तो बनाना शुरू कर दिया। मैंने तो इसलिए पूछा था कि परिवार के साथ अगर आप रहेंगे तो रहने में भी आपको अच्छा लगेगा और कोठी की वीरानगी भी हमेशा के लिए ख़त्म हो जायगी।"

शंकर बोला—"ठीक है। अभी तक मेरी शादी तो नहीं हुई, लेकिन माँ हैं, बाबू हैं, दो भाई, तीन बहनें; बड़ा परिवार है। हैं तो हमारे ताऊ जी भी, मगर व्यापार की देख-रेख के लिए कानपुर में ही रहेंगे। दूसरे-

चौथे महीने दो-एक दिन के लिए वह भी आया करेंगे।"

वर्माजी बोल उठे—"बस-बस, भगवान् का नाम लेकर आप चलिए हमारे साथ, तो सेठ साहब से मिलकर मामला तय कर लिया जाय।"

अन्त में जब दोनों सेठ जी के पास गये और शंकर ने उनसे कहा—"सेठ जी, कोठी मैं देख आया हूँ। मुझे बहुत पसन्द है। तकलीफ़ और आराम तो जीवन के दो पहलू हैं। जैसे यह समय, रात और दिन। इसलिए इस कोठी को जिन कारणों से प्रसिद्धि मिली है, उनके बावजूद मैं उसको लेना चाहता हूँ। बोलिए, किराया ?"

बिश्नोई सेठ शंकर के साहस को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। बोले—"अरे साहब, आप रहिए भी तो। किराया जो चाहे, दे दीजिएगा।"

शंकर के मुँह से निकल गया—"जो चाहे सो नहीं। आप साफ़-साफ़ कहिए कि इतना लूँगा।"

बिश्नोई सेठ बहुत उत्साह में थे। वर्षों बाद किरायेदार आये थे सो भी एक गजे़टेड आफिसर। बोल उठे—अरे साहब, छै महीने तक आप एक पाई किराया न दीजिएगा। मगर आप रहिए भी तो।"

वर्माजी सोचने लगे कि इतनी बड़ी हवेली है! अगर मुझे एक फ़्लैट भी मिल जायगा, तो इन दामों क्या बेजा है? छै महीने का किराया ही बचेगा। अवसर देखकर बीच में कूद पड़े—"सेठ जी, साहब ने वो आला दिमाग़ पाया है कि जब से आये हैं, आफ़िशलसर्किल में फ़कत इन्हीं की चर्चा है। डी० एम० साहब का तो यह हाल है कि जब तक क्लब में साहब पहुँचते नहीं, तब तक उनकी चाय की चुस्की ही शुरू नहीं होती!"

शंकर कुछ गम्भीर हो गया और बोला—"क्षमा कीजिएगा वर्माजी, मौखिक प्रशंसा से मैं बहुत घबड़ाता हूँ।"

वर्माजी कुछ सकपका उठे और चुप लगा गये।

अब शंकर ने कह दिया—"सेठजी, बात यह है कि अगर मुफ़्त बट

रही हो, तो यह जिन्दगी भी मैं भगवान् से न चाहूँगा। मैं नहीं मानता कि इस दुनिया में कोई भी काम बिना किसी हेतु या मतलब के होना सम्भव है। अगर मैं कोठी में रहूँगा तो किराया आपको लेना पड़ेगा। यह बात दूसरी है कि किराया आप मुझसे सौ रुपये माँगें या इससे भी अधिक।"

अब सेठ जी के मुँह से निकल गया—"लीजिए साहब, फ़ैसला तो आपने खुद ही कर दिया। सौ रुपये किराया मुझे मंजूर है। बस, और सो भी, आप छः महीने बाद इकट्ठा दे दिया कीजिएगा।"

शंकर बोल उठा—"आपको बहुत-बहुत धन्यवाद है सेठजी।"

साथ में अब वर्माजी भी चिपक गये! बोले—"हजार-हजार शुक्रिया है सेठ साहब!" और वहीं पर, उसी समय, आपने यह भी कह दिया—"कोठी काफी बड़ी है साहब! आपको अगर कम्पनी के लिए मेरा साथ नापसन्द न हो, तो एक तरफ का कोई एक फ्लैट मुझको भी दे दीजिएगा। मैं भी हस्ब-हैसियत शिरकत कर लूँगा।"

शंकर ने स्पष्ट कह दिया—"अब इस बात को वर्माजी आप हम पर छोड़ दीजिए। हम लोग इसको बाद में तय कर लेंगे। बात यह है कि पहले तो हमको अपना परिवार लाना है...।"

वर्माजी को कुछ सन्देह हो उठा। इसलिए आपने तुरन्त कह डाला—"अरे साहब, आपका परिवार अभी है कहाँ? जिसको आप अपना परिवार समझते हैं, वह तो आपके बाबूजी का है। क्योंकि शादी तो अभी तक आपकी हुई नहीं। क्यों सेठ साहब, गलत कह रहा हूँ?"

सेठ बिश्नोई ने दुनिया देखी थी। उन्होंने पैंतरा बदलते हुए उत्तर दे दिया—"इस बात को आप लोग हमसे ज्यादा समझते हैं। इसलिए, इस मामले में मेरी गवाही मत कराइये।"

शंकर हँस पड़ा। बोला—"वर्माजी, मैंने तो आपसे पहले ही कह दिया था कि अगर आपको शादी की बहुत ज्यादा फ़िक्र है, तो मैं तैयार

हूँ। आप कोई जोड़-वेजोड़ ले तो आइए साहव।"

इस तरह शंकर को रहने के लिए एक वढ़िया-सी कोठी मिल गई थी।

शंकर शनिवार को कानपुर पहुँच कर रात में जव खा-पीकर पलँग पर लेटा, तो माँ से वोला—"देखो, एक-दो और यह पूरे तीन-तीन वरस हो गये, वल्कि छै महीने और वीत गये, मुझे अलग रहते हुए। किस तरह रहा, किस तरह समय कटा, किस तरह यह नौकरी मिली, एक-एक दिन को जोड़कर देखा जाय, तो इस अवधि का एक वहुत वड़ा, लम्वा और सुनने लायक इतिहास है अम्मा, आज कहता हूँ, अव तक किसी से नहीं कहा, यहाँ तक कि दादा को भी नहीं वतलाया। कभी-कभी दिर-भर मैं केवल दो कप चाय पीकर रह गया हूँ। जव सव काम से छुट्टी मिली है, तव रात में कभी दस वजे, कभी ग्यारह वजे, कभी मेस में, कभी होटल में, जो कुछ वचा-खुचा खाना मिल गया, खा लिया। नित्य अपने कपड़े साफ़ किये हैं, जूतों में पालिश की है; कपड़ों पर लोहा किया है। अपने रहने का कमरा तो में सदा ख़ुद ही साफ़ करता रहा हूँ। कमरे का जाला तक मैंने साफ़ किया है! दस-वीस वार ऐसा हुआ है कि समय नहीं मिला या ख्याल नहीं रहा, तकिया के ऊपर का कपड़ा मैंने तव साफ किया है, जव सोने के लिए चारपाई पर जाने लगा हूँ। क्योंकि अपने पसीने तक की वू तो मुझे वर्दाश्त नहीं है। एक डव्वा पाउडर मुश्किल से दस दिन चलता है। मेरे साथ के कई लोग महीने में दो-दो सौ रुपया और कोई-कोई तो चार-चार सौ भी उड़ाते रहे हैं। मगर सदा उन्होंने मेरे ही कपड़ों की सफ़ाई की प्रशंसा की है। जिस कमरे में मैं रहता था, उसके अन्दर आते हुए लोग डरते थे। और डरते इसलिए थे कि वेकार और वेमतलव की वातचीत से मुझे घृणा थी। इसलिए मैं मुश्किल से दो-चार साथियों से प्रेम से वोलता था।...वहुत वड़ी कहानी है। खैर, तो कहने का मतलव यह कि अव काम वहुत सावधानी और ज़िम्मेवारी का आ गया है और समय पर करना पड़ता है। दस वजे कोर्ट लगता है, तो ठीक दस पर मैं

कोर्ट पहुँच जाता हूँ। पेशकार, चपरासी, कोर्टसाहब, वकील लोग मेरी इस ठीक समय पर काम करने की आदत से घबराते हैं। घूसखोरी से मुझे घृणा है। पेशकार लोग जो अपना हक़ और शुकराना ले लिया करते हैं, उसको भी मैं बहुत बुरा समझता हूँ। किसी दिन भी मेरी निगाह तिरछी हो सकती है। प्रारम्भ में अपना यह कठोर व्यवहार खासतौर पर उनके साथ मैंने इसलिए नहीं शुरू किया कि उनकी देवियाँ कहीं अभी से मुझे कोसना न शुरू कर दें।"

शंकर की माँ अब हँसती-सी बोल उठीं—"यह तुमने बहुत अच्छा किया मुन्नी! मुझे किसी के कोसने का बहुत डर लगता है।"

केदारबाबू पास के कमरे में लेटे-लेटे सब सुन रहे थे। शंकर ने अब फिर कहना शुरू कर दिया—"यहाँ तुम गलती कर रही हो अम्मा! तुमने यह सोचा कि इन घूसखोरों की देवियों का कोसना बहुत बुरा है, पर तुमने यह नहीं सोचा कि हिन्दुस्तान की अदालतों और कचहरियों की घूसखोरी का कितना लम्बा और कितना मर्मान्तक इतिहास है! इन कचहरियों और अदालतों में पहुँचने पर कितने ऐसे लोग हैं जिनकी गृह-देवियों के गहने नहीं उतर गये! कितने ऐसे लोग हैं जिनकी जगह-ज़मीन और जायदाद नहीं बिक गई? नहीं, नीलाम और कुर्क हो गई है! नहीं, नेस्तनाबूद हो गई है! यह सारा नाटक सदियों से होता चला आया है और शर्म की बात है कि न्याय और व्यवस्था के नाम पर अब तक जो हो रहा है! मेरा खून खौल उठता है, जब मैं किसी की एक पाई भी घूस-खोरी के नाम पर अपने किसी अधीन कर्मचारी को लेते देखता हूँ! यह परिपाटी हमारे देश के गौरव के नाम पर कलंक है, उसके मुँह पर, मस्तक पर, एक बहुत बड़ा काला धब्बा है! मैं इस धब्बे को बहुत जल्द मिटता हुआ देखना चाहता हूँ! इन्हीं आँखों से, इसी ज़मीन पर और अपने कार्य-काल के इसी शुभारम्भ में! मैं इस कुर्सी पर हमेशा बना रहूँ, इस बात की मुझे चिन्ता नहीं है। मैं इसका मोह पालकर कभी सुख की नींद न सो

पाऊँगा। यह हो सकता है कि मुझे त्यागपत्र दे देना पड़े, मगर मेरे सिद्धांतों का खून हो, मेरे विचारों की हत्या हो, ऐसा नहीं हो सकता।···पर अम्मा, हम तो अपनी पगडण्डी पर जा रहे थे कि फिर सड़क पर आ गये! हाँ, तो मैं कह यह रहा था कि अब मुझे खाना, जलपान, चाय सब-कुछ अपने घर का चाहिए, तुम्हारे हाथ का चाहिए। कामना का चाहिए और चाहिए समय पर। तभी तो मैं और आगे बढ़ पाऊँगा। क्या तुम समझती हो कि जितनी उन्नति हमको करनी थी, वह हम कर चुके?"

परदे की ओट में और केवल एक दीवार के अन्तर से, केदारबाबू यह सब सुनते हुए मन-ही-मन कहने लगे—"सब भगवान् की लीला है, अपना कुछ नहीं है!"

शंकर बोला—"मगर अम्मा, ठहर जाओ, एक मिनट।" और उसने पाउडर का डिब्बा उठाकर अपनी निरावरण देह पर पुनः छिड़क लिया और बोला—"अम्मा, खर्चे तो हमारे ज़रूर बढ़ गये हैं, मगर यह मत समझो कि इसी तरह के बढ़े हुए खर्चे और इसी तरह के आनन्द सारे परिवार को मिलने का अवसर आने में कोई बहुत ज़्यादा देर है।"

इतने में केदारबाबू खाँसते हुए अब वहाँ आ पहुँचे। शंकर उठकर उसी पलँग के पैताने बैठ गया और बोला—"दादा, आप बिल्कुल ठीक वक्त पर आये हैं। न आते तो फिर मुझे आपके पास आना पड़ता। अब मैं बस वही बात कहने जा रहा हूँ, जिसे आपको तय करना है। यह रहा हमारा पहले महीने का वेतन। और मैं अभी कह यह रहा था कि फ़ैज़ाबाद में रहने के लिए हमको एक कोठी मिल गई है।"

केदारबाबू ने सौ-सौ के तीन नोट निकाल कर अलग रख लिये और अब वे दस-दस, पाँच-पाँच के और फिर रुपये वाले नोट गिनने लगे।

शंकर बोला—"अब सवाल यह है कि मेरे साथ कौन-कौन जायगा?"

केदारबाबू बोल उठे—"छोटे भैया जाने कहाँ हैं।"

कामना कई बार आ-आकर बैठ गई और फिर बैठ-बैठकर चली गई थी।

इस बार उसको बैठा देखकर केदारबाबू ने कह दिया—"अरी कम्मो, ज़रा अपने बाबू को तो बुलाना।"

कामना ने उत्तर दिया—"बाबू तो सो रहे हैं।"

केदारबाबू बोल उठे—"सचमुच सो रहे हैं या जागते हुए सो रहे हैं? जब देखो तब सो रहे हैं! जाओ, अगर सो भी रहे हों, तो उठा लाओ!"

थोड़ी देर में कैलाशबाबू आँखें मलते हुए आ पहुँचे। बोले—"रात नींद नहीं आई थी, इसीलिए इस वक्त ज़रा झपकी लग गई।"

शंकर चारपाई से उठकर फ़र्श पर बिछी शीतलपाटी पर दीवार के सहारे बैठ गया।

केदारबाबू ने सारे रुपये कैलाशबाबू के हाथ पर रखते हुए कहा—"लो, यह मुन्नी के पहले मास का वेतन है।"

कैलाशबाबू पहले प्रसन्नता से खिल उठे फिर उन्होंने उत्तर दिया—"मगर इसे मैं लेकर क्या करूँगा। रक्खो न!"

अब केदारबाबू ने रुपये लेकर शंकर को देते हुए कहा—"लो, अपनी माँ को दे दो!"

शंकर भी किंचित् मुस्कराने लगा। माँ के चरणों के पास रुपये रखता हुआ बोला—"लो माँ!"

केदारबाबू से बिना बोले न रहा गया—"अरे मुन्नी, माँ के पैर तो छू ले, पगले!"

शंकर उठा और उसने पहले दादा के चरण स्पर्श किये, फिर पिता के और फिर माँ के!

केदारबाबू कुछ बोले तो नहीं, किन्तु फिर उन्होंने अपनी आँखें मींच लीं और मन-ही-मन कह लिया—'सब तुम्हारी ही लीला है प्रभु, अपना कुछ नहीं है।'

इतने में उछलता हुआ विष्णु और उसके साथ में लक्ष्मी दोनों आ पहुँचे। विष्णु ने कह दिया—"दादा, इलाहाबाद से मौसिया जी आये हैं

श्रौर साथ में मौसी भी हैं।"

यह समाचार सुनकर केदारबाबू हँस पड़े श्रौर शंकर उठकर बाहर चला गया।

गयाबाबू श्रौर यमुना दोनों ऊपरी सीढ़ी पर श्रा गये थे श्रौर ताँगे-वाला ट्रंक श्रौर बिस्तरा सिर पर लादे हुए ऊपर श्राता दिखाई पड़ रहा था।

शंकर ने जब मौसिया श्रौर मौसी के चरण स्पर्श किये, तब गयाबाबू बोले—"अरे मुन्नी, हमारे यहाँ से जब से तुम रूठकर चले गये, तब से न तो तुम कभी फिर हमारे यहाँ श्राये ही श्रौर न कोई समाचार ही दिया। बेटा, हम कोई ग़ैर थोड़े ही थे! माया ने एक भद्दी-सी भूल कर दी कि तुम जो नाराज़ हो गये, तो बस तुमने हमको हमेशा के लिए भुला ही दिया!"

श्रौर यमुना श्राशीर्वाद के स्वर में बोली—"भगवान् के बड़े-बड़े हाथ हैं। तुम्हारी उन्नति पर हम सबको श्रभिमान है। श्रभी क्या है. श्रभी तो तुमको मजिस्ट्रेट बनना है। श्रौर इसके श्रागे···मैं तो जानती भी नहीं मुन्नी कि कौन-कौन से पद होते हैं। जो भी हो, तू मेरा सबसे प्यारा राजाबेटा है।"

शंकर बोल उठा—"मौसी, लड़कपन में बच्चों से भूलें हो ही जाती हैं। मैं तुम्हारे यहाँ श्राया ज़रूर नहीं, लेकिन जितने दिन भी रहा, कितने श्रानन्द से, सुख से, मेरा समय व्यतीत हुश्रा! उन दिनों की याद क्या मैं कभी भूल सकता हूँ? रन्नो श्रौर भाभी श्रच्छी तरह से हैं न? बहुत दिनों से नहीं देखा। श्रौर मौसी, श्रब तो हमारा भतीजा भी तीन-साढ़े तीन बरस का हो गया होगा! खूब खेलता होगा!"

इस प्रकार कहीं रुकते श्रौर कहीं हँसते-हँसते बातचीत करते हुए तीनों उसी कमरे में श्रा पहुँचे। केदारबाबू, कैलाशबाबू, मुन्नी की माँ—सब-के-सब खड़े हो गये श्रौर कामना बोली—"मौसी, तुम दीदी को नहीं ले श्राई?"

इस समय यमुना कामना के मुँह की ओर देखकर पहले मुस्कराई, फिर गम्भीर हो गई।

रात हुई और गयाबाबू तथा केदारबाबू में परस्पर बातें होती रहीं। उधर यमुना और मुन्नी की माँ भी एक ही कमरे में, बल्कि एक ही पलँग पर, लेटी हुई बड़ी रात तक बातें करती रहीं।

अब रात के बारह बज गये थे। निकटवर्त्ती सिनेमा का दूसरा प्रदर्शन हो चुका था। राजमार्ग से गुजरने वाले सिनेमा-प्रेमी साइकल, रिक्शों, और ताँगों में बैठे भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें करते हुए चले जा रहे थे। जो पैदल जा रहे थे उनमें से एक कह रहा था—"क्या राजकपूर की आँखें कुछ विलायती हैं?"

दूसरे ने जवाब दिया—"क्या बकते हो? हीरो है हीरो!"

उसने फिर कह दिया—"हीरो तो है, मगर दिलीपकुमार की बात कुछ और है!"

तब दूसरा बोल उठा—"एक दिलीपकुमार की ही क्यों, बातें सब की और और हैं—चेहरा-मोहरा, बातचीत का लहजा, ट्रेजेडी-कॉमेडी की अलग-अलग ऐक्टिंग। मगर अगर बात ही करनी है तो सिनेमा-जगत् के ऊपर एकदम प्रारंभ से लेकर अब तक राज्य करनेवाले अशोककुमार की बात क्यों नहीं करते? चालीस पार कर चुका, मगर अब भी हीरो बनता है—हीरो, और जँचता भी खूब है!"

इस समय शंकर भी अपनी चारपाई पर करवटें बदलता हुआ सोच रहा था—'अब मामला कुछ रंग पर आया है। बिल्कुल ठीक समय पर मौसिया आ पहुँचे हैं।' यह सोचकर वह मन-ही-मन हँस पड़ा। किन्तु क्षण-भर में ही फिर सोच-विचार में पड़ गया।..."बुद्धि का ही बल हमको जीवन की सारी दुर्बलताओं से मुक्त करके आगे बढ़ाता है। आज सोचता हूँ कि यदि माया ने मेरा अपमान न किया होता और तत्काल मैंने मौसी का घर न छोड़ दिया होता, तो मेरी क्या गति होती! मनुष्य संघर्ष में

ही पनपता है क्योंकि, कभी-कभी अपमान भी भाग्योदय का कारण वन जाता है।...'

इस क्षण गयावावू वहुत अधिक दुखी थे। एक तरह से वे निराश हो चुके थे। जो बातें कही नहीं जातीं, वे भी कभी-कभी उनके मुख से निकल जाती थीं—"दादा तुम नहीं जानते कि मेरी क्या गति होगी! काश तुम जान सकते! मैंने तो कभी सोचा नहीं था कि आज इस स्थिति में आकर भी तुम मुझे गोल-मोल जवाव दोगे! 'लड़का खुद सयाना है, वह खुद समझदार है, अपना हित-अहित वह खुद समझता है।' मेरी समझ में नहीं आता कि इन वातों में क्या दम है? घर के मालिक तुम हो, तुम्हारे संकेत में पत्ता हिलता है यहाँ। तुम जो वात स्वीकार कर लो, मजाल है कि कोई चूँ कर सके। मगर भाई, फिर यह तो वात ही दूसरी है कि मैं लाख कहूँ और तुम एक भी न मानो। कहते हो—'वहन है, वहन।' अरे मैं ऐसी वहुतेरी वहनों को जानता हूँ! एक नहीं पचास, गिना दूँ! रह गई मुन्नी की वात सो तुम उसको मुझ पर छोड़ दो। देखो, मैं राजी कर लेता हूँ कि नहीं। कितने वर्षों से कहता आ रहा हूँ कि यह मसला हल कर डालो; मगर तुम्हारी लीला कुछ समझ ही में नहीं आ रही है!... एक वात मैं कहे देता हूँ वड़े भैया कि रन्नो जीवन भर क्वाँरी वैठी रहेगी—जीवन-भर! उसका विवाह होगा तो केवल मुन्नी के साथ! लड़का घर में हो और हम वाजार में भटकते फिरें, ऐसा कभी न होगा! वोलो, क्या कहते हो? अव तय करो न इसे जल्दी! हम इसीलिए आये हैं और इसी समय उसका उत्तर चाहते हैं!"

केदारवावू चारपाई पर लेटे-लेटे गयावावू का यह कथन चुपचाप सुनते जा रहे थे। जव उन्होंने अन्तिम वाक्य कहा, तव वे उठकर वैठ गये। वोले—"सुनो गया। हमारा और तुम्हारा सम्वन्ध एक अलग चीज़ है, मुन्नी की माँ का और रन्नो की माँ का सम्वन्ध भी एक अलग चीज़ है। ये दोनों सम्वन्ध मुझे कम प्यारे नहीं हैं; किन्तु एक वात का

ध्यान तुमको भी रखना है और मुझको भी, कि मुन्नी के जीवन में प्रेम का, प्रेम के सुख का, आनन्द का और साथ-ही-साथ उसकी रुचियों का उसकी उन्नति का, उसके उत्कर्ष का सम्बन्ध इन सब से ऊपर है। हम लोग व्यक्ति हैं, हमारा व्यक्तिगत स्वार्थ है, लेकिन तुम यह क्यों भूल जाते हो कि मुन्नी का स्वार्थ आज व्यक्ति का स्वार्थ नहीं है। उसकी रुचियों की प्यास, उसकी प्रवृत्तियों की माँग का सम्बन्ध आज समाज का स्वार्थ है और उसके आगे बढ़कर मैं तो कहूँगा कि राष्ट्र का स्वार्थ है। तुम व्यक्ति के स्वार्थ के आगे राष्ट्र के सामूहिक हित को झुकाना चाहते हो? मैं ऐसा पाप नहीं कर सकता? तुम ऐसे पाप के पंक में मुझे जबरदस्ती घसीट कर फुसलाने और फिसलाने की चेष्टा मत करो। इस जगह पर हम तुमसे बिल्कुल अलग हैं। इसीलिए इस विषय पर मैं तुम्हारा अनुचित दबाव मानने के लिए क़तई तैयार नहीं हूँ!"

तदनन्तर गयाबाबू चुपचाप देर तक करवटें बदलते रहे।

केदारबाबू तब दस मिनट के अन्दर खुर्राटे लेने लगे।

दूसरे दिन सवेरा हुआ तो यमुना स्वामी के पास जाकर बोली—"चलो चलें। अब कोई बात हमको नहीं करनी है। जो कुछ होगा, देखा जायगा। चलो, वापस चलें।"

यमुना का इतना कहना था कि गयाबाबू उठकर चल दिये। केदार-बाबू ने समझाया, मुन्नी की माँ ने भी समझाया, पर किसी ने उनकी एक नहीं सुनी।

मुन्नी की माँ बोली—"मैं जाने को मना नहीं करती यमुना। लेकिन जाती ही हो, तो कायदे से जाओ। नहा-धो लो, जलपान कर लो।"

जिस समय मुन्नी की माँ यमुना को इस प्रकार समझा रही थी, उस समय मुन्नी बिल्कुल उसके सामने, अपने कमरे के द्वार पर, छज्जे के बीच वाली लम्बी दौड़ में, इधर-से-उधर टहल रहा था! उसका मुख बहुत गम्भीर था। वह रात-भर सो न सका था। उसका सिर दर्द कर रहा था!

यमुना और गयावावू दोनों में से कोई किसी तरह का विलम्ब किये विना, कोई वात माने विना, तत्काल चल दिये।

ताँगा जव चलने को हुआ, तभी मुन्नी निकट आकर पैर छूने लगा। अव गयावावू और उनकी पत्नी यमुना सारा रोप विलकुल भूल गये और गयावावू के मुँह से निकल गया—"एक दिन के लिए हमारे यहाँ भी आओ मुन्नी !...वड़ी गलती हुई जो रन्नो को अपने साथ नहीं ले आये !"

वात काटकर यमुना वोली—"अव इन वातों में कुछ दम नहीं है।"

और ताँगेवाले को लक्ष्य करके कुछ तेजी के साथ उसने कह दिया—"तुम चलो भी ताँगेवाले।" इस पर शंकर एकदम से सकपका गया !

थोड़ा आगे वढ़ते ही यमुना वोली—"कहाँ, किस समय, कौन वात कहनी चाहिए, कौन नहीं कहनी चाहिए; इसका तुमको विल्कुल ज्ञान नहीं है ! तुमसे तो माया फिर भी वुद्धिमान् है। मैं तुमको वेकार अपने साथ ले आई !"

* * *

दस दिन के वाद जव शंकर अपनी माँ और विष्णु को साथ लेकर फ़ैजावाद की कोठी में रहने लगा; तो एक दिन सायंकाल एक ताँगा सामने वरसाती में आकर खड़ा हो गया। उस पर एक वयस्क नारी वैठी हुई थी। उसके साथ में दो ट्रंक और वैंडिग था।

चपरासी ने पूछा—"आप कहाँ से आ रही हैं ?"

तव तक विष्णु ने हँसते-कूदते हुए अम्मा के पास जाकर कह दिया—"अम्मा, तुमको एक वात वताऊँ ?"

मुन्नी की माँ वोली—"क्या ? आज फिर कोई तमाशा ले आया ?"

हर्षोत्फुल्ल विष्णु वोल उठा—"रत्नो दीदी आ गई।"

शंकर इस समाचार को सुनकर अपने सामने रखी फ़ाइल को लाल फीते से वाँधने लगा।

---

## : २५ :

सुरेश बोला—"दादा, नौकरी तो कहीं नहीं मिल रही। कोई भी बैंक या बीमा-कम्पनी, जगह होने पर भी, मुझे नियुक्त करने को तैयार नहीं। जी में आता है ज़हर खाकर सदा के लिए सो जाऊँ!"

केदारबाबू दुकान से अभी आये ही थे और बहुत थके हुए थे, दामाद की बात सुनकर वे उठ खड़े हुए। लोटा हाथ में लिया और पाइप की ओर चल दिये। थोड़ी देर में केवल गीला गमछा पहने हुए लौटकर धोती पहनते हुए बोले—"चलो, पहले भोजन कर लें।"

सुरेशबाबू बहुत उदास थे, बहुत गम्भीर। उनके मन में एक बात जाती थी, तो एक आती थी। बहुत-सी बातें थी। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि किस तरह से उनका मुंह खोला जाय।

केदारबाबू जब धोती पहन चुके तो बोल उठे—"घबराओ नहीं सुरेश, खोजने पर कोई-न-कोई रास्ता निकल ही आयेगा।"

आज सुशीला बहुत दुखी थी। उसने स्वामी से कहा था—"अगर नौकरी नहीं मिलती, तो फिर कोई रोज़गार ही करो। हर बात में, हर प्रसंग में, दूसरों का मुख देखकर चलने से तो मर जाना अच्छा है!"

सुरेश को सुशीला की यह बात भूलती न थी। कई दिनों से स्वयं उसका जी उड़नछू हो रहा था। कुछ ठिकाना है, कितने दिन हो गये और सिनेमा देखने को नहीं मिला! हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी सरकस-कम्पनी तीन महीने तक यहाँ ठहरी रही और एक दिन को भी उधर देखने का मौक़ा नहीं मिला! एक ज़माना बीत गया, गाना सुने हुए। खाने को सबेरे रोटी-दाल, शाम को पूरी-परांठा, रोज़-रोज़ अरहर की

दाल, रोज़-रोज़ आलू और सीताफल का साग, रोज़-रोज़ शाम के भोजन में वेला-भर गरम-गरम दूध, रोज़-रोज़ सवेरे के जलपान में मीठा-मीठा हलुआ। कोई ज़िन्दगी है ! इसी को ज़िन्दगी कहते हैं ! सूट तो जैसे पहनना ही छूट गया। वीस-वीस टाइयाँ रखी हुई हैं, मगर नये शर्ट और पैण्ट के विना अव उन टाइयों का क्या हो ! इससे तो अच्छा है कि किसी दिन परेड की वाज़ार में दो-दो आने में वेचकर ढाई रुपया जेव में करूँ !"

इतने में केदारवावू ने पीढ़े पर वैठते हुए चौके से पुकारा—"अरे लक्ष्मी, वेटा ज़रा सुरेश को वुलाना। सवेरे भी वह मेरे साथ खाने नहीं वैठा था।"

मिनट भर वाद जव सुरेश दाढ़ी वढ़ाये हुए सामने आ पहुँचा, तो केदारवावू वोले—"वेटा, घवराने से तो काम चलेगा नहीं। मैंने कहा न कि रास्ता निकालना ही पड़ेगा। आओ वैठो, खाना तो खाओ प्रेम से !"

सुरेश वोला—"दादा, खाना तुम्हारे संग वैठकर किसी तरह खा तो लेता हूँ, मगर··· ।"

केदारवावू तव तक वोल उठे—"आज तूने परवल की कलौंजी नहीं वनाई विटिया ?"

सुशीला वोली—"दादा, लक्ष्मी कह रहा था, परवल अव फिर वारह आने सेर हो गया। इसलिए मजवूर होकर मुझे घुइयाँ ही मँगानी पड़ीं।"

केदारवावू परौंठे का कौर तोड़ते हुए वोले—"सुशीले, एक वात तुझे नहीं भूलनी चाहिए कि चाहे कैसे भी वुरे दिन आ जायँ, मगर उत्साह का दीपक अपने भीतर सदा ज्योतित ही रखना चाहिए। मन को मार-मार कर रखने से दिन नहीं फिरा करते। खाने-पीने में कमी कर देने से कभी भाग्य का उदय नहीं होता !"

सुरेश खाना खाते हुए केदारवावू के मुँह की ओर देखने लगा।

सुशीला सिर नीचा किये चुपचाप पिता और स्वामी की थाली की ओर देखती रहती थी।

सुरेश इतने में बोल उठा—"दादा, नौकरी तो अब मुझको मिलने से रही ! तो अब मैं खाली हाथ कब तक बैठा रहूँ ?"

केदारबाबू ने उत्तर दिया—"हाँ सुरेश, मैं भी यही सोच रहा हूँ। मगर एक बात तुमको नहीं मालूम कि एक चौके में, एक थाली में, दो सगे भाई बैठकर खाना खा सकते हैं मगर एक दुकान में बैठकर दोनों व्यापार नहीं कर सकते। तुम सदा हमारे घर पर बने रहो। खाना-कपड़ा और जेब-खर्च लेते रहो; तो हमारा मन कभी मैला न होगा। लेकिन अगर व्यापार में मैंने तुमको शामिल कर लिया, तो जानते हो, इसका क्या मतलब हुआ ? मतलब हुआ कि आज तो तुम हमारे घर में भी बैठे हो, सुखी हो कि दुखी हो, यह बात दूसरी है। लेकिन कल ऐसा भी अवसर आ सकता है कि इस मुकदमे में तो ज़मानत करके मैंने तुम्हें छुड़ाया था। मगर फिर उस मुकदमे में तुम्हारी ज़मानत के लिए, तुम्हारे ही भाई रमेश को कोई दूसरा दरवाज़ा खटखटाना पड़ेगा ! समझ गये ? मतलब यह कि घर-जमाई के साथ साझेदारी में व्यापार करके मैं अपने 'परिवार का भविष्य चौपट नहीं करना चाहता !',

पिता की बात सुनकर सुशीला की आँखें भर आईं।

समाज के बीच में पड़कर मनुष्य अपने कर्म से ही अपना और पराया बन जाता है।

सुरेश ने अब इस विषय में कोई बात करना उचित नहीं समझा। वह चुपचाप खाना खाकर उठ गया।

शाम हुई तो सुरेश थोड़ी देर के लिए आज केदारबाबू की दुकान पर चला गया था। दस मिनट बैठने के बाद एक साहब जो दुकान के सामने से जाने लगे, तो केदारबाबू ने संकेत करके उनको अपने पास बुलाया। कपड़ा दिखलानेवाले दीनदयाल की तरफ देखते हुए केदारबाबू बोले—इधर आओ दीनदयाल। लो, पास से चार बीड़े पान तो लगवा लो।"

आगन्तुक महाशय बोले—"रहने दीजिए, रहने दीजिए, पान में बहुत

नहीं खाता" तब मुस्कान की पुट देते हुए केदारबाबू बोले—"अरे चौधरी साहब, रुपया न दीजिए, मगर पान तो खाते जाइए।"

दो मिनट बाद जब चौधरी साहब जाने लगे तो उनके थोड़ा आगे बढ़ते ही सुरेश उठकर चल दिया। उसको पान देते हुए केदारबाबू बोले—"बैठो बैठो।"

सुरेश ने उत्तर दिया—"दादा, मुझे इस समय नौकरी के सिलसिले में एक आदमी से मिलना है।"

केदारबाबू ने जवाब दिया—"अच्छा जाओ, भगवान् करे काम सिद्ध हो जाय ! वैसे कुछ मैं भी सोच रहा हूँ। आज समय निकालकर मैं एक जगह जाऊँगा। तुम चिन्ता न करना, अच्छा।"

इस प्रकार सुरेशबाबू लगातार कई दिन तक दुकान पर घण्टे-आध-घण्टे के लिए आने-जाने लगे। अन्त में एक दिन आते ही उन्होंने जेब से पर्स निकालते हुए तिहत्तर रुपये सवा नौ आने केदारबाबू के हाथ पर रख दिये।

रुपये देखकर केदारबाबू एकदम से चौंक पड़े। बोले—"यह रुपये कैसे ?"

सुरेश ने प्रसन्नता के साथ उत्तर दिया—"यह रुपये मैं चौधरी साहब के यहाँ तीन दिन लगातार चक्कर काटने के बाद आज वसूल कर पाया हूँ !"

अब केदारबाबू बोले—"सुरेश, काश तुमने अपनी यही नीति पहले से बना ली होती ! आज तुमने वह काम किया है कि मेरा रोआँ-रोआँ तुमको आशीर्वाद दे रहा है। लो, बीस रुपये यह लो, जेब-खर्च के लिए।"

सुरेश हँसते हुए बोला—"नहीं नहीं दादा, ऐसी भी क्या बात है !"

केदारबाबू बोले—"बेटा, ये रुपये तो डूबे ही हुए थे। सात बरस हो गये और आज-कल करते-करते मैं तो इनसे निराश हो चुका था। इसलिए ये रुपये लेने में कोई हर्ज नहीं है।"

सुरेश बोला—"नहीं दादा, रुपये-उपये मैं न लूँगा। अच्छा, मुझे इस समय एक जरूरी काम से एक साहब से मिलना है। मगर बात बनते-बनते रुक जाती है। वह कहते हैं कि मुझे दस हज़ार की जमानत चाहिए, तो मुझे उनसे यह कहना पड़ता है कि दादा के रहते हुए आप मुझसे ज़मानत माँगते हैं! 'जो आदमी मेरे ही सामने दादा का अपमान करता है, उसके यहाँ मैं भला नौकरी करूँगा?'—उस दिन मैं यही कहकर उनके यहाँ से लौट आया था, पर आज उन्होंने मुझे फिर बुला भेजा है।"

केदारबाबू सोचने लगे—"तीन और सात दस, दस और दो बारह। बारह हज़ार में बेड़ापार है!...हाँ बेटा क्या कहा?"

सुरेश ने उत्तर दिया—"मैं अभी थोड़ी देर में आया।"

दूसरे दिन जब सुरेश केदारबाबू की दुकान पर गया तो सैंतालीस रुपये पौने नौ आने उसने फिर केदारबाबू के हाथ पर रख दिये।

केदारबाबू हँसते हुए बोले—"यह रुपये शायद तुम चुन्नीलाल निगम के यहाँ से ला रहे हो!"

सुरेश ने कहा—"हाँ दादा। कल पहली थी न? मैं आज सवेरे ही उसके घर पहुँच गया था, जब वह मार्केटिंग के लिए जा रहा था। मुझे देखते ही हक्का-बक्का रह गया। आज भी टाल रहा था।—इस महीने में मैं दे नहीं सकूँगा। तब मैंने कहा—'आप किससे बात कर रहे हैं! रुपये आपको अभी देने पड़ेंगे, इसी समय। उस दिन आप दुकान पर बैठ कर क्या वादा कर आये थे?' मैंने यह बात तो ज़रा जोर से कही तो झट उसके पर्स ने रुपये उगल दिये!"

अब केदारबाबू बोले—"बैठो बैठो। आज मैं अपने एक पुराने मित्र से मिला था। उन्होंने मुझसे एक तरह से तुमको नौकरी देने का वादा कर लिया है।"

सुरेश के मुँह से निकल गया—"दादा, इस नगर में रहकर मैं किसी के यहाँ नौकरी करके आपकी शान को बट्टा नहीं लगाना चाहता। मेरा

कोई खर्चा तो रुकता नहीं है। फिर आप काहे को परेशान होते हैं? अच्छा मैं ज़रा वकील साहब से मिल आऊँ। मुहर्रिर साहब सवेरे मकान पर आये थे न, ज़रा देख आऊँ, उन्होंने मुकद्दमा दायर किया कि नहीं। उनसे यह भी पता चल जायगा कि चुन्नीलाल मुन्नीलाल पडरौनावाले केस में कौन-सी तारीख पड़ी।

अब केदारबाबू के मुँह से निकल गया—"हाँ, यह तुमने ठीक सोचा।"

इतने में जब सुरेश चलने लगा तो केदारबाबू बोले—"यह लो...वह जो 'सोने की परी' नाम का खेल आया है, उसके पास, दो हैं। सुशीला को भी साथ लेते जाना। मगर आज दूसरी तारीख है। जेब-खर्च के लिए लो यह सौ रुपये रख लो। क़ायदे से चलोगे तो तकलीफ़ न होगी, बेक़ायदे चलोगे तो परेशान होगे! और हमारे यहाँ तो बहुत बढ़िया सर्ज रह नहीं गई, ज़रूरत समझो तो बिरहाना रोड जाकर अपने मन का सूट बनवा लो। दाम हम दे देंगे।"

सुरेश ने कुछ सोचते हुए उत्तर दिया—"मगर दादा, ऐसी जल्दी क्या है? दिवाली बाद बनवा लूँगा। तब तक तो आपके यहाँ ढेर-सा कपड़ा आ जायगा।"

अब केदारबाबू के मुँह से निकल गया—"सो ठीक है, बेटा। मैं तो यह भी सोच रहा था कि एक गाड़ी खरीद लूँ। कभी-कभी मुन्नी के यहाँ जाना ही पड़ेगा। हमारे साथियों में से एकाध ऐसे भी हैं, जिनके यहाँ दो-दो गाड़ियाँ है। कल गणेशबाबू के यहाँ उनका दामाद जब गाड़ी पर घूमने चल दिया तो सुरेश तुमको क्या बताऊँ, मेरी क्या दशा हो गई! फिर इसी जाड़े में हमें कामना का विवाह करना है। मुन्नी के विवाह की अलग फिकर लगी है। खैर, इस समय तो जाओ।"

सुरेश ने दस-दस के पाँच नोट लौटाते हुए कहा—"ये रुपये तुम्हीं दे देना सुशीला को। बहुत दिन बाद यह दिन देखने को मिला है दादा, तुम्हारे हाथ से रुपये पायेगी, तो कितनी प्रसन्न होगी!"

यह कहते-कहते सुरेश का कण्ठ भर आया।

केदारबाबू ने कुछ सोचकर रुपये ले लिये। सुरेश चला गया। दूसरे दिन सायंकाल सुशीला ने परवल की कलौंजी और पनीर-आलू का साग बनाया था। केदारबाबू ने खाना खाते हुए कहा—"आज मुन्नी की बहुत याद आ रही है।" और इतना कहते-कहते झट से बोल उठे—"अरी कामना ?"

दूर से आवाज़ आई—"आई दादा।"

केदारबाबू बोले—"मुन्नी की कोई चिट्ठी नहीं आई ?"

कामना ने पास आकर उत्तर दिया—"आज कैसे आती ? रविवार को वह चिट्ठी लिखते हैं तो सोमवार को पोस्ट होती है, तब मंगलवार को कहीं आ पाती है।"

"हाँ, यह तो तू ठीक कहती है।"

इतने में सुरेश बोला—"दादा, आज मैं वकील साहब से मिला था। भरोसेलाल उपासनाप्रसाद जंघईवाले के यहाँ से ड्राफ़्ट आ गया। मैं उसे ले आया हूँ। सात सौ तिरानवे रुपये चौदह आने का है !"

केदारबाबू बोले—"चलो, यह भी बहुत अच्छा हुआ। सुरेश ! तुम ऐसे विश्वास के आदमी अगर पहले से ही सिद्ध होते, तो आज क्या-से-क्या दिखाई पड़ते !"

सुरेश ने तो कोई इसका उत्तर नहीं दिया। अब केदारबाबू कहने लगे—"अरी कामना बिटिया, सुशीला को कभी तो फ़ुरसत दिया कर।"

कामना ने उत्तर दिया—"दादा, मैं क्या करूँ ? दीदी मुझे चौके में आने ही नहीं देतीं।"

अब केदारबाबू के मुँह से निकल गया—"हूँ। अच्छा, ऐसा करो—अपने-अपने दिन बाँट लो। क्यों सुशीले !"

सुशीला ने एक बार स्वामी की ओर देखा और एक बार दादा की ओर, और सकुचाते-सकुचाते उत्तर दिया—"दादा, यहाँ काम ही ऐसा

कौन बहुत है ? चौका-बर्त्तन भी तो नहीं करना पड़ता। सिर्फ़ दोनों वक्त खाना बनाना पड़ता है और मेरी तो कुछ ऐसी आदत पड़ गई है कि जब तक दिन-भर काम न करूँ, खाना ही हज़म नहीं होता।"

इतने में ब्रह्मा ने आकर कहा—"दादा, आज मैं भाभी के यहाँ गया हुआ था। उनकी माँ ने मुझको बे-बे मिठाइयाँ खिलाईं कि मेरा पेट कल तक के लिए भर गया।"

इस पर सुशीला, कामना, सुरेश और केदारबाबू हँस पड़े।

परन्तु फिर क्षण-भर बाद बोले—"और तुमने रेणु को अभी से भाभी कहना भी शुरू कर दिया! हम डाल-डाल तुम पात-पात! जब से यमुना यहाँ से निराश होकर गई है, तब से मैं बड़ी उलझन में पड़ गया हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि यह समस्या सुलझेगी कैसे ?"

इतने में सुशीला बोल उठी—"दादा, छोटी अम्मा की तो यही राय है कि मुन्नी का ब्याह रेणु के साथ ही किया जाय।"

अब केदारबाबू बोल उठे—"मैंने तो अब इस विषय में कुछ भी सोचना-विचारना एकदम से त्याग दिया है। इसे भगवान् ही सुलझायेंगे।"

इतने में देवकी हाँफती हुई आ पहुँची और बोली—"दादा, आज गाड़ी बहुत लेट थी।"

केदारबाबू चौंक-से पड़े और बोले—"मगर आज सोमवार को तू कैसे आ गई ?"

देवकी दरवाज़े से लगकर बैठ गई और बोल उठी—"दादा, वे उजियारे और अँधियारे मिलकर फ़ौजदारी करने पर आमादा हैं। कहते हैं, खेत हमारे हैं। हमीं उनमें जुताई और बुवाई करेंगे। दादा, वे मरने-मारने को तैयार हैं। अगर तुम कल हमारे साथ गाँव नहीं चलोगे, तो सब गड़बड़ हो जायगा और मेरा सिर तो इतना नीचा हो जायगा कि सोचती हूँ—मैं गाँव में रहूँगी कैसे! दादा, अब इस विषय में देर-दार करने से काम नहीं चलेगा। इसीलिए मुझे आज आना पड़ा।"

अब केदारबाबू विचार में पड़ गये। कुछ बोल न सके। रात को जब चारपाई पर लेटे, तब देवकी इसी प्रसंग में बातें करने के लिए जो आई भी, तो उन्होंने एक गम्भीर और गुरु-गर्जना के साथ उत्तर दिया—"सुन लिया, सब सुन लिया देवकी। बिना सोचे-समझे मैं कोई काम नहीं करता। आगे का रास्ता देखे बिना मैं कभी कदम आगे नहीं रखता। फिर ये रास्ते, कितने काँटों से भरे हैं। कहीं कंकड़ हैं, कहीं पत्थर; कहीं कीचड़ है, कहीं दलदल; कहीं फिसलने का डर है, तो कहीं गिरने का। तुम यह क्यों भूल जाती हो कि दुनिया में जो कुछ होता है वह सब हमारी ही बुद्धि और हमारे ही कर्म के घमण्ड से नहीं होता, दम्भ से नहीं होता। उसके पीछे भगवान् का एक बहुत बड़ा हाथ होता है। वह हाथ, जो सदा हमारे सिर पर रहता है। वही हाथ, जो अन्धा हो जाने पर भी हमको लाठी टेककर रास्ता दिखाता हुआ हमें आगे बढ़ाता जाता है। यह स्वर उसी हाथ का होता है कि चले आओ बाबा, चले आओ, बेखटके। अब आगे कोई भय नहीं है—कोई भय नहीं है।"

देवकी उन्हीं पैरों लौट गई। सवेरा हुआ। देवकी निश्चित समय पर स्टेशन को चल दी। उसने टिकिट लिया। लक्ष्मीकान्त उसके साथ था। देवकी की दृष्टि घड़ी की सुइयों पर थी। वह गाड़ी में जा बैठी। गाड़ी के छूटने का समय है पाँच-बीस प्रातः। अब पाँच-उन्नीस हो गये, पाँच-बीस हो गये और पांच-पच्चीस हो गये पर गाड़ी न छूटी। लक्ष्मीकान्त प्लेट-फार्म पर खड़ा था। एकाएक गाड़ी ने सीटी दी और गाड़ी चल दी।

तभी लक्ष्मी ने माँ से कह दिया—"अम्मा, दादा भी आ गये। वे पीछे के एक डब्बे में अभी-अभी जाकर बैठ गये हैं।"

देवकी सोचने लगी—'रात को दादा ने कहा था—चले आओ, बेखटके! अब आगे कोई भय नहीं है, कोई भय नहीं है। यह स्वर उसी हाथ का होता है, जो सदा हमारे सिर के ऊपर रहता है।'

---

: २६ :

कामतापंडित जब कहीं जाने लगते, तब श्यामा के आगेवाले दोनों खुर दायें हाथ से छूकर श्रद्धा के साथ मस्तक में लगा लेते, मगर पीछे के खुर कभी न छूते।

इसका एक कारण था। कामतापंडित सोचते थे कि आगे के पैर छूने में तो माँ का-सा भाव मन के भीतर थोड़ा-बहुत जमता भी है। क्योंकि अगर वह मरकही न हुई, तो उसके सामने जाने में कोई खतरा नहीं है। मगर पीछे के पैर छूने में तो जोखिम है। क्योंकि आगे आने पर तो यह मालूम भी रहता है कि कौन उसके पास आ रहा है। जो आ रहा है उसको वह पहचानती है या नहीं। और पहचाननेवाले के साथ अपनी जाति का-सा व्यवहार करने का कोई सवाल नहीं उठता। लेकिन पीछे से किसी के आने की आहट होने पर तो उसे यह जानने का मौका ही नहीं मिलता कि कौन आया है। ऐसी दशा में अगर वह एक लात जमा ही दे, तो उसमें आश्चर्य की क्या बात है! इसीलिए भई मुझे उसके अगले खुर छूने में ही सुविधा जान पड़ती है।

कुछ ऐसी बात थी कि कामतापंडित घरेलू जानवरों से बातचीत करना जानते थे। उनसे अगर प्रेम करते थे, तो लड़ते-झगड़ते भी थे, उनसे बात करने या दुलराने और मनाने में उन्हें आनन्द मिलता, जो अक्सर बड़े-बूढ़ों को बच्चों का मन बहलाने में मिलता है। गाँव में ऐसे लोगों की कमी न थी, जो कामतापंडित को झक्की, सनकी और आधा पागल समझते थे। किन्तु गाँव में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो उनको साधु-महात्मा की कोटि में मानने लगे थे।

एक दिन की बात है, कामतापंडित अपने पड़ोसी जमुनाप्रसाद के पास जाकर बोले—"तुम्हारे यहाँ भूसी तो होगी ?"

जमुनाप्रसाद उस समय अन्दर भैंस दुह रहे थे। इधर कुछ दिनों से उनके कान धोखा देने लगे थे और बाल्टी उनके हाथ में थी। वहीं से बोले—"दद्दा, बस अभी मैं आया।"

कामतापंडित बोले—"अरे जमुनाप्रसाद, यार सो गये क्या ? कहते थे, अभी आते हैं।"

उत्तर कुछ नहीं आया। कामतापंडित ने फिर पुकारा—"जमुनाप्रसाद, अरे जमुनाप्रसाद···तो भई हम चलें।"

इतने में जमुनाप्रसाद हाथ में तम्बाकू रखे, दायें हाथ से उस पर ताल देते-देते, बाहर आ गये और कामतापंडित के आगे करके बोले—"लो दद्दा।"

कामतापंडित ने एक चुटकी-भर तम्बाकू लेकर, ठुड्डी के ऊपर—होंठ के भीतर—रख ली और सिर हिलाते हुए उन्होंने फिर वही प्रश्न कर दिया—"तुम्हारे यहाँ भूसी तो होगी ?"

जमुनाप्रसाद ने समझा—वे तम्बाकू कुछ और चाहते हैं। अतएव उन्होंने बची-खुची तम्बाकू भी कामतापंडित के सामने बढ़ा दी !

अब कामतापंडित ने उनके कान के पास मुँह ले जाकर फिर वही प्रश्न कर दिया—"तुम्हारे यहाँ भूसी तो होगी !"

जमुनाप्रसाद ने समझ लिया, जान पड़ता है, इनके यहाँ मेहमान आ गये हैं और तम्बाकू बिल्कुल चुक गई है, अतएव वे बिना कुछ कहे अन्दर चले गये।

इस बार कामतापंडित ने समझा, वे भूसी लेने के लिए ही भीतर गये हैं और जमुनाप्रसाद ने समझा कि कामतापंडित की इज्ज़त खतरे में है। इसलिए जितनी तम्बाकू की पत्तियाँ उनके घर में पड़ी थीं, वे उन सबको उठाकर बाहर आ पहुँचे और उत्साहपूर्वक बोले—"दद्दा, गाँव-

पड़ोस की इज़्ज़त का सवाल है। जितनी ज़रूरत हो लेते जाइए। संकोच न कीजिए।"

कामतापंडित बोले—"तम्बाकू नहीं, मुझे भूसी चाहिए, भूसी। है तुम्हारे यहाँ ?"

अब जमुनाप्रसाद सोचने लगे, दद्दा तम्बाकू नहीं, कुछ और चाहते हैं। मगर क्या चाहते हैं, यह उनकी समझ में न आया। तभी कामतापंडित ने जमुनाप्रसाद का हाथ पकड़ा और अपने साथ लाकर श्यामा की नाक के पास खड़ा कर दिया। जमुनाप्रसाद ने देखा, गाय बड़े चाव से भूसी खा रही है। मुँह उसका कभी-कभी ऊपर को उठ जाता है।

अब जमुनाप्रसाद ने सोचा, कोई ग्राहक इनकी गाय को ख़रीदने के लिए आने वाला है। दाम बहुत अच्छे लगने की पूरी आशा है; किन्तु दद्दा चाहते हैं कि वे अपनी इस गाय को उसके हाथ न बेचें और अगर मैं इसके लिए तैयार हो जाऊँ, तो यह मुझको सहज ही दे देंगे। इसलिए उन्होंने उत्तर दिया—"मगर मेरे पास तो है !"

कामतापंडित अब उनके इस उत्तर को सुनकर प्रसन्न हो उठे। बोले—"तो फिर ले आओ न ! इतनी देर से झींख रहा हूँ। ऐसे आदमी से पाला पड़ा है कि रत्ती-भर भी काम निकालना कठिन हो जाता है।"

तब वे पुनः जमुनाप्रसाद के पास मुँह ले जाकर स्वर पर कुछ और बल देकर बोले—"तो फिर ले आओ। अब बेकार इतनी देर लगा रहे हो !"

जमुनाप्रसाद ने समझा कि ये मुझसे यह जानना चाहते हैं कि कितने रुपये पर हम इसको लेना चाहेंगे। इसलिए उन्होंने उत्तर दिया—"मगर मेरे पास तो है।"

अब कामतापंडित बिगड़ खड़े हुए। बोले—"तुम पूरे उल्लू हो जमुना ! मैं तो समझता था कि थोड़े-बहुत होगे, मगर आज मालूम हुआ कि समूचे हो ! तुमको पैदा करके तुम्हारे माता-पिता सीधे स्वर्ग चले गये होंगे !"

कामतापंडित जब इस प्रकार बड़बड़ाने लगे, तो जमुनाप्रसाद ने सोचा, जान पड़ता है फिर ग़लती हो गई। इसलिए उन्होंने कानों की ओर संकेत करके हाथ हिलाते हुए कह दिया—"कुछ समझ में नहीं आया कि आप चाहते क्या हैं ?"

तब कामतापंडित ने पहले अपना मस्तक ठोंका और फिर विवश होकर नाँद में हाथ डालकर एक तोला-भर भूसी जमुना के हाथ पर रख दी और पूछा—"अब तो समझ में आया ?"

जमुनाप्रसाद अबकी बार हँस पड़े। उन्होंने समझ लिया कि मामला बड़ी देर में समझ में आया है। मगर कोई बात नहीं, अन्त में समझ में आ तो गया पर वास्तव में उनकी समझ में यह आया कि भूसी इनके पास बहुत-सी बिकाऊ है और ये मेरे हाथ बेचना चाहते हैं। तब उन्होंने फिर कह दिया—"मगर मेरे पास तो है !"

अब कामतापंडित ने सोचा—यह आदमी ग़लती पर नहीं है। ग़लती वास्तव में मुझसे हो रही है। मुझे अपनी बात शब्दों द्वारा नहीं, संकेतों द्वारा कहनी चाहिए थी। इसलिए वे फिर बिना कुछ सोचे बोल उठे—स्वर से नहीं, संकेत से। उन्होंने एक बार भूसी की ओर तर्जनी उठाई और अपने हृदय में लगा ली और फिर जमुना के हृदय में लगाकर, हाथ उठाकर हिला दिया। तात्पर्य यह कि भूसी चाहिए मुझको ! न कि तुमको और इतना बतलाने के बाद उन्होंने श्यामा की ओर संकेत कर दिया। फिर अपने मुँह की ओर, अपने पेट की ओर। मुँह का संकेत इस प्रकार था कि उसे खिलाना चाहता हूँ और पेट को ठोंकने का अभिप्राय यह था कि वह भूखी है बेचारी !

इस प्रकार जमुनाप्रसाद अब सब-कुछ समझ गये और बोले—"भूसी दादा मेरे पास दो घड़े रखी है। मैं अभी लिये आता हूँ।" इतना कहकर जमुनाप्रसाद अपने घर चले गये।

अब कामतापंडित श्यामा को लक्ष्य करके बोल उठे—"मैंने भूसी लाकर तेरी नाँद में सानी करनी चाही थी; मगर तू बूढ़ी हो गई और तुझे धीरज

न आया। तूने मेरी डलिया में थूथुन डाल दी और दो ही चार वार में सारी भूसी साफ़ कर दी! तव मैं क्या करता?...लो, देखो, हँस रही है! अरे, मैं कह रहा हूँ, इसमें हँसने की क्या वात है! मैंने अपने घर की सारी भूसी तेरी नाँद में उँडेल दी। पता नहीं कि कव की भूखी है। अच्छा, मान लिया कि भूखी है, मगर फिर तुझे यह भी वताना चाहिए था कि कव की भूखी है! कितने दिन की भूखी है?—महीने, वरस या युगों से भूखी है? खा ले, आज मैं अपने घर की ही नहीं, अपने पड़ोस की ही नहीं, सारे गाँव की भूसी तेरे लिए इकट्ठी करके यहीं उसका ढेर लगाये देता हूँ। लो, फिर मेरी तरफ़ मुँह उठाकर ताक रही है—ताक रही है—ताकती ही जा रही है!"

कामतापंडित इस तरह वातें कर रहे थे, जैसे वे किसी मनुष्य से वोल रहे हों। इतने में जमुनाप्रसाद दोनों घड़े भूसी ले आये, जिसे देखकर कामतापंडित प्रसन्न हो उठे। और कृतज्ञता-ज्ञापन के रूप में वोले—"वाह जमुना, तुमने तो हमारी लाज रख ली।" और इतना कहने के वाद वे श्यामा को लक्ष्य करके फिर वोल उठे—"आज तू भूसी ही खा ले पेट-भर। आज तेरी भूख को मैं शान्त करके ही मानूँगा! अरे, अव तू धीरे-धीरे क्यों खाने लगी! हफाका मारना क्यों कम कर दिया? मैंने तो तुझसे कुछ कहा भी नहीं!"

कामतापंडित जव इस प्रकार वोलने लगे, तव जमुनाप्रसाद ने समझा—शायद यह अव अपनी इस गैया को भूसे के वजाय, भूसी ही खिलाना चाहते हैं और उसी के लिए मुझसे कह रहे हैं। मतलव यह है कि इनको भूसी की और भी अधिक जरूरत है। तव जमुनाप्रसाद विना कुछ वोले तुरन्त वहाँ से चल दिये।

श्यामा धीरे-धीरे इतनी भूसी खा गई थी कि अव उसका पेट भर गया। उसकी मुँह मारने और चलाने की गति मन्द पड़ने लगी। तव कामतापंडित फिर वोल उठे—"जान पड़ता है अव तू सन्तुष्ट है। इसलिए

अब तुझसे खाया नहीं जाता।"

इस कथन के साथ-ही-साथ कामतापंडित ने सोचा—मुझसे थोड़ी ग़लती हो गई है, जो मैंने इसके आगे सूखी भूसी छोड़ने का क्रम स्थिर रखा है। मुझे सानी करके ही इसे खिलाना चाहिए था। खैर कोई बात नहीं। अब मैं इसको पानी पिलाये देता हूँ। तब उन्होंने श्यामा के लिए पानी लाना प्रारम्भ कर दिया।

इतने में जमुनाप्रसाद मुहल्ले से अनेक डलिया भूसी लिये हुए सामने आ पहुँचे।

कामतापंडित बोले—"अब ज़रूरत नहीं है।"

लेकिन जमुनाप्रसाद ने समझा—यह मुझसे भी पानी ढोने के लिए कह रहे हैं। जान पड़ता है, उनके घर में पानी खतम हो गया है। तब जमुनाप्रसाद उन्हीं पैरों अपने घर लौट आये और दो घड़े पानी लाकर फिर सामने आ पहुँचे।

कामतापंडित इस बार हँस पड़े। बोले—"मुझे पानी की भी ज़रूरत नहीं है भाई।"

किन्तु जमुनाप्रसाद ने समझा, कामतापंडित कह रहे हैं कि उनके यहाँ का पानी खतम हो चुका है। इसलिए यह चाहते हैं कि मैं और पानी ले आऊँ। अतएव उन्होंने हँसते और आश्वासन देते हुए, प्रसन्नतापूर्वक कह दिया—"मगर मेरे पास तो है।"

उस दिन से कामतापंडित ने जमुनाप्रसाद से बात करना छोड़ दिया। अब जब कभी उनको उसे कोई बात कहनी होती, तब वे उससे केवल संकेतों से बात करते; मुँह से एक शब्द न निकालते।

---

## : २७ :

देवकी जब प्लेटफ़ार्म पर उतर पड़ी, तो उसने सबसे पहले रेल की लाइन के उस पार दृष्टि डालकर यही जानना चाहा कि सवारी आ गई या नहीं। उसकी व्यवस्था के अनुसार नये असामी की बैलगाड़ी केदारबाबू और उसको लेने के लिए स्टेशन पर आ ही गई थी। तब उसने उधर देखा, जिधर लक्ष्मी की सूचना के अनुसार केदारबाबू के आने की संभावना थी। अब यह सोचकर उसे बड़ा सन्तोष मिला कि दादा आखिर आ ही गये। फिर एक हाथ में छड़ी, दूसरे में झोला लिये हुए उनको धीरे-धीरे आता देखकर वह उधर बढ़ती हुई बोली—"मुझे मालूम हो गया था दादा कि आप पिछले किसी डब्बे में बैठ गये हैं। पर भीड़ के कारण बीच के किसी स्टेशन पर उतरकर, आपसे मिलने को आने की हिम्मत न पड़ी। दादा, तकलीफ़ तो आपको आने में अवश्य हुई होगी, पर···।"

देवकी को और आगे बोलने की आवश्यकता नहीं पड़ी, क्योंकि बीच में केदारबाबू बोल उठे—"हाँ देवकी, उस समय मैंने तुझे डाँट तो दिया, लेकिन फिर मेरे मन के भीतर एक आँधी-सी चलने लगी। स्वयं मैं अपने आपसे लड़ने लगा। बार-बार जैसे कोई मुझसे कहने लगता—मुझे जाना ही चाहिए।···चलो, चलो, गाड़ी तो आ गई न गाँव से ?"

केदारबाबू के हाथ से झोला लेती हुई देवकी बोली—"दादा, लछमनवाँ सग्गड़ ले आया है। उसी को मैंने खेत जोतने को दिये हैं।"

तब सग्गड़ में अच्छी खासी बैलों की गोई निकट से देखकर प्रसन्नमुख केदारबाबू बोले—"चलो, मुझे सबसे बड़ी प्रसन्नता इस बात की हुई कि गाँव के किसानों की स्थिति पहले की अपेक्षा अब अवश्य कुछ सुधरी है।

अच्छा देवकी, ज़रा पूछकर देखना, इसके पिता का क्या नाम था ? मुझे कुछ ऐसा ख्याल आता है कि हो-न-हो, यह भरोसे का लड़का तो नहीं है, क्योंकि उसका चेहरा-मोहरा भी कुछ ऐसा ही था।"

बात करते-करते अब केदारबाबू लछमन के निकट आ गये थे। इसलिए देवकी के बैठ जाने पर जब वे सग्गड़ पर बैठने लगे, तो लछमन बोल उठा—"दादा, बापू का नाम रामआसरे था, पर उनके बड़े भाई जो मेरे ताऊ थे, उनका नाम अलबत्ता रामभरोसे था। बड़े लोग उन्हें 'भरोसे' ही कहते थे।"

"बस, बस, मैं सब-कुछ समझ गया लछमन।" कहते हुए केदारबाबू बोल उठे—"रामआसरे और रामभरोसे दोनों-के-दोनों कभी-कभी हमारे यहाँ हल जोतने आते थे। रामआसरे डीलडौल में कुछ तगड़े थे, पर रामभरोसे कुछ-कुछ दुबले। शायद कुछ चेचक के दाग़ भी उनके मुँह पर थे।"

अब लछमन बैलों की पिछाड़ी पर हाथ के संकेत से बढ़ावा देते हुए बोला—"हाँ दादा, आपका खयाल ठीक है।"

देवकी इतने में अवसर के अनुरूप बोल उठी—"दादा, आज ही शाम को उजियारे और अँधियारे को घर पर बुलाकर डाँट-डपट दिया जाय, तो कैसा हो ?"

"अभी से मैं क्या कह सकता हूँ देवकी ? गाँववाले मित्रों से बातचीत किये बिना उनका आशय कैसे जान सकता हूँ ! हवा का रुख देखे बिना मैं कोई काम नहीं किया करता।"

केदारबाबू ने कुछ इस भाँति कह दिया, मानो अब तक वे कुछ तय नहीं कर पाये हैं। पर इधर-उधर की बातें करते हुए वे जब गाँव पहुँचे तो बहुतेरे लोग उनसे मिलने को आने लगे; और शाम होते-होते गाँव के सभी प्रतिष्ठित लोग उनके चौपाल पर इकट्ठे हो गये।

देवकी ने लालटेन जलाकर द्वार के पास एक खूँटी पर लटका दी।

उपस्थित लोगों में पंचायत के सभापति पंडित सुन्दरलाल थे, मुखिया सुरजनसिंह, लोचनत्रिवेदी, त्रिवेणीशंकर अग्निहोत्री थे। लाला दुलीचन्द पटवारी, मिडिलस्कूल के मुख्य अध्यापक करीमबख्श, डाकबाबू गोविन्दसिंह तथा नहरबाबू सखाराम आदि तो थे ही, पड़ोसी गोकुलसुकुल, कामता-पण्डित और जमुनाप्रसाद के सिवा पुराने असामी उजियारे, अंधियारे तथा नया असामी लछमन भी था।

देवकी ने देखा कि अब तो काफी आदमी जमा हो गये, तब उनके कार्य का श्रीगणेश करते हुए कह दिया—"आप लोगों को किस कारण यहाँ आना पड़ा, यह आपसे छिपा नहीं है। बात यह है कि अब तक हमारे खेत उजियारे और अँधियारे जोतते रहे हैं। जोतने, बोने, निराई, कटाई और मड़ाई का सारा काम वही करते रहे हैं। इस काम के बदले में खेतों की उपज का आधा भाग उन्हें दिया जाता रहा है। अब कुछ कारण ऐसे पैदा हो गये हैं कि मैं इन दोनों को अपने खेत नहीं देना चाहती। इस पर ये दोनों असामी उस दिन लाठी लेकर फौजदारी करने को आमादा हो गये। ऐसी हालत में अब मुझे क्या करना चाहिए, यही तय करने के लिए आप सबको यहाँ आने का कष्ट उठाना पड़ा है।"

इतने में केदारबाबू देवकी को ही लक्ष्य कर बोल उठे—"देवकी बिटिया, मेरा कहना तो यह है कि ज़मीन हमारी ज़रूर है; लेकिन पिछले पचास से अधिक वर्षों से जिसके घर के आदमी और बच्चे उस ज़मीन को जोतते रहे हैं और जिसकी उपज का भोग हम बराबर करते आ रहे हैं, उस ज़मीन पर हमारा अधिकार ज़रूर है; लेकिन उनका अधिकार बिल्कुल नहीं है, ज़रा भी नहीं है, किसी तरह नहीं है—ऐसी बात नहीं है।"

इसी समय उजियारे और अँधियारे उठकर खड़े हो गये। बोले—"क्या बात कही है न्याय की दादा आपने! भगवान् करे, आपकी जय हो।"

केदारबाबू बोले—"सुनो, सुनो, पूरी बात तो सुन लो।...हाँ, मैं यह कह रहा था कि यह ठीक है कि वे पढ़े-लिखे नहीं हैं, गँवार और मूर्ख हैं,

ऊँचा-नीचा न सोच सकते हैं और न हमारे प्रति विश्वासपात्र और सहायक बने रहना चाहते हैं ! यह भी सही है कि ये उजियारे और अँधियारे इतने बड़े मूर्ख हैं, जो झगड़ा करने पर आमादा हैं। इसका फल क्या होगा मैं नहीं जानता। लेकिन मैं यह नहीं चाहता कि वे घर-घर अपना दुखड़ा रोते फिरें और सुननेवाले यह कहने का अवसर पायें कि केदारबाबू इतने बड़े आदमी होकर भी ऐसे निर्दय और अत्याचारी सिद्ध हुए ! आपको विदित है, हमारे पूर्वजों की एक प्रतिष्ठा रही है और हमारी अपनी भी एक मर्यादा है। इसलिए हम गाँव की दृष्टि में गिरना नहीं चाहते। हमें किसी का यह कहना सहन न होगा कि केदारबाबू ने अपनी ज़ोर-ज़बरदस्ती से इन गरीब किसानों को कुचल डाला !"

इतने में देवकी बोल उठी—"दादा, मैं आपके सामने बिल्कुल बच्ची हूँ। आप मेरे माता-पिता हैं। हम तो आपकी आज्ञा-पालन करने के लिए ही पैदा हुए हैं, ऐसी दशा में बहस भला हम क्या करेंगे ? लेकिन आप यह क्यों भूल जाते हैं कि क़ायदे से बच्चों के अधिकार पर आप अपना मत लाद नहीं सकते। आप अगर अपनी ज़मीन इन उजियारे और अँधियारे को दे भी डालें, तो उमर पाकर अधिकारी होने पर आपकी ज़मीन पुनः वापस पाने के लिए आपके बच्चे अदालत का दरवाज़ा खटखटा सकते हैं।"

अब केदारबाबू बोले—"यह तुम ठीक कहती हो देवकी।" और इसी समय गोकुलसुकुल भी बोल उठे—"हाँ दादा, देवकी बिटिया बात क़ायदे की कह रही हैं।" जमुनाप्रसाद को गोकुलसुकुल से रुपये जब नहीं मिले थे, तो उसको अपनी गाय बेचकर भैंसें खरीदने पर विवश होना पड़ा था। इस कारण वे गोकुलसुकुल की ओर देखना भी पसन्द न करते थे। अतएव इस समय जब गोकुलसुकुल बोल उठे, तो उनकी समझ में तो न आया कि वे क्या कहते हैं, फिर भी जमुनाप्रसाद मन-ही-मन कहने लगा—'यह सुकुलवा बेकार ही बीच में टिपुर-टिपुर करने लगता है ?'

केदारबाबू पहले तो चुप हो रहे। पर फिर कुछ सोचकर बोल

उठे—"अच्छा देवकी, अब मैं तुमसे एक सवाल करता हूँ। उसका जवाब तुम खूब सोच-समझकर देना। यहाँ डरने की कोई बात नहीं है। मान लो, हमने आज एक नौकर रखा है। नौकर का काम है सेवा करना, और मालिक की हैसियत से हमारा काम है कि सेवा के बदले में नौकर को महीने-के-महीने एक रक़म देना। अब मान लो, नौकर हमारा काम करते-करते बुड्ढा हो गया, उसके हाथ-पैर थक गये। अब उससे पूरा काम नहीं हो पाता। अब वह इस काबिल नहीं रह गया है कि कुएँ पर जाकर हमारे नहाने के लिए पानी भर सके। अब वह इतना शिथिल हो गया है कि हमारे लिए बाज़ार जाकर सौदा भी नहीं ला सकता, आवाज़ सुनकर वह तुरन्त उठकर हमारा हुक्म नहीं बजा सकता। जहाँ बैठता है, वहाँ खाँसी आती है, तो ढेर-का-ढेर कफ़ उगल देता है। मकान का वह हिस्सा; जहाँ वह सदा रहता है, गन्दा बना रहता है। अब सवाल यह उठता है कि नौकर तो अपने काम की उजरत पाता है। वह जब काम करता रहा है, तब उसको उजरत मिलती भी रही है। मगर अब तो वह 'काम नहीं करता। तो अब उसको हमसे सहारा पाने का क्या हक है? देवकी, तुम शायद यही कहना चाहती हो!"

फिर इस कथन के अनन्तर केदारबाबू ग्रामवासियों की ओर देखने लगे।

सब लोग टकटकी लगाये हुए केदारबाबू की ओर देख रहे थे और उनकी बात का भेद ताड़ रहे थे। लेकिन किसी में इतना साहस न था कि इसका उचित जवाब देता।

जमुनाप्रसाद अपने पास बैठे परमेश्वरीदयाल की ओर इस आशय से देखने लगे कि शायद इनसे कुछ मालूम हो जाय, पर परमेश्वरीदयाल इस ध्यान में थे कि देखें कौन क्या कह रहा है। तब जमुनाप्रसाद के मन में आया—'मैं भी पूरा उल्लू हूँ! किस आदमी के पास आ बैठा हूँ! सवेरे जो इसका मुँह देखने को मिल जाय, तो दिन-भर खाना नसीब न हो!' और तब वे उठकर अन्यत्र बैठ गये।

तव केदारवावू स्वयं वोल उठे—"देखो देवकी विटिया, इसपर हमारी राय तो यह है कि अपने काम करने के समय की मियाद में नौकर ने जो-कुछ काम किया है, उसकी उजरत, उसकी काम करने की मियाद-भर की ही नहीं है, उसके आगे की भी है। सेवा का पुरस्कार जो उसको काम करने के लायक वने रहने पर मिलता रहा है, वहीं पर, उतने में ही, समाप्त नहीं हो जाता ; वह तव तक चालू वना रहता है, जव तक उसकी ज़िन्दगी की अन्तिम साँस क़ायम है। इसलिए जैसे सरकारी नौकर वूढ़ा हो जाने पर पेन्शन पाने का अधिकारी हो जाता है, वैसे ही हमारा वह नौकर भी हमारी दया का नहीं, हमारी कृपा का नहीं, वल्कि पिछली सेवाओं के कारण हमसे इस समय भी सहारा और अवलम्व पाने का अधिकारी वना रहता है। इसलिए ये उजियारे और अँधियारे भी हमसे सहारा पाने के अधिकारी हैं। अगर वे अव हमारा हुकुम नहीं वजाते, तो भी जो सहारा उन्हें मिलना चाहिए, उसे हम कैसे रोक सकते हैं ? देखो भाई, आप लोग भी वोलते चलो तो ठीक है। मुझको भी तो यह मालूम होना चाहिए कि आप लोगों की क्या राय है ?"

दादा के इतना कहते ही कई लोग आपस में कानाफूसी करने लगे। और गोकुलसुकुल तो मन-ही-मन ग्लानि से इतने भर गये कि लज्जा के कारण सिर ऊपर न उठा सके। वारम्वार कोई उनके भीतर वोल उठता—'उस दिन तुमने इसी देवता के लिए कैसी अपमानजनक भाषा का प्रयोग किया था !'

इतने में सभापति वोल उठे—"दादा, आप तो ठहरे देवपुरुष, आप चाहे जो कहें। आपकी वात को हम दुलख नहीं सकते। आपके आगे तो हमारा सिर झुका हुआ है। लेकिन सवाल यहाँ आज की दुनिया के क़ायदे और कानून का है। जव जमीन आपकी है, तव उसका अधिकार भी आपका है। आप चाहें तो उन्हें जोतने दें और न चाहें तो उन्हें ज़वरदस्ती जोतने का कोई अधिकार नहीं है।"

सभापति का इतना कहना था कि गाँव के मुखिया सुरजनसिंह तम्वाकू थूक-थाककर वोल उठे—"पंचों, सभापतिजी ने विल्कुल कायदे की वात कही है।"

अव केदारवावू को फिर वोलना पड़ा—"इसका मतलव तो यह हुआ कि अभी हमने जिस नौकर की मिसाल दी, उसको कान पकड़कर, धक्का देकर, हमें अपने मकान से वाहर कर देना चाहिए ; आप यही कहना चाहते हैं ? आपका कायदा यही कहता है ?"

केदारवावू ने जव यह वात कही तो लोचनत्रिवेदी से विना वोले न रहा गया। उन्होंने कह दिया—"देखो दादा, हम वात कायदे की चाहते हैं, क्योंकि न्याय के सामने दया–उदारता की कोई कीमत नहीं है। आप अपने असामियों को एक ज़मीन ही क्यों, अपने घर का सारा माल-ताल दे डालिए। कौन आपका हाथ पकड़नेवाला है ? मगर जैसा कि देवकी विटिया ने अभी कहा था, जिस ज़मीन का यह झगड़ा है, उसके अधिकारी अव सिर्फ आप नहीं हैं। अविकारी हैं आपके भाई कैलाशवावू, उनकी घरेलू डिप्टी-साहव की माँ, आपके वच्चे, डिप्टी साहव खुद, विष्णु भैया और छोटे भैया व्रह्मा। इसलिए उनके अधिकार पर, उनकी ज़मीन-जायदाद पर, आप अपना मत लादना भी चाहें, तो नहीं लाद सकते। उनकी अचल सम्पत्ति पर आप अपनी उदारता का खेल नहीं खेल सकते ! उस ज़मीन का एक इंच का हिस्सा आप उनकी इच्छाओं के विरुद्ध अपनी मर्ज़ी से, किसी तरह दे नहीं सकते !"

अव केदारवावू क्षण-भर के लिए चुप्पी साध गये। पर थोड़ा रुककर फिर वे कुछ सोचकर वोल उठे—"देखो भाई, तुम लोग कायदा और कानून के ज़्यादा जानकार हो; उसको तुम लोग हमसे ज़्यादा समझते होगे। मगर मेरा कहना तो यह है कि सारे कायदे और कानून आदमी की भलाई और मानवता की रक्षा के लिए वनाये गये हैं। लेकिन जो कायदे ऐसे हैं कि जिनसे हमारे अंग की रक्षा नहीं होती, हमारे सेवकों का

पेट नहीं पलता, वे क़ायदे हमारी भलाई के लिए नहीं हैं। उन कानूनों से हमारी मर्यादा कायम नहीं रहती, बल्कि मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि वे हमारी मनुष्यता का मज़ाक उड़ा रहे हैं, हमारी उस पावन संस्कृति का नाश कर रहे हैं जो माता के समान पूजनीय है!...और भी एक बात है जिसे आप लोग इस समय भूल रहे हैं। वह यह है कि भूमि सब की है, जैसे आकाश, वायु, जल और अग्नि सब की है। कहा भी है—'सर्व भूमि गोपाल की।' तो आप यह क्यों कहते हैं कि भूमि केवल मेरी है। भूमि तो वास्तव में सब की है। इसलिए जिसके पास नहीं है उसे मिलनी ही चाहिए।"

अब फिर एक बार उस सभा में सन्नाटा छा गया। कोई एक शब्द भी न बोल सका। तब केदारबाबू बोले—"आज रास्ते में लछमन से बात करते-करते मैंने सुना कि अब भी गांवों में गोवध होता है। जब हमने इस बात की छानबीन की कि क्यों होता है, तब मेरा सिर लज्जा से धरती में गड़ गया! गोवध होता है हमारी इसी स्वार्थपरता के कारण, जिसका एक नमूना हमें आज यहाँ देखने को मिल रहा है। आप सबको मालूम ही है कि जो पशु दूध देते हैं, वे रातिब चाहते हैं, कुछ पौष्टिक और स्वादिष्ट आहार भी चाहते हैं। खली-बिनौले, अनाज की चूनी-भूसी, जब उन्हें काफी मात्रा में मिलती है तभी वे समय-समय पर दूध—और बच्चे—देने योग्य बनते और बने रहते हैं। पर आपके यहाँ की चाल यह है कि जहाँ दुधार पशु की दूध देने की सीमा और अवधि समाप्त होने आई कि आपने उसका पौष्टिक आहार बन्द कर दिया! इसका फल यह होता है कि हमारे गांवों में अच्छी-से-अच्छी गायें दुर्बल पड़ जाने पर जब बच्चा देने की सामर्थ्य खोने लगती हैं, तब आप सोचने लगते हैं कि अब इनको पालना सरासर मूर्खता है! पर यह मूर्खता वास्तव में आप की होती है, जो आप उनको पौष्टिक भोजन देना बन्द करके पहले असमय उन्हें दुर्बल और वृद्ध बना डालते हैं और फिर बाद में उन्हें कसाई के

हाथ आँख मूँदकर सौंप देने में बुद्धिमानी समझ बैठते हैं ! अब मैं आपसे पूछता हूँ कि पहला कसाई हमारे यहाँ कौन होता है ? आश्चर्य की बात है कि आप उसे जानते हैं और उसके साथ अपना व्यवहार भी बनाये रखते हैं ! सच पूछिए तो प्रकारान्तर से आप उसको इस कार्य में प्रोत्साहन देते रहते हैं । अब आप घर जाकर शीशे में ज़रा अपना मुँह देखिएगा कि आप समझते अपने को क्या हैं और वास्तव में आप क्या हैं ! मैं यहाँ स्पष्ट रूप से यह कह देना चाहता हूँ कि गाय ही नहीं, कोई भी पशु, जो खेतीवाड़ी के काम में आपका सहायक होता है, यदि आपकी स्वार्थपरता से कसाई के घर जाता है, तो उसकी हत्या के अपराध से आप किसी तरह बच नहीं सकते ! और इसी प्रकार, इसी नियम से, हमारे साथी, हमारे आश्रित जन—सहायक और सेवक यदि हमारे किसी कार्य के द्वारा भूखों मरने को बाध्य होते हैं, तो उसके अपराध से हम किसी प्रकार बच नहीं सकते । अब मैं आपसे पूछता हूँ कि आपके कायदे और कानून अधिक सही हैं या मेरा यह विचार, जिसे अभी मैंने आपके सामने रखा है ?"

इसी समय उजियारे और अँधियारे और उनके कुछ प्रबल समर्थक अनायास उठकर खड़े हो गये और दोनों हाथ जोड़कर, उच्च स्वर में बोल उठे—"दोहाई है दादा जू की ।···आपकी बात का हमारे पास कोई जवाब नहीं है ।"

गोकुलसुकुल कहीं से आकर पहले भीड़ के एक किनारे बैठ गये थे । अब वे दादा के पास आकर बोले—"दादा, मैंने आपको आज समझ पाया है । आप तो सचमुच अवतारी पुरुष हैं । लाओ, आपके चरण तो छू लूँ ।"

तब दादा की आवाज़ सुनाई पड़ी—"सदा सुखी रहो सुकुल ।"

अब इस समय परमेश्वरीदयाल से बोले बिना न रहा गया । उन्होंने कह दिया—"दादा, भूल-चूक हो जाय तो क्षमा कर देना । कुछ अरज मैं भी कर दूँ ! आप तो ठहरे साधू-महात्मा । आपकी बात दूसरी है; लेकिन

आज तो आपने जो चाहा, सो कर दिया। मगर डर इस वात का है कि कल कहीं आपको ही न पछताना पड़े। डिप्टी साहव, विष्णु और ब्रह्मा भैया जो कहीं पूस-माघ के महीने में आ गये और उनकी तवियत दस-पाँच सेर होला ले जाने की हुई, तो यही उजियारे अँधियारे हो जायँगे और अँधियारे तो अँधियारे हैं ही। आज ऐसी दशा में जव आप इन पर इतने दयालु हो, तव इनकी यह हालत है और जो कहीं आपने इनको खेत-पात सौंप दिये, तो दस सेर क्या, दस दाने को भी ये लोग तरसाकर मारेंगे ! वस मुझे इसी वात का डर है।" और इसके वाद वे कुछ झटके के साथ वोले—"वेजा कहता हूँ ?"

अव केदारवावू मुस्कराते हुए वोल उठे—"देखो भाई परमेश्वरी, हमने आप लोगों की वात समझ ली।···"

इतने में उजियारे पुनः उठकर खड़ा हो गया और वोला—"दादा, उनकी तो वात आपने सुन ली। अव हमारी भी सुन लेव ! ई परमेश्वरी भैया जो हैं न दादा, इनका तो परमेसुर ने वहुत फुरसत में वनाया है। पर हमको पैदा करन्रे में भगवान् को कौनो तकलीफ नहीं भई। अव हमारी अरज यह है कि जव आप हमारा इत्ता ख्याल रखते हो, तो का हम आपसे और अपने उन भइयन से वाहर जा सकते हैं ! देखो दादा, दस-वीस सेर चना-चवेना की कौन विसात है, दुइ चारि मन नाज हम तुम्हारे इन चरनन के परताप से कोई चीज नहीं समझते ! अगर हम ऐसा अधरम करने लगें तो हमारे छोटे-छोटे वच्चे मर जायँ ! हमारे वावा तुम्हारे गुलाम रहे, वाप तुम्हारे गुलाम रहे। हम और हमारे वच्चे भी तुम्हारे गुलाम ही रहेंगे दादा। लेकिन खेत, खेत न छोड़वाव दादा, नाहीं तो हम मर जायँगे !"

"कोई किसी का गुलाम नहीं होता, उजियारे। तुम्हारा यह खयाल ग़लत है कि हम तुमको गुलाम वनाये रखना चाहते हैं ! गुलामी के दिन लद गये। आज के युग में गुलामी सवसे वड़ा पाप है। और केवल पाप करने वाला ही पापी नहीं होता, करानेवाला भी होता है। इसलिए तुम्हारी

जमीन कहीं जा नहीं सकती। वह तुमको मिलेगी, फिर मिलेगी।"

अब देवकी उठकर खड़ी हो गई और बोली—"बस दादा, इतने आदमियों के बीच में इन दोनों ने जो बात कही है, वह हमको मंजूर है। अब एक कागज में आज के दिन की यह सारी बातें लिख ली जायँ और इन दोनों का निशानी अँगूठा उसमें करा लिया जाय, तो इनको खेत जोतने को देने में हमें कोई आपत्ति न होगी।"

इसी समय लछमन बोल उठा—"अब इस मौके पर हमारे साथ अन्याय हो रहा है, दादा। उसका भी फ़ैसला हो जाना चाहिए। एक खेत जो हमने मेहनत से जोतकर तैयार किया है, उसमें हमारा पसीना गिरा है, खून सूखा है। कितनी उम्मीद से हमने उसे तैयार किया है! इसलिए इस फ़सल पर तो उसको बो लेने की छूट हमको मिलनी ही चाहिए। दादा, हम भी आपके चरनों के सेवक हैं—गुलाम हैं आपके। आपका दिया खाते हैं। हमारा भी कुछ प्रतिपाल करो।"

इतने में उजियारे उठकर खड़ा हो गया—"दादा, अब झगड़े को खतम ही कर देव। अरे अँधियारे, अब इस फसल में इसको बोय लेने देव! मालिक जब इतने दयालु हैं, तब देवकी दीदी की बात भी रहनी चाहिए।"

उसका इतना कहना था कि अँधियारे बोल उठा—"अच्छा दादा, लछिमन को इस फसल को बो लेने देना हमको मंजूर है।"

अब अँधियारे के इतना कहते ही देवकी बोल उठी—"पर दादा, वह लिखा-पढ़ी का काम तो छूटा ही जाता है।"

तब केदारबाबू उठ बैठे और छड़ी टेकते हुए बोले—"अब इतनी बातों के बाद लिखा-पढ़ी की जरूरत मेरी समझ में नहीं रह गई। हमको कभी यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य अगर आपस में विश्वास करना छोड़ देगा, तो यह धरती एक दिन श्मशान बन जायगी! मुझे पूरा विश्वास है, ये लोग अपने वचन का पालन करेंगे।"

तभी उजियारे और अँधियारे दोनों बोल उठे—"करेंगे दादा, बराबर करेंगे।"

इतने में जमुनाप्रसाद खड़े हो गये। बदन में मिरजई अँगरखी, सो भी फटी हुई, धोती मारकीन की मैली-कुचैली। निचले होंठ में तम्बाकू भरे हुए, सिर पर भूसे के दो-चार तिनके। दायें हाथ के अँगूठे में तपकती बिसहरी के कारण बेहाल थे बेचारे। कान दोनों बहरे पड़ गये थे, इसलिए किसी तरह संकेतों से कामतापंडित ने उनको इतना बतला दिया था कि दादा अपनी ज़मीन फिर उन्हीं असामियों को देना चाहते हैं, जो झगड़ा फसाद करने पर आमादा हो गये थे। इसलिए अब जमुनाप्रसाद बोल उठे—"देखो भाई, हम गँवार आदमी ठहरे। भूल-चूक हो जाय तो माफ़ करना। दादा तो ठहरे धर्मात्मा पुरुष। वे जो चाहें सो कर सकते हैं। पर चना एक होता है, लेकिन उसमें दिउल दो होते है। दादा चना के रूप हैं, मानता हूँ। पर सवाल यह है कि दिउल तो उसमें दो हैं ही। अगर कभी दोनों दिउल अलग हो गये, तब उनके आज के फैसले की क्या गति होगी? सो हाथ जोड़कर मैं उनसे यह पूछना चाहता हूँ कि क्या उन्होंने जमीन के मामले में कैलास चाचा से सलाह-बात कर ली है?"

जमुनाप्रसाद की इस बात पर उपस्थित लोगों में हलचल मच गई गोकुलसुकुल बोले—"वाह जमुना भैया, कैसी दो टूक बात कही है कि तबियत खुस हो गई।" और मुखिया सुरजनसिंह ने जमुनाप्रसाद की पीठ ठोंकते हुए कह दिया—"मैं तो तुमको बहुत सीधा-सादा बिल्कुल भोलानाथ समझे बैठा था जमुना, मगर वाह! तुमने तो हमारी नाक रख ली।" और फिर एक बार खाँस-खूँसकर केदारबाबू की ओर मुंह करके, उन्होंने पूछा—"हाँ धर्मावतार, हम लोग जमुना की बात का उत्तर चाहते हैं।"

तब केदारबाबू उठकर खड़े हो गये। बोले—"बात तो जमुना भाई, तुमने बहुत दिमाग़ खरोचकर निकाली है। मगर 'एक चना के दो दिउल'

की वात एक हमारे ही ऊपर लागू नहीं होती। ऐसे दो दिउल उन सभी घरों में हैं जो यहाँ मुस्करा-मुस्कराकर वाल की खाल निकालने में रस ले रहे हैं। फिर सिर्फ़ ज़मीन-जायदाद के विषय में ही यह वात क्यों लागू हो? गृहस्थ आदमी स्वयं एक चने के समान होता है। होता है कि नहीं ठाकुर साहव?"

मुखिया विचार में पड़ गये थे। अतः जव कुछ भी जवाव न वन पड़ा तो सिर हिलाकर उन्हें वोलना ही पड़ा—होता है दादा। कैसे कह दूँ कि नहीं होता।"

तव अन्त में केदारवावू ने कह दिया—"तो जमुना भाई, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर यह है कि अभी तक तो मैं, मय अपने सारे परिवार के, एक चना ही वना हुआ हूँ। जो मैं कहता हूँ, होता वही है। पर कल की वात मैं नहीं कह सकता।"

तव ठाकुर सुरजनसिंह वोले—"दादा, तव तो यह फ़ैसला अधूरा है।"

और केदारवावू के मुँह से निकल गया—"मेरी ओर से विल्कुल पूरा है। मैं जो वात कह चुका हूँ, उसे पत्थर की लकीर समझ लो ठाकुर साहव!"

तव और सभी लोग तो उठ-उठकर चल दिये, पर उजियारे और अँधियारे दोनों केदारवावू के पैरों पर गिर पड़े।

---

: २८ :

एकाएक पलंग से उठती हुई कुछ आश्चर्य के साथ मुन्नी की माँ ने कह दिया—"अरे सचमुच रन्नो आ गई !,'

हाथ जोड़े, प्रसन्नमुख वीणा वोली—"नमस्ते मौसी ।" फिर 'आना कैसे हुआ' जैसे इस वात को स्पष्ट करने के लिए ही उसने कह दिया—"यहाँ के गवर्नमेंट-गर्ल्स-कालेज में नियुक्ति हो गई है ।"

वीणा की कमनीय देह-यष्टि और नलिन-विलोचन मुख को देखकर शंकर ठगा-सा रह गया। फिर पुलकित मन-प्राण से वोल उठा—"कितने से प्रारम्भ किया, डेढ़ सौ से ?"

वीणा ने मुस्कराते-मुस्कराते उस डेढ़ सौ के भी टुकड़े करते हुए जवाब दिया—"हाँ, १२०+३० ।"

शंकर हाथ वढ़ाकर वोला—"देखूँ नियुक्ति-पत्र ?"

वीणा ने अपना लेदर वैग खोला और फिर उसमें से एक टाइप किया हुआ पत्र निकालकर शंकर को दे दिया।

शंकर ने जव उसे देखा, तो अपनी प्रसन्नता छिपा न सका। माँ की ओर दृष्टि डालता हुआ वोल उठा—"वाह ! अम्मा, देखा तुमने ! ये हैं लड़कियाँ हमारे आज के हिन्दुस्तान की। कल धूल में उघारी खेलती थीं, आज हमारे सम्मुख कर्मभूमि में डटकर खड़ी हो गईं। एक ज़माना था कि उनको पढ़ाने में माताओं को आपत्ति होती थी और लड़कियाँ भी वेचारी घरों की चहारदीवारी के अन्दर वन्द रहकर किसी तरह जीवन काट दिया करती थीं ! अव स्थिति यह है कि कल वी०ए० आनर्स किया, आज अपने पैरों सामने आ डटीं, माता-पिता न करें विवाह, वला से !"

शंकर के इस कथन से वीणा कुछ संकोच में पड़ गई, कुछ आश्चर्य भी उसे हुआ कि वे ऐसी बात कह कैसे सके !

मुन्नी की माँ ने कह दिया—"आते देर नहीं हुई और तूने रन्नो को बनाना शुरू कर दिया। ये हैं हिन्दुस्तान की लड़कियाँ ! जैसे रन्नो ने कोई बड़ा तीर मार दिया हो, कोई ऐसा काम किया हो, जिससे सहज ही देश-विदेश में उसकी चर्चा होने लगी हो ! घर छोड़कर बेचारी परदेस में नौकरी करने आ पहुँची है; फिर भी देर नहीं हुई, तूने कहना शुरू कर दिया—बेटा, चढ़ जा सूली पर ?"

वीणा अपना सामान ठीक तरह से रखने में लगी थी, फिर भी मौसी की बात पर हँस पड़ी।

शंकर ने अब विष्णु से कह दिया—"अरे वह धूपबत्ती की लाल-लाल जो आधारिका है, कहाँ गई ? अभी तो यहाँ रखी थी। तुम लोग ठीक तरह से कभी कोई चीज़ रख ही नहीं सकते। दैनिक उपयोग में आने वाली आतिथ्य-सत्कार की दो-चार चीजें हैं भी, तो समय पर उनको खोजे बिना काम ही नहीं चलता ! लो, अब इधर-उधर झाँक रहा है ! अरे सामने तो रखी है वह, अलमारी में।"

विष्णु ने धूपबत्ती की आधारिका को उठाकर शंकर के टेबिल के पास वाले ऊँचे-पूरे स्टूल पर जमा दिया। अब उसको धूपबत्ती को सुलगाने की जो आवश्यकता हुई, तो फिर मैच-बाक्स इधर-उधर खोजने लगा। शंकर बोल उठा—"लो, छुट्टी हो गई। अरे, मैं कहता हूँ कि अलमारी के भीतर सिगरेट-पैकेट के ठीक ऊपर रखी हुई है। कैसे समझाऊँ तुमको भैया कि हर चीज़ अपनी जात-बिरादरी के पास रहनी चाहिए।"

वीणा इस बात पर शंकर की ओर देखकर रह गई।

इतने में मुन्नी की माँ एक प्लेट में नमकीन और दूसरे में मिठाइयाँ ले आई।

शंकर वीणा की ओर देखकर मुस्कराता हुआ बोल उठा—"फ़र्स्ट

क्लास पाया होगा, क्यों ?"

तभी वीणा ने तपाक से कह दिया—"तुम्हारी कृपा से !" और होठ दबा लिये ताकि मुस्कराट भी प्रकट न हो।

तब पलँग पर बैठती हुई मुन्नी की माँ बोलीं—"क्या ज़माना है ! एक ये आज की लड़कियाँ हैं और एक मैं हूँ !" और इतना कहकर वे हँस पड़ीं। फिर बोलीं—"रन्नो बिटिया, सचमुच मुझे बड़ी खुशी हुई। तेरा भाई माया तो थोड़ा-बहुत पढ़ के डाकखाने में अपने-आप कलम घिसने लगा। लेकिन तूने खूब जोर बाँधा।···नौकरी सरकारी है न ?"

वीणा गर्वान्वित अनुभव करती हुई हँस पड़ी। बोली—"मौसी, अम्मा ने इस नौकरी का बड़ा विरोध किया था। मगर मैंने जब आश्वासन दिया कि कहीं दूसरी जगह नहीं जा रही हूँ। शंकर भैया के पास रहूँगी। सुना है, उन्होंने एक बहुत बड़ी कोठी ले रखी हैं। मैं भी तब अपने मन की लहर को न रोक सकी।"

"देखा अम्मा ! पगली कैसे बातें करने लगी ?" शंकर बोल उठा—"कहती है 'मन की लहर को न रोक सकी।' कहाँ है तेरे मन की लहर, ज़रा मैं उसे देखूँ तो सही।" कथन के साथ-साथ शंकर तो हँसने लगा, पर वीणा के सारे तार जैसे आप-से-आप झनझना उठे ? तब वह बोली—"मौसी, मैं तुमको ज़रा भी तंग नहीं करूँगी। सवेरे तो नित्यक्रिया और तुम्हारी सेवा में ही लगी रहूँगी। हाँ, कालिज से छुट्टी पाकर सायंकाल अलबत्ता कभी दस-पाँच मिनट कभी घंटा-आध-घंटा शंकर भैया का वक्त खराब करने आ जाया करूँगी। मौसी मैंने सोचा तो बहुत-कुछ था, लेकिन मनुष्य का सोचा हुआ सभी कुछ तो कभी पूरा होता नहीं। यहीं कहीं किसी कोने-आँतर में पड़ी रहूँगी !"

बात पूरी करते-करते वीणा का कण्ठ भर आया। फिर वह कहने लगी—"जितने दिन जीना है, उतने दिन किसी-न-किसी तरह कट ही जायँगे !···अरे शंकर भैया ! अभी मौसी सोच-विचार में थीं, अब तुम

गम्भीर हो उठे। अकस्मात् मेरा आज आना, जान पड़ता है, तुमको अच्छा नहीं लगा। क्यों ?"

मुन्नी की माँ इसी समय बोल उठी—"पानी तो पी ले पहले रन्नो बिटिया। मुन्नी आखिर तो तेरा भाई ही है। बहिन के आने पर भला उसको बुरा लग सकता है। बिना सोचे-समझे जो चाहती है सो बक डालती है। अभी तक तेरा लड़कपन नहीं गया।"

अब वीणा मिठाई खाती-खाती मुस्करा उठी। कदाचित् अपने इस साहस पर कि मैं भी क्यों न जवाब देती चलूँ ?

इतने में मटरू ट्रे में चाय लेकर आ पहुँचा। विष्णु ने झट एक प्याला वीणा के सामने रख दिया। वीणा हाथ में जग लेकर चाय बनाने लगी। पहला कप उसने शंकर के सामने रख दिया। शंकर उसकी ओर देखकर थोड़ा मुस्कराया, फिर गंभीर होते हुए बोला—"वैसे तो मैं चाय पी चुका हूँ। मगर यही सोचता हूँ कि अब तक तो मैंने तेरे हाथ की चाय लेने में कभी आपत्ति की नहीं।"

तब भावुकता में आकर वीणा बोल उठी—"अब मैं बहुत सयानी हो चुकी हूँ; तुम्हारी आँखों में खटकने लगी हूँ ! इसलिए मेरी बनाई हुई चाय में आपत्ति तुमको ज़रूर होगी, यह मैं जानती हूँ।...जब मैं घर से चलकर ताँगे में बैठी, उसी समय एक अपशकुन हुआ था।"

"हाय राम ! अपशकुन !" मुन्नी की माँ बोल उठीं—'अपशकुन हुआ तो उसी समय तू घर से चल ही क्यों दी ? लौट क्यों नहीं गई ? आज न आती, कल ही चली आती। तुम सब लोग एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हो ! देखती हूँ, मुन्नी को भी शकुन-अपशकुन का कोई ख्याल नहीं रहता।"

मौसी के 'एक ही थैली के चट्टे-बट्टे' शब्दों पर वीणा फिर अटक गई—'सत्य भला कहीं संदूक में बन्द करके रखा जा सकता है !'

शंकर, जो अब तक गम्भीर था, खिलखिलाकर हँस पड़ा। बोला—

"गुड। यह तुमने वहुत अच्छा किया, रन्नो। अच्छा ज़रा मैं भी सुनूँ, वह अपशकुन क्या हुआ ?"

वीणा दाँत से मठरी का ,एक कोना काटती हुई वोली—"जैसे ही हमारा ताँगा चलने लगा, वैसे ही पीछे से किसी ने छींक दिया।

अव मुन्नी की माँ हँस पड़ी, वोली—"पगली कहीं की ! अरी पीछे की छींक तो शुभ होती है !"

इसी क्षण शंकर वोल उठा—"हाँ रन्नो, यह वात तो विल्कुल ठीक हैं। हमने भी ऐसा ही सुना है।"

इतने में विष्णु आकर सामने खड़ा हो गया और वोला—"लो दद्दा, आज का दिन, जान पड़ता है, मेहमानों के स्वागत के लिए ही वना है। एक साहव और चले आ रहे हैं।"

शंकर ने सिर घुमाकर संकेत से कह दिया—"देख तो सही, हैं कौन ?"

विष्णु ने उत्तर दिया—ड्राइंग रूम में वैठे हैं।"

शंकर उठकर चला गया। फिर उन्हीं पैरों लौटते हुए वोल उठा—"अरे वही अपना निष्काम है अम्मा।"

वीणा अपने प्याले को होठों से लगाये हुए थी। अव उसे टेविल पर रखने लगी तो शंकर ने टोक दिया—"अरे हाँ-हाँ, यह लो, काग़ज़ नीचे रख लो। वी. ए. आनर्स कर लिया और सिविक-सेन्स अव भी ज़ीरो वना है, गोवरगनेश कहीं की !"

फुल्ल-सुमन-सी खिलकर वीणा वोल उठी—"देखा मौसी, भैया की डाँट भी कैसी प्यारी होती है ?...अच्छा शंकर भैया, यह अपना निष्काम कौन है ?"

"अरे वही निष्कामेश्वर अपना एक मित्र, जिसके आने पर माया ने अपनी सभ्यता का सुन्दर परिचय दे डाला था। वड़ा ही दिलचस्प है वीणा। मिलोगी, तो तुम कहोगी कि मनुष्य है या देवता। वुलाऊँ यहाँ ?"

वीणा जैसे दो-एक तार झनझनाती हुई बोल उठी—"ऐसी जल्दी क्या है ? आई हूँ तो तुम्हारे मित्रों से बचकर भला कैसे रहूँगी ?"

शंकर चुस्की लेता हुआ बोला—"अच्छा अम्मा, जैसे शुभ मुहूर्त में यह रन्नो आई है, अगर कहीं वैसे ही शुभ मुहूर्त में यह निष्काम भी आ टपका हो तब तो बेड़ा पार है !"

अब सशंकित वीणा संकुचित हो उठी। प्रासंगिक विषय में तो कुछ न बोली, पर फिर कुछ सोचती हुई कहने लगी—"शंकर भैया, दूसरा कप भी बनाऊँ तुम्हारे लिए !"

"नहीं, नहीं" कहकर वह कलई पर बँधी घड़ी की ओर देखने लगा।

मुन्नी की माँ बोली—"रन्नो, तो फिर खाना आज मैं बनाये लेती हूँ। तू हारी-थकी आई है। कहेगी कि आते देर नहीं हुई और मुझे चौके-चूल्हे में जोत दिया !"

वीणा ने अपना प्याला समाप्त करते हुए उत्तर दिया—"नहीं मौसी, ऐसी क्या बात है ? मुझको तैयार होने में देर कितनी लगती है !"

शंकर इतने में कहने लगा—"नहीं-नहीं, आज नहीं। ऐसा ही है, तो फिर शाम को बनाना। अभी चाय पी रही है। अभी तुरत नहाने चली जायगी, जुकाम नहीं हो जायगा !" और फिर माँ को लक्ष्य कर बोला—"अम्मा देखो, साढ़े सात बज गये। फिर तुम यह न कहना कि अभी दाल तो पकी ही नहीं··· मगर कोई चिन्ता की बात नहीं। आज अगर मुझे देर हो जायगी, तो कोई बात नहीं। कल से तो मैं निश्चिन्त रहूँगा।"

मुन्नी की माँ फिर सोच में पड़ गई।

शंकर बोला—"रन्नो, कम एलांग।"

मुन्नी की माँ अन्दर चली गई। शंकर वीणा को निष्काम के पास ले जाकर बोला—"देखो निष्काम, यह मेरी मौसेरी बहन वीणा है और आज ही, बल्कि इसी समय इलाहाबाद से आ रही है। राजकीय कन्या-माध्यमिक-विद्यालय में हिन्दी की अध्यापिका होकर। इसने फ़र्स्ट डिवीज़न

में बी० ए० ग्रानर्स किया है।"

निष्काम एक बार वीणा की ग्रोर दृष्टिपात कर हाथ जोड़ता हुग्रा बोला—"नमस्ते!" ग्रौर तभी शंकर ने निष्काम का परिचय देते हुए कह दिया—"इनका विस्तृत परिचय तो धीरे-धीरे मिलेगा। संक्षिप्त यह है कि ये कवि हैं वास्तविक, पेशेवर नहीं।"

वीणा अपनी मुस्कराहट न रोक सकी ग्रौर तत्काल उसने कुर्सी ग्रहण करते हुए कह दिया—"शंकर भैया, पेशेवर कवि से ग्रापका क्या मतलब है?"

शंकर अपनी रिवाल्विंग कुर्सी पर बैठते हुए बोला—"रन्नो,···ग्रोः माफ़ करना निष्काम! वीणा का प्यार का नाम रन्नो है।···हाँ, पेशेवर कवि मैं उनको समझता हूँ, जिनकी जीविका केवल कविता-पाठ से चलती है। वे हर कवि-सम्मेलन में जायँगे। किराया पेशगी मँगा लेंगे। किराये की रक़म होगी फ़र्स्ट क्लास की, मगर ग्रामदनी के विचार से प्रायः तीसरे दर्जे में यात्रा करेंगे ग्रौर जब निश्चित स्थान का स्टेशन निकट ग्रा जायगा, तो दो-एक स्टेशन पूर्व सेकण्ड क्लास के डब्बे में जा बैठेंगे। ग्रौर इसके लिए पहले से टी० टी० ग्राई० से मिल-मिलाकर ऐक्स्ट्रा चार्जेज़ देकर नया टिकट भी बनवा लेंगे, ताकि ग्रभ्यर्थना-समिति के लोगों को यह न मालूम हो सके कि ग्रापने ग्रपनी निन्यानवे फ़ीसदी यात्रा तीसरे दर्जे में की है। ग्रामदनी नम्बर एक।"

ग्रब वीणा मुस्कराती हुई बोली—"ग्रब ग्रामदनी नम्बर दो बताइए।"

शंकर ने उत्तर दिया—"कवि-सम्मेलन की स्वागत-समिति के ग्रधि-कारियों से मिल-मिलाकर वे यह जानने की चेष्टा करेंगे कि सबसे ग्रधिक रुपया किसको दिया जानेवाला है! ऐसे ग्रवसर पर जब उन्हें मालूम होगा कि ग्रमुक कवि को इतना रुपया दिया गया है ग्रौर इतना ग्रौर दिया जायगा, तब ग्राप ग्रपनी पुरस्कार की रक़म बढ़वाने के लिए मंच पर

ही लड़ाई करने में हिचकिचायेंगे नहीं। बल्कि स्पष्ट कह देंगे कि जब तक मुझे भी इतना ही रुपया नहीं मिलेगा, तब तक मैं कविता नहीं पढ़ूँगा।"

निष्काम अब तक चुपचाप बैठा हुआ था। अब वह बोल उठा—"देखो शंकर, बहुत बहको मत, आमदनी बढ़ाने के लिए तुम्हारा वर्ग—मैं तुम्हारी बात नहीं कह रहा हूँ—अगर घूँसखोरी कर सकता है, जिसे मैं आज की सभ्यता का एक कलंक मानता हूँ, तो कवि भी अगर जीवन-संघर्ष में पड़कर अपनी आय बढ़ाने की चेष्टा करे; तो इसमें हँसने की क्या बात है ?" और वीणा की ओर उन्मुख होकर बोला—"हाँ वीणाजी, आपका इस विषय में क्या मत है ?"

इतने में शंकर ने निष्काम की ओर देखते-देखते तर्जनी से दायें कान पर तीन-चार चक्कर लगाकर अन्दर जाने का भाव प्रकट करते हुए कह दिया—"बस बस मैं अभी आया, दस मिनट के भीतर। खाना तो तुम यहीं खाओगे न ?"

निष्काम ने सिर हिलाकर कह दिया—"नहीं, उस दिन की बात दूसरी थी। आज तो भाभीजी परम प्रसन्न हैं। कवि-सम्मेलन से सौ रुपये लाया था, पच्चीस एक सज्जन को देने थे, उसके बाद पछहत्तर रुपये जो बचे, उनमें से साठ मैंने उन्हें दे दिये। अब महीने भर चैन की वंशी बजाऊँगा। समय पर खाना मिलना तो एक साधारण बात है।"

शंकर इस बात का छोर-भर सुन पाया था, क्योंकि तुरन्त वह अन्दर चला गया। वीणा सोचती रह गई—'इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जब कभी आमदनी का कोई साधन नहीं होता, तब इस कवि को भोजनों के भी लाले पड़ जाते हैं ! और इसी दयनीय स्थिति का यह बड़े लोग मज़ाक उड़ाया करते हैं ! पीड़ित मानवता का यह उपहास आज की सभ्यता पर बड़ा ही कुटिल और अपरूप व्यंग्य है ! और उस समय तो यह प्रवृत्ति और भी अधिक प्राणपीड़क हो उठती है, जब पढ़े-लिखे और शिक्षित अधिकारी-जन इन बातों में रस ले-लेकर गर्वान्वित होते हैं !'

वस्तुस्थिति के इस अध्ययन के साथ-साथ अब वीणा यह भी सोचने लगी—'जान पड़ता है, अभी तक अविवाहित हैं। जीवन का हरा-भरा सुरभित और मधुर रूप इन्होंने देख नहीं पाया। मर्मस्पर्श के स्पंदन जीवन को कितना तरंगित कर दिया करते हैं! पर यौवन-विटप के वृन्त-वृन्त पर उड़-उड़कर, यष्टि-यष्टि पर बैठ-बैठकर, सुमन-सुमन को लहरा-लहराकर, इन्होंने कभी अपना भ्रमर-मन भी न टटोल पाया होगा। सरिता की अबाध जलधारा पर तैरते हुए जो व्यक्ति कभी इस पार से उस पार नहीं गया, वह जीवन को पूर्ण रूप से व्यक्त ही कैसे कर सकता है!' फिर निष्काम की ओर एक उचटी हुई दृष्टि डालकर वीणा बोली—"क्षमा कीजिएगा, आपने निर्वाह का कोई अन्य साधन अपनाने की चेष्टा क्यों नहीं की?"

निष्काम एक शीतल निश्वास लेकर बोल उठा—"निर्वाह के साधन? हः हः! यह आपने खूब कहा वीणाजी। कवि का जीवन कैसा होता है, आपको कुछ नहीं ज्ञात। निर्वाह के साधन आज के युग में तो उसीको मिलते हैं जो मुख पर मिथ्या प्रशंसा कर सकता है, समाज में जो भी धनी-मानी मर्यादाशील बड़े लोग, पदाधिकारी, व्यापारी, वकील, डाक्टर, प्रिंसिपल और ऐसी ही बड़ी-बड़ी कुर्सियों पर आसीन हैं, निरन्तर उनके साथ रह कर उनकी घर-गृहस्थी के तात्कालिक कार्य करके, उनके बच्चों का—समय समय पर—मनोरंजन करके, विवाहादि, उपनयनादि संस्कारों के अवसर पर उनकी प्रशंसा के गीत गा-गाकर, जो लोग अपने जीवन-निर्वाह का साधन जुटा लेते हैं, वे सद्गृहस्थ हो सकते हैं। काट-कपट विश्वास-घात करके, चोरी-छिपे रक़म उड़ाकर अथवा तिकड़म से, लूट-खसोट में सफल होकर, वे कालान्तर में व्यापारी और धनाधीश भी बन सकते हैं। वे मकान बनवा सकते हैं, कार रख सकते हैं, कारखानों और फैक्टरियों के स्वामी भी बन सकते हैं। और स्पष्ट कथन के लिए यदि मुझे क्षमा किया जाय, तो अवसर आने पर, वे हमारे समाज के ही नहीं, राजनीतिक क्षेत्र के सफल अग्रगण्य नेता भी बन सकते हैं। पर कवि?...नहीं-नहीं...ऐसे

व्यक्ति कवि कभी नहीं हो सकते !"

जीवन में यह प्रथम अवसर था, जब वीणा ने देखा कि एक अति साधारण वेश-भूषा का मानव अपने हृदय के एकान्त क्रोड़ में ऐसी भीषण ज्वाला छिपाये बैठा है ! आज उसे प्रतीत हुआ कि एक सच्चा कवि कैसा यथार्थदर्शी, जीवन का अन्यतम व्याख्याता और उदारचेता आलोचक होता है।

अब वीणा स्तम्भित हो उठी और बोली—"आपके विचार सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। क्या आपकी कविताओं का कोई संग्रह भी प्रकाशित हुआ है ?"

तब निष्काम ने टेबल पर रखी हुई पेंसिल हाथ में लेकर सामने रखे आज के दैनिक पत्र पर एक त्रिभुज बनाते हुए उत्तर दिया—"कविता-संग्रह तो दो प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें से दूसरा अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है। किसी दिन उसकी एक प्रति ले आऊँगा। आप पढ़ना चाहेंगी, तो आपकी भेंट भी करूँगा।"

इतने में शंकर नहा-धोकर अपनी कुर्सी पर आ बैठा और गर्दन पर छिड़के हुए पाउडर का मन्द-मन्द सौरभ अनुभव कर मुस्कराता हुआ निष्काम से पूछने लगा—"क्यों खुशबू आ रही है न ?"

निष्काम बोल उठा—"अरे साहब, एक खुशबू ही क्यों, मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि पूरा कन्नौज ही मेरे पास आ बैठा है !"

निष्काम का इतना कहना था कि वीणा अपनी हँसी न रोक सकी। ग्रीवा में लपेटे हुए रूमाल को होठों पर लगाकर फिर उसे यथास्थान स्थापित कर बोली—"वाह, क्या कविता है साहब ! आपने तो अपना हक़ अदा कर दिया !"

अब निष्काम भी हँसे बिना न रह सका। शंकर उठकर खड़ा हो गया। बोला—"चलो रन्नो, हम लोग खाना खा लें। चलो, निष्काम भाई, तुम भी चलो।"

निष्काम ने उत्तर दिया—"देखो भाई, मैं तो ठहरा निष्काम, खाना

तभी खाता हूँ जब मुझे खाने की आवश्यकता होती है। इसलिए मुझको तो आप क्षमा कीजिए। बन्दा तो यह चला।...हाँ, मुझे तुमसे कहना यह था कि मैं अब तीन-चार दिन के लिए बाहर जा रहा हूँ। किस काम से, यह अभी नहीं, फिर कभी या तो मैं स्वयं बताऊँगा या फिर मेरा काम ही बतला देगा।"

शंकर आश्चर्य में पड़कर एक झटके के साथ बोला—"क्या मतलब ?"

निष्काम ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"मतलब यह है कि मैं कविता को अब पेशा बनाने के लिए तैयार नहीं हूँ..." और फिर तत्कालीन गंभीर वाणी में बोला—"किसी प्रकार। और अब मैं आपसे तभी मिलूँगा जब किसी लकड़ी या बेंत की कुर्सी पर बैठ जाऊँगा।"

"इस घोषणा के लिए मैं तुमको पेशगी बधाई देता हूँ !" कहते हुए शंकर वीणा के बायें कन्धे का स्पर्श कर बोला—"चलो रन्नो !"

निष्काम जब उस कोठी से बाहर निकलने लगा तो वह अपने-आपसे पूछ रहा था—'क्या मेरी प्रतिज्ञा पूरी न होगी ?'

इतने में उसने देखा, एक रिक्शा सामने खड़ा है। निष्काम ने पूछा—"सिविल लाइन्स चलोगे ?"

"चलूँगा साहब, क्यों नहीं चलूँगा ! मगर वहाँ कहाँ जायँगे आप ?"

निष्काम बोला—"कचहरी के आगे सहादतगंज की तरफ, जो एक बंगाली रेस्तोराँ है, बस वहीं।"

रिक्शेवाले ने उत्तर दिया—"जहाँ नारियल वाले काम करते हैं ?"

निष्काम बोला—"हाँ-हाँ, वहीं, वकील साहब की कोठी के पास।"

तब रिक्शावाला बोला—"आइए, बैठिए।"

निष्काम जब रिक्शे पर बैठा, तब वह सोच रहा था—'आज का प्रातःकाल, जान पड़ता है, मुझसे कुछ कह रहा है।'

रिक्शा चला जा रहा था।

---

## : २६ :

प्रात:काल होते ही उजियारे और अँधियारे केदारबाबू के दरवाज़े पर आकर, छप्पर के नीचे खम्भे से लगकर बैठने लगे तो अँधियारे को ऐसा जान पड़ा कि दोनों को साथ बैठने में पूरा आराम नहीं मिलेगा। इसलिए अँधियारे पश्चिमी दीवार से लगकर बैठ गया। इतने में केदारबाबू मकान से निकलकर दरवाज़े के बाईं ओरवाले चौपाल पर बैठकर दातुन करने लगे। तब उजियारे और अँधियारे दोनों ने क्रम-क्रम से कह दिया—"दादा, पा-लागन।"

केदारबाबू बोल उठे—"आ गये उजियारे? खुश रहो।"

उजियारे बोला—"हाँ मालिक! मैंने सोचा कि आप चले जायेंगे, इसलिए चलो दरसन ही कर लें!"

और अँधियारे बोला—"मालिक इन खेतों में अब क्या बोया जायगा?"

केदारबाबू दातुन कर चुके तो उन्होंने कूची नीचे फेंक दी और बोल उठे—"ये सब काम मैंने देवकी पर छोड़ दिये हैं, उसीसे पूछो। हम तो इसलिए चले आये कि तुम लोग झगड़ा करने पर आमादा हो गये।"

अब उजियारे अपने सिर के गमछे को खोलकर कंधे पर डालता हुआ बोला—"मालिक, हमारी क्या बिसात कि हम झगड़ा करें और मान लो करें भी तो आपसे! अरे राम कहो दादा, यह तो सब कहने की बातें हैं।"

मगर केदारबाबू कहते चले गये—"देखो उजियारे, वैसे झगड़ा तो मैं पसन्द नहीं करता। इसलिए नहीं कि झगड़ा करना कोई पाप है। जब दो पक्षों में से एक कुछ प्रबल पड़ता है और दूसरे पक्ष की बातों पर कोई ध्यान नहीं देता, तब जो पक्ष निर्बल होता है, उसे अपनी रक्षा करने के लिए

जाति-बिरादरी को मिला-जुलाकर झगड़ा करने को मजबूर होना पड़ता है, मानता हूँ। लेकिन झगड़ा करने में सबसे बड़ी बुराई यह है कि दोनों पक्षों की ताक़त कमज़ोर पड़ जाती है, समय नष्ट होता है, अशान्ति पैदा हो जाती है और खर्चा भी पड़ ही जाता है।"

"हाँ दादा, फिर खर्चा तो पड़ ही जाता है। हमारी तो अक्किल गुम थी कि हम कहाँ से लायेंगे पैसा ? अब ज़्यादा क्या कहें आपसे, आप तो सब जानते हैं।"

तब तक केदारबाबू की बात और आगे बढ़ चुकी थी और वे कह रहे थे—"हमारे यहाँ पहले अँग्रेज़ राज्य करते थे, तब हिन्दुस्तान की दो बड़ी जातियों को आपस में लड़ा देने में राज करने वाली जाति का कुछ हित भी था; लेकिन अब हमारे देश में किसी एक आदमी का राज नहीं। सच पूछो तो राज है प्रजा का, जनता का, तुम लोगों का, जो अपने चुने हुए आदमियों को प्रबन्ध करने वाली सभाओं को भेजते हो। फिर वे चुने हुए आदमी अपने में से कुछ व्यक्तियों को चुनकर हुकूमत करनेवाले पदों पर बैठाल देते हैं। इस प्रकार शान्ति के साथ राज-काज चलता रहता है। इस शान्ति का पाठ पढ़ाया हमारे गुरु महात्मा गांधी ने और हम सब लोग उनके चरण-चिह्नों पर चलकर संसार के आगे अपने देश का मत्था सदा ऊँचा रखना चाहते हैं। ये लड़ाइयाँ, फौजदारी, बहुत बुरी चीज़ें हैं; हमको इनसे बचना चाहिए।"

इतने में एक कौआ सामने नीम के वृक्ष की डाल पर आकर काँव-काँव करने लगा और अँधियारे बोल उठा—"मालिक कैसे बचें ! जब जान बचे तब न ! हमने सोचा, जब भूखों ही मरना है तब लड़ के ही क्यों न मर जायँ !"

केदारबाबू अब हँस पड़े। बोले—"यह बात सोचने में तो वीरता की जान पड़ती है, लेकिन लड़ाई तो शत्रु से की जाती है। सगों से लड़ाई करने में शोभा नहीं है। तुमने बिना सोचे-समझे, बिना आगा-पीछा देखे

लड़ाई ठान ली और यह नहीं देखा कि तुम्हारी ही तरह अगर हमको भी ताव आ जाता, तो आज तुम्हारी क्या हालत होती ! और हम भी कितनी परेशानी में पड़ जाते ! तुम समझते हो, तुम्हारे ही खून में गरमी है और मैं अव बिल्कुल ठण्डा पड़ गया हूँ, निकम्मा हो गया हूँ ! अगर तुम ऐसा सोचते हो तो यह तुम्हारी ग़लती है। तुमको शायद यह नहीं मालूम कि जिसके वदन में ताक़त कम होती है उसीको क्रोध अधिक आता है। मनुष्य का सबसे वड़ा वल संयम है, जो इच्छाओं के दमन से पैदा होता है, बुराइयों को जीतने से वढ़ता और भलाइयों को अपनाने से स्थिर रहता और वढ़ता है।"

अव उजियारे और अँधियारे दोनों उठकर केदारवावू के पैरों पर गिर पड़े और वोले—"मालिक हमसे वड़ी भूल हुई। आप हमको क्षमा करो। अव जैसा-जैसा आप कहोगे, वैसा-वैसा हम करेंगे और ज़िन्दगी-भर आपका जस गायेंगे।"

केदारवावू ने दोनों को उठा लिया और कहा—"अव हमको तुमसे कोई शिकायत नहीं है। जाओ, अपना काम देखो। मगर देखो, देवकी को कभी नाराज़ मत करना, उसकी कोई वात मत टालना।"

उजियारे वोला—"मालिक हमारी ज़वान कतर ली जाय अगर कभी अलिफ़ से वे हो जाय।"

केदारवावू हाथ-मुँह पोंछकर कुछ स्थिर हुए तो वोले—"देखो उजियारे, अभी वह ज़माना गये हुए वहुत दिन नहीं वीते, जव हमारे ही वीच में कुछ लोग तुम्हारे जैसे मेहनती सहयोगियों से वेगार लिया करते थे। हमें वे दिन भी याद हैं, जव तुम्हारा खून चूसने में वे अपनी वड़ाई और वीरता मानते थे ! अव हम तुमको कैसे वतायें कि हम उन लोगों में से नहीं हैं। हमारा यह धर्म नहीं कि हम तुमको पैर की जूती के नीचे दवाकर रखें और तुमसे समय-समय पर अनुचित लाभ उठायें। फिर तुम तो हमारे वच्चों के समान हो। ऐसी हालत में अगर हम तुमको ग़ुलाम वनाये

रखें तो इसमें हमारी कौन-सी बड़ाई है !"

इसी समय उजियारे बोल उठा—"दादा, अब हम आपको क्या बतायें कि हमारे बीच कैसे-कैसे लोग रहते हैं। भगवान् ने उनको शरीर तो गोरा दिया, कपड़ा भी वे सफेद ही पहनते हैं ! देखने में, बात करने में, बड़े उजले, मगर करम उनके दादा···अब आपसे क्या कहें···!"

"हाँ-हाँ, कहो-कहो, आज तुम्हारे मन में जो-कुछ आये सो कह डालो।"

"दादा, मैं यह कह रहा था कि काम उनके इतने काले हैं कि हम गरीब लोग उनके मारे नींद-भर सो नहीं पाते। जब उन्होंने देखा कि इसके पास दो-चार पैसे आ गये, बस उन्होंने हमारी पतंग कन्नी से काट दी। वह तो मुझको तब मालूम हुआ जब कल आपने हमारे हृदय के परदे खोल दिये !···" और इस कथन के बाद उजियारे कुछ और निकट आकर धीरे से बोला—"मालिक ! आप ही के पड़ोस में ऐसे-ऐसे लोग हैं, जिन्होंने हमको नाहक बद्दू कर दिया ! कहने लगे—'बस यही मौका है, जूझ जाओ, कट जाओ, मर जाओ। तैयार-भर हो जाओ मरने-मारने के लिए कि खेत तुम्हारे···तुम्हारे बाप के !"

उजियारे की इस बात को सुनकर केदारबाबू हँस पड़े—"हः हः हः। अरे, हम जानते हैं उजियारे, भला ये तुम्हारे काम हो सकते हैं ! हम साफ़ ही कह दें न। इस परमेश्वरी को तो जानते हो···यह आदमी इसी की कमाई खाता है। मगर उजियारे तुम इसके जाल में फँस कैसे गये ! मुझे आज बड़ा दुःख हो रहा है।"

अब अँधियारे उचककर बोल उठा—"मालिक, आप तो देवतन माँ हो। हमारे जी के भीतर की बात भी आपसे छिपी नहीं रहती। दादा, तुम हम लोगन की छठी पसनी तक जानते हो।" और इतना कहकर अँधियारे कान पकड़कर बोला—"दादा, अब अगर हमसे कभी कसूर हो, तो आप हमको कभी छिमा न करें।"

इसी क्षण देवकी आकर बोली—"अरे, फिर नाटक शुरू हो गया !"

केदारबाबू बोल उठे—"नाटक नहीं देवकी, हमको तो ऐसा जान पड़ता है कि अगर यही हालत रही तो हमारे देश को अभी भी बुरे दिन देखने होंगे ! हम तो जानते थे कि इन लोगों को किसी ने भड़का दिया है। अन्त में वही बात निकली।"

"अच्छा उजियारे, बहुत हो चुका; अब तुम जाओ, ताकि•••।" कहते-कहते बाईं ओर दो बच्चों को रोता हुआ देखकर केदारबाबू कहने लगे—"यह किसके बच्चे हैं ? ये क्यों रो रहे हैं ? हमारे बैग में जो किशमिश रखी है, इन्हें बाँट दो।•••क्या माया है भगवान् की ! अभी हमने इनको जो रोते हुए देखा तो हमें वे दिन याद हो आये जब हमें शंकर, ब्रह्मा और विष्णु को अपने आँगन में खेलते हुए देखने का अवसर भगवान् ने दिया था। शंकर तो कभी-कभी ब्रह्मा और विष्णु दोनों को चपतिया देता था। बड़ा क्रोधी स्वभाव का है। वह तो यह कहो कि मैंने ठोंक-पीटकर उसको अब किसी तरह दुरुस्त कर लिया है।"

उजियारे और अँधियारे पा-लागन करके चले गये।

देवकी भी अन्दर चली गई। केदारबाबू उसके पीछे-पीछे जाते हुए बोले—"मगर प्रभु ने मेरी कामना पूरी कर दी।"

देवकी खड़ी हो गई, मुस्कराई और बोली—"दादा, अभी कामना पूरी कहाँ हुई ! कामना बिटिया का ब्याह भी तो नहीं हुआ।"

केदारबाबू हँस पड़े, बोले—"देवकी तू बड़ी ढीठ हो गई है। शंकर अब ठीक जगह पर बैठ ही गया है। कामना का ब्याह होने में अब देर ही कितनी लगती है !"

मुस्कराहट दबाकर देवकी बोल उठी—"दादा, मैं तो यों ही कह रही थी।" उसके बाद उसने ब्रह्मा से कहा—"कटोरे में किशमिश भीग रही है। उठा तो ला बेटा।" और ध्यान आते ही उसने दादा का बैग खोलकर, उससे किशमिश निकालकर, द्वार पर रोनेवाले बच्चों को थोड़ी-थोड़ी दे दी। फिर वह तुरन्त लौटकर एक गिलास में गरम-गरम दूध केदारबाबू

के सामने रखती हुई बोली—"कितने दिनों से सजते-सजते अब तुम्हारा आना हो पाया है। मैं कल से यही सोच रही हूँ कि ऐसी कौन-सी चीज़ तुम को बनाकर खिलाऊँ कि···! अच्छी याद आई। दादा बथुआ का साग बनायें ?"

दादा हँसने लगे। बोले—"हाँ देवकी, बहुत दिनों से नहीं खाया।"

अब देवकी कलसा और बाल्टी दोनों हाथों में लेकर रस्सी को सिर के ऊपर उलझकर चल दी। तब केदारबाबू बोले—"देवकी, पानी भरने के लिए तुझे खुद बाहर जाना पड़ता है ! आज तक तूने मुझसे नहीं कहा कि घर में कुआँ नहीं है। लाज के मारे तूने तो आज मेरा सिर नीचा कर दिया ?"

देवकी घूमकर खड़ी हो गई और कुछ गंभीर होकर बोली—"दादा, मुझे तो कोई कष्ट नहीं होता। भगवान् ने ऐसा जीवन बना दिया है कि अनुभव ही नहीं होने पाता, कष्ट होता कैसा है ! मगर आज तुम्हारी इस बात को सुनकर मुझे एक बात कहनी ही पड़ गई। दादा, जो लोग नगरों में रहते हैं, जीवन का सब तरह का आनन्द और सुख भोगते हैं, एक तो देहात में कभी आते नहीं और अगर कभी आ भी गये तो एकाध दिन के लिए। दादा, क्या ऐसे कभी यह जान सकते हैं कि हमारी भीतरी समस्याएँ क्या हैं, उलझनें कैसी-कैसी हैं, और हमारे असली दुःख क्या हैं ! बुरा न मानना दादा, देहात का असली रूप वह लोग जान ही नहीं सकते, जो केवल मन-बहलाव या तबियत बदलने के लिए देहात आया करते हैं। मेरा बस चले तो मैं नेताओं से भी यह बात कहे बिना न चूकूँ कि जो लोग हमारे बीच में नहीं रहते, वे हमारा सुख-दुःख भी नहीं जान पाते और इसलिए वे हमारे सच्चे प्रतिनिधि भी नहीं हो सकते !"

अब चारपाई पर बैठते हुए केदारबाबू के मुँह से निकल गया—"देवकी, तुम ठीक कह रही हो। हमको यहाँ रहना चाहिए और समय-समय पर तो महीनों रहना चाहिए।"

पद्मा ने भीगी हुई किशमिश का कटोरा दादा के आगे रख दिया। देवकी पानी भरने चली गई और उसके पीछे पद्मा भी एक बाल्टी लेकर चल दिया।

इतने में दरवाज़े के अन्दर प्रवेश करते हुए किसी के खाँसने की आवाज़ सुनाई दी। केदारबाबू ने पूछा—"कौन?"

आवाज़ ने स्वयं अपना परिचय देते हुए कहा—"मैं हूँ गोकुल।" और इसके बाद स्वर और भी फूट पड़ा—"दादा, मैं भी हूँ, कामता।"

"आओ भाई, बैठो!·· हाँ, हाँ, यहीं चारपाई डाल लो।"

अब कामतापंडित बोले—"दादा, जबसे आपके चरण इस गाँव में पधारे हैं तब से चारों ओर आपकी ही चर्चा हो रही है। हम लोग तो कभी यह सोच ही नहीं सकते थे कि आप ऐसे अवतारी पुरुष हैं।" और तभी गोकुल ने केदारबाबू के पैर छूते हुए कहा—"दादा, बिलकुल ईमानदारी की बात कह रहा हूँ, हिरदय के भीतरी किवाड़े खोलकर कि रातभर नींद नहीं आई, पलकें तक नहीं लगीं।"

विस्मय से केदारबाबू ने पूछा—"क्यों सुकुल? ऐसी क्या बात हुई?"

गोकुलसुकुल बोल उठे—"खुशी के मारे दादा, खुशी के मारे। मुझको तो ऐसा जान पड़ता है कि अब हमारे सारे दुःख दूर हो जायेंगे।" और इसके बाद गोकुलसुकुल एकदम गम्भीर हो गये। बोले—"आपको नहीं मालूम दादा, मैं आजकल कैसे संकट में हूँ।"

कामतापंडित बोल उठे—"हाँ दादा, जब से कुन्ती मर गई, तब से सुकुल का चोला सचमुच बड़ा दुखी हो गया।"

"हाँ सुकुल, कुछ दुर्बल तो मालूम पड़ते हो···मगर यह कुन्ती···?"

कामतापंडित बोले—"दादा, कुन्ती इनकी गैया का नाम था। गाय क्या थी, हथिनी थी हथिनी! सुकुल उसको देखकर जीते थे। घर में रोटी बनती तो, और कचौड़ी बनती तो, जब कुन्ती को खिला लेते, तब खुद खाने बैठते थे। एक दिन अचानक कुछ ऐसी काली घटा आई, आँधी-

पानी के साथ काल को लेकर कि पाँच ही मिनट के अन्दर कुन्ती चल वसी !"

कामतापंडित का इतना कहना था कि गोकुलसुकुल रोने लगे।

तव आश्चर्य के साथ केदारवावू वोल उठे—"अरे सुकुल, वड़ा कमज़ोर दिल पाया है तुमने कि गाय की मृत्यु की वात उठते-उठते तुम रो पड़े!"

तव कामतापंडित वोले—"दादा, वह गाय ही ऐसी थी !"

इसी क्षण भरे हुए घड़े लेकर देवकी आ पहुँची। और केदारवावू की ओर देखती हुई वोली—"अरे दादा, तुमने दूध अभी तक नहीं पिया ?"

"पी लेंगे देवकी। ऐसी जल्दी क्या है ? आप लोगों से वात करना भी तो ज़रूरी है।" और इतना कहकर केदारवावू ने किशमिश का कटोरा गोकुलसुकुल और कामतापंडित के सामने रख दिया।

गोकुलसुकुल वोले—"वस दादा, आप खाइए।"

और केदारवावू के मुँह से निकल गया—"नहीं नहीं, लो।"

कामतापंडित ने दो दाने ले लिये और कह दिया—"प्रसाद रूप में लिये लेता हूँ।"

तव दो दाने गोकुलसुकुल ने भी उठा लिये। भीगी हुई किशमिश के दाने खाते-खाते वे वोल उठे—"वाह दादा, क्या चीज़ खिलाई है कि तवियत हरी हो गई। ज़िदगी का सच्चा सुख उठाना तो आप ही लोग जानते हैं।"

अव केदारवावू वोल उठे—"यहाँ आने पर वहुत-सी नई वातें मेरे सामने आ रही हैं देवकी। अव तुमको अधिक दिनों तक यह तकलीफ़ नहीं उठानी पड़ेगी। हम यहाँ हाथवाला पाइप लगवा देंगे। एक तुम्हीं नहीं, पड़ोस के लोगों को भी पानी लेने में कुछ सुविधा हो जायगी।"

देवकी वोली—"जाने वह दिन कव आयेगा !"

"वह दिन आ गया देवकी। शीघ्र मैं इसका इन्तज़ाम कर दूँगा। आज तुम्हारा यह कष्ट देखकर मेरी आँखें खुल गईं।...हाँ, सुकुल

पहले यह बताओ, तुम्हारे पास ज़मीन कितनी है ?"

गोकुलसुकुल बोले—"आपके पुण्य-प्रताप से है बीस-बाइस बीघे।"

"अच्छा तो गुज़र-बसर के लिए काफी है। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। अब तुम एक काम करो सुकुल। कुन्ती की याद में, धीरे-धीरे करके पाँच गायें खरीदो। एक दिन पाँच से पचास हो जायेंगी। और तुम्हारे ही जीवन में ऐसा भी एक दिन आ जायगा सुकुल, जब वे पचास से पाँच सौ हो जायेंगी। कुन्ती का इससे बड़ा स्मारक और भला क्या हो सकता है ?"

"दादा, आपने तो पहाड़ मेरे सामने रख दिया। इतना बड़ा काम भला मुझसे कैसे होगा ? ऐसा तो आप बड़े लोग ही कर सकते हैं।"

"नहीं सुकुल, प्रयत्न करो, प्रयत्न करो। प्रयत्न से सब-कुछ हो सकता है। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि गोवंश की वृद्धि गाँव की सबसे बड़ी शोभा है। पशु-धन ही तो किसान का सबसे बड़ा धन है और मुझे तो ऐसा लगता है यही धन राष्ट्र की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। अगर हमको अपने देश में सतयुग लाना है, घी-दूध की नदियाँ बहानी हैं, तो पशु-धन की वृद्धि से ही यह सम्भव हो सकता है।"

कामतापंडित का मत्था श्रद्धा से झुक गया। बोले—"वाह दादा, वाह ! क्या बात कही है आपने !" तब उनकी आँखों में आँसू झलक पड़े। धोती से पोंछते हुए बोले—"स्वप्न हो तो ऐसा। आज मुझे ऐसा जान पड़ता है दादा कि आपकी वाणी में भगवान् कृष्ण की आत्मा बोल रही है।" अश्रु-विगलित कंठ से तब अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कामता-पंडित कहने लगे—"कन्हैया की मुरली बज रही है। गायें उनको घेरे खड़ी हैं। गोपिकाएँ मुरली की ध्वनि सुनने के लिए घरों से निकल पड़ी हैं। बस, देर इतनी ही है कि एक बार हमारे बीच मोरपंख वाले भगवान् कृष्ण दिखाई-भर पड़ जायँ ! दादा, आपने तो हमारे हृदयों में नये स्वप्न जगा दिये। कुछ ऐसी भावना पैदा कर दी कि हम सबको मिलकर, एक होकर अब यह काम अपने ऊपर लेना ही पड़ेगा। सुकुल, दादा की आशा पूरी

होनी ही चाहिए। आज ही से प्रतिज्ञा करो कि हम कुन्ती की स्मृति में अब गायें-ही-गायें पालेंगे। पहले पाँच, पाँच से पचास और पचास से पाँच सौ। और वह दिन भी आकर ही रहेगा सुकुल, जब हमारा गाँव सारे देश के लिए एक आदर्श ग्राम बन जायगा। दादा की वाणी सफल होनी ही चाहिए।"

इधर ये बातें चल रही थीं उधर पन्ना ने आकर कहा—"अम्मा, सुकुल मौसिया के लड़का हुआ है।"

कामतापण्डित उछल पड़े। बोले—"वाह देवकी! वाह बिटिया, तुमने तो वह काम कर दिखाया कि हीरा और सुकुल तुमसे कभी उद्धार न होंगे!"

अब केदारबाबू प्रसन्नतापूर्वक बोले—"भगवान् करे तुम्हारा बेटा देश की सेवा में अपना जीवन लगाकर उसका सबसे बड़ा आदमी बने!"

अब गोकुलसुकुल की आँखों में आनन्द के आँसू झलक उठे और उन्होंने केदारबाबू के चरणों पर अपना सिर रख दिया।

दादा ने अपने दोनों हाथों से गोकुलसुकुल को उठाते हुए कह दिया—"भगवान् करे, तुम्हारी सारी इच्छाएँ पूरी हों।"

तब गोकुलसुकुल ने आँसू पोंछकर कुछ स्थिर होकर कह दिया—"चलो देवकी, हमारे आँगन को पवित्र करो!"

देवकी हँसती-उछलती हुई चल दी। अब उसे वह दिन फिर याद हो आया, जब इन्हीं गोकुलसुकुल ने उससे कहा था…!

---

## : ३० :

केदारबाबू घर लौटे तो पैर छूकर कैलाशबाबू ने पूछा—"क्या कर आये दद्दा ?"

केदारबाबू अनसुनी करते हुए बोले—"सुरेश नहीं दिखलाई पड़ता।"

कामना सामने खड़ी थी। बोली—"जीजाजी दुकान गये हैं दादा।"

केदारबाबू की भौंहों में गाँठ पड़ गई। आश्चर्य से बोले—"दुकान गया है ! दुकान की ताली उसे दी किसने ?"

कैलाशबाबू डरते-डरते बोल उठे—"मैंने ही दे दी थी।"

अब केदारबाबू एकदम से चिल्ला उठे—"क्यों दे दी ? किसके हुकुम से दे दी ? क्या सोचकर दे दी ? अजीब हाल है। एक दिन के लिए बाहर निकल जाता हूँ तो बरसों का किया-धरा तुम चौपट कर देते हो !"

"दद्दा आखिर को दामाद ही है। कोई ग़ैर थोड़े ही है। तुम्हारी तो दिन-दिन ऐसी आदत खराब होती जा रही है दद्दा कि शान्ति के साथ घर में घड़ी-भर बैठना कठिन हो गया है। न तुमको मेरा विश्वास है, न अपनी लड़कियों का, न दामाद का ! अरे मैं कहता हूँ, यह सारी दौलत है तो इन्हीं के लिए ! ज्यों-ज्यों तुम्हारी कमर झुकती जाती है, त्यों-त्यों तुमको दौलत का मोह भी बढ़ता जाता है ! आखिर तुमको हो क्या गया है ! जो मन में आता है, सो बकने लगते हो ! तुम घर पर नहीं थे तो दुकान बन्द पड़ी रहती, यही तुम चाहते थे ! मगर मैं ऐसा न चाहूँ तो तुम इतना भी अधिकार मुझको नहीं देना चाहते ! आज तक किसी भी बात का कभी मैंने तुम्हें जबाब दिया है ! आज जब जी न माना तो मुँह खोलना पड़ा। और अब आगे तुम्हारे किसी काम में अगर दखल दूँ, तो

तुम मेरे मुँह पर थूक देना !"

इतना कहकर कैलाशबाबू लोटा उठाकर चल दिये ।

केदारबाबू हँसने लगे और धीरे से बोल उठे—"अरे छोटे भैया, मेरी बात का तुम बुरा मान गये । सुनो-सुनो, यहाँ आओ । तुमने जो बात पूछी थी उसका समाचार तो तुमको दे दूँ ?"

अब कैलाशबाबू के होठों पर विकास बोल उठा । वे उन्हीं पैरों लौट आये और केदारबाबू के पास पड़ी हुई प्लाईवुड के तल्ले की कुर्सी पर बैठ गये ।

सिर पर हाथ फेरते हुए केदारबाबू बोले—"मामला बड़े उत्साह के साथ निपट गया । गाँव के पन्द्रह-बीस प्रतिनिधियों के सामने दोनों असामियों ने कान पकड़कर माफ़ी माँग ली और देवकी ने जो दूसरे असामी को जोतने के लिए खेत दे दिया था, उसके बारे में यह तय हुआ कि अब इस फ़सल में उसीको बो देने दिया जाय । बात यह है छोटे भैया कि बाप-दादों से जो ज़मीन वे जोतते आ रहे हैं, उसको उनके हाथ से छीन लेना हमारा धर्म नहीं है ।"

अब कैलाशबाबू के मुँह से निकल गया—"तुमने जो-कुछ किया, सो ठीक ही किया, मैं उसमें क्या कह सकता हूँ । मगर तुम्हारी इस नीति से इन बच्चों की यह ज़मीन अपने हाथ से निकल जायगी !"

आश्चर्य के साथ, मस्तक पर तीन रेखाएँ बनाते हुए केदारबाबू बोल उठे—"यह आज तुम क्या कह रहे हो कैलाश !"

"उसमें क्या बात है ? आगे तुम खुद देख देना । और हाथ से निकल क्या जायगी, निकल गई वह हाथ से ! हम सब उससे हाथ धो बैठे !"

"हूँ !" एक गर्जन के स्वर में केदारबाबू के मुँह से निकल गया और वे बोल उठे—"तो तुम यह कहना चाहते हो कि मैंने जो फैसला किया है, वह तुमको स्वीकार नहीं है ? उस दिन मुन्नी का भी कुछ ऐसा ही रुख मुझे देखने को मिला था । देवकी भी तुम्हीं लोगों से मिली हुई

है। और सुरेश को तो तुमने अपने पक्ष में कर ही लिया! कुछ-कुछ शक इस षड्यन्त्र का मुझे पहले ही हो गया था। चलो, आज निश्चय भी हो गया! मुन्नी के विवाह के सम्बन्ध में भीतर-ही-भीतर जो खिचड़ी पक रही है उसकी खुदबुद की आवाज़ भी मेरे कानों में पड़ चुकी है। मैं जानता हूँ कि तुम्हारे मन में क्या है! तुम्हारा बस चलता, तो उस मास्टराइन की छोकरी के साथ तुम उसका व्याह अब तक कर चुके होते! सिर्फ मेरे दखल देने से तुम लोग उसे टाल गये। अभी उस दिन गयाबाबू और जमुना जो रोकर यहाँ से चले गये हैं, उसकी जड़ में भी तुम और मुन्नी की माँ हैं। मैं उड़ती हुई चिड़िया पहचानता हूँ। मुझे अच्छी तरह से मालूम है कि मुन्नी के मन में रन्नो के लिए कितना स्थान है। लेकिन तुमको तो मोह इस बात का है कि मास्टराइन की वह लड़की, जिसका नाम रेणु है, उसने मुन्नी की माँ के प्राण बचाये हैं, इसलिए तुम सोचते हो कि मुन्नी का व्याह उसके साथ कर देने से हम उसके अहसान का बदला चुका देंगे! क्या तुमने कभी पता लगाकर देखा है कि उस लड़की की सामाजिक मर्यादा क्या है?"

केदारबाबू अब कमरे में टहलते हुए रुक-रुककर बोलते जाते। कभी वे खड़े हो जाते और कभी आसमान की तरफ़ देखने लगते। सामने एक मिल की चिमनी धुआँ उगल रही थी, उसकी ओर देखते हुए वे बोले— "तो अच्छी बात है। मुझको क्या करना है! मैं आज से व्यापार और घर-गृहस्थी के चार्ज से हाथ खींचे लेता हूँ। अब तुम सब सँभालो। मैं न बोलूंगा। ज़िन्दगी पिसते-पिसते बीत गई। अब मुझे भी विश्राम की आवश्यकता है। जब तक तबियत भरेगी, पड़ा रहूँगा। जिस दिन उचट हुई, चुपचाप चल दूंगा। सब आदमियों से कह दो, मैंने इस्तीफ़ा दे दिया है!" और इतना कहते-कहते केदारबाबू ने तिजोरी की तालियों का गुच्छा कैलाशबाबू के सामने फेंक दिया। तालियाँ झन्न-से शब्द के साथ चुप हो गईं!

कैलाशबाबू दादा के स्वभाव से परिचित थे। वे जानते थे कि जो बात वे एक बार तय कर लेते हैं, उसे करके छोड़ते हैं। विरोध सुन नहीं सकते और विरोध के सामने झुक भी नहीं सकते। वे टूट सकते हैं, पर लच नहीं सकते। जीवन-भर वे काम में लगे रहे हैं। उन्होंने कभी यह जाना ही नहीं कि आराम करना किसे कहते हैं। और अब जब उन्होंने तिजोरी की तालियाँ फेंक दीं तो पता नहीं, इसका परिणाम क्या हो ?

अब कैलाशबाबू अदृष्ट की लीला का स्मरण करके काँप उठे। बार-बार उनके मन के अन्दर से एक आवाज़ उठने लगी—'न जाने क्या होनहार है ! मुन्नी की माँ उसके साथ हैं। दोनों फैजाबाद में बैठे हैं। वह सलाह भी किससे करेगा ! कामना का व्याह नहीं हुआ है। विष्णु और ब्रह्मा अभी बच्चे हैं। दामाद घर में घुसकर अपनी कौड़ी चित करने में लगा है। हे भगवान्, तुम क्या चाहते हो ?'

आज तक कैलाशबाबू कभी रोये न थे। जब पिता का देहान्त हुआ, तब वे इसी नौकरी पर थे। और घर में तब पहुँचे थे, जब उनका दाह-संस्कार हो चुका था। माँ का जब देहान्त हुआ, तब वे दुकान के काम से कलकत्ता गये हुए थे। पर आज बड़े भाई के इस वैराग्य से उनका हृदय एक बार कम्पित हो उठा।

अब कैलाशबाबू की मनःस्थिति बहुत संकटापन्न हो गई। भविष्य का एक धुँधला-धुँधला काला-काला चित्र उनके कल्पना-पट पर अंकित हो गया। नाना प्रकार की कल्पनाएँ उनके मन में आने लगीं—'दुकान अब क्या चलेगी ? साल-भर के अन्दर जितना भी माल है, सब समाप्त हो जायगा ! रुपये में दो-एक आना हमारे हाथ लगेगा !'

मानवीय चिन्तन के ये कैसे विलक्षण दो रूप, दो मुँह हैं ! अभी दस मिनट पहले यही कैलाशबाबू सुरेश पर अपना विश्वास प्रकट कर रहे थे—'आखिर को दामाद ही है। कोई ग़ैर थोड़े ही है !' और अब उसी के सम्बन्ध में वे सोच रहे थे—'दामाद अपनी कौड़ी चित करने में लगा है !'

चित्र एक ही है, पहलू दो हैं। प्रतिमा एक है, उसको देखने के दृष्टि-कोण दो हैं। सूर्य सदा उदय रहता है, किन्तु एक ओर की दुनिया कहती है वह उदीयमान हैं और दूसरी ओर की दुनिया कहती है कि वह अस्त हो गया। मनुष्य जब अपने पुराने कपड़े उतारकर नये पहन लेने को तत्पर होता है तब दुनिया कहती है— वह मर गया। प्रत्येक वस्तुस्थिति के यही दो रूप हैं; प्रत्येक अवस्था का ऐसा ही विचित्र चित्र है।

बात यह है कि आदमी कभी अपने घर को देखता है, कभी अपने द्वार को। कभी अन्तर से बोलता है, कभी बाहर से। प्रश्न यह है कि वह भीतर और बाहर का सामंजस्य रखकर समन्वय की वाणी में क्यों नहीं बोलता ?

बात यह है कि इन दोनों स्थितियों के बीच में एक दीवार खड़ी है और वह दीवार है अहम् की। अभी थोड़ी देर पहले कैलाशबाबू के मन में आया था कि मैं भी कुछ हूँ। मेरा भी अधिकार है और अब केदारबाबू सोच रहे थे कि मैं भी कुछ हूँ। मुझे देखना है कि मेरे बिना यह है क्या ? इन्होंने मुझे समझा क्या है ?

कुतुबनुमा सामने रखा है। उसकी सुइयाँ हैं कि छू-भर दीजिए, तो डोल उठेंगी। यद्यपि उनके टिकने का स्थान निश्चित है। क्षण-भर को इधर-उधर भले ही हो जायें, पर अन्त में उनकी दिशा एक है—स्थिरता एक, प्रवृत्ति और दृष्टि एक।

तो कैलाशबाबू अब उस चित्र को देखने लगे थे :

'कौन जाने कामना का विवाह अब कैसे होगा? होने को तो किसी-न-किसी तरह सबके विवाह अन्त में निपट ही जाते हैं। पर एक विवाह ऐसा होता है कि लड़की का संसार सोने का बन जाता है, चारों ओर से तरह-तरह की ध्वनियाँ गूँजने लगती हैं और लड़की समझने लगती है, सचमुच सौभाग्य के दिवस ऐसे ही होते हैं! एक विवाह ऐसा भी होता है कि लड़की जब ससुराल से लौटकर घर आती है तो माँ की छाती

से लिपटकर चिल्ला उठती है—मेरे करम फूट गये अम्मा। इससे तो मैं कुमारी ही भली थी !'

चित्र की ऐसी अमांगलिक कल्पना करते-करते कैलाशबाबू अन्त में रो पड़े।

जब रुदन के आँसू हृदय के भीतरी कोने से निकलते हैं, तब वाणी मूक हो जाती है। कैलाशबाबू भी केवल रोते रहे, कुछ कह न सके।

आज खाना तो समय पर ही बना लिया गया, पर केदारबाबू चौके में नहीं गये। ब्रह्मा आया और बोला—"दादा चलो, खाना खा लो। बाबू बुला रहे हैं।" मगर केदारबाबू ने कह दिया—"कह दो उनसे, भूख नहीं है।"

ब्रह्मा ने दादा के पैर पकड़ लिये। बोला—"अरे चलो दादा, भूख क्यों नहीं है ? कहाँ चली गई भूख ? सवेरे तुम कभी-कभी कुछ जलपान भी करते थे, पर आज तुमने जलपान में भी कुछ नहीं लिया। अब कह रहे हो, भूख नहीं है ! यह क्या बात है ? चलो दादा, मेरे कहने से चले चलो।"

केदारबाबू ने फिर उत्तर देते हुए कह दिया—"कह तो दिया एक बार कि भूख नहीं है। जब भूख होगी तब खा लेंगे। रात में नींद नहीं आई थी। खाना अभी पेट में ज्यों-का-त्यों रखा है। सिर में दर्द है। बदन टूट रहा है। मैं आज खाना नहीं खाऊँगा—किसी तरह नहीं खाऊँगा। जाओ, मैं कहता हूँ—जाओ··· !"

कुछ रुखाई और कुछ डाँट के स्वर में दिये हुए इस उत्तर के आगे ब्रह्मा कुछ न कह सका। पिता के पास जाकर उसने सारी बातें उनसे ज्यों-की-त्यों कह दीं। तब कैलाशबाबू भी परसी थाली छोड़कर उठ गये।

चौके में बैठी सुशीला बोली—"चाचा, परसी हुई थाली छोड़ी नहीं जाती। तुम खाना खा लो, मैं दादा को मना लूँगी।"

ब्रह्मा बोला—"बाबू, दादा का पेट ठीक न होगा। इसीलिए वे नहीं

आये। मगर तुम तो खाना खाते जाओ।"

पर कैलाशबाबू ने किसी बात के उत्तर में कुछ नहीं कहा।

केदारबाबू सोच रहे थे—'कैलाश अब तुरन्त मेरे पास आकर क्षमा माँगेगा। रोने तो उसी समय लगा था। मैंने उसके दिल पर जो प्रहार किया है, उसकी चोट वह सहन नहीं कर पायेगा। क्षमा माँगने ज़रूर आयेगा...।'

और इसके बाद वे मन-ही-मन हँस पड़े और कहने लगे—'हँ: हँ:, उसे यह नहीं पता कि मैं न्याय का पुजारी हूँ, न्याय का। उस क्षमा का पक्षपाती नहीं, जिसने आज संसार को नरक-कुण्ड बना रखा है!'

दूसरी ओर कैलाशबाबू सोच रहे थे—'तो यह बात है! आज इन्होंने मुझे चुनौती दी है, मेरी चेतना को ललकारा है, मेरे अहम् को दोनों पैरों से कुचलकर पीस डालने की चेष्टा की है। मैं भी अब इनको कुछ करके दिखा देना चाहता हूँ।'

चौके से लौटकर कैलाशबाबू ने कपड़े पहने, पैरों में जूते धारण किये; छतरी हाथ में ली और वे चुपचाप मकान से बाहर जाने लगे।

ब्रह्मा दौड़कर सामने आ गया और बोला—"बाबू, तुमने खाना नहीं खाया और भूखे-पेट तुम बाहर जा रहे हो!"

कैलाशबाबू ने उत्तर दिया—"सामने से हट जाओ।"

पर ब्रह्मा हटा नहीं, डटा रहा।

अब कैलाशबाबू चीख उठे—"मैं कहता हूँ, सामने से हट जाओ ब्रह्मा! जाओ, चलो यहाँ से!"

ब्रह्मा सामने से तो हट गया; पर अब उसने पूछा—"लेकिन बाबू, तुम जा कहाँ रहे हो?"

कैलाशबाबू ने उत्तर दिया—"दुकान।"

केदारबाबू अपने कमरे में इधर-से-उधर टहल रहे थे। उन्होंने कैलाश-बाबू का गर्जन सुना था। उन्होंने यह भी सुना था कि वे दुकान चले

गये ! अब वे पुनः चारपाई पर आ बैठे, दस मिनट, बीस मिनट। उसके बाद वे लोटा उठाकर पाइप की ओर चल दिये।

आज दुकान में काम बहुत था। कई बिल्टियाँ आ गई थीं। स्टेशन जाकर माल छुड़ाना था। कुछ व्यापारी आये हुए थे। दलाल उनको साथ लेकर माल खरिदवाने गया था। जो-कुछ माल आया हुआ था, आज बीजक से मिलाकर उसको जमा करना था। कुछ तगादगीर भुगतान लेने के लिए आकर लौट गये थे।

कैलाशबाबू जब दुकान पहुँचे, तो सुरेश ने आज पहली बार उनको वहाँ पाकर आश्चर्य के साथ कह दिया—"अच्छा, चाचाजी आइए !"

कैलाशबाबू जब गद्दी पर आ बैठे, तो सुरेश ने पूछा—"चाचाजी, दादा नहीं आये ?"

कैलाशबाबू ने कुछ उदासीनता के साथ उत्तर दिया—"आ गये।"

"आ गये तो फिर आये क्यों नहीं ?"

"नहीं आये।"

"तबियत तो ठीक है ?"

"हाँ शरीर तो ठीक है।"

"शरीर तो ठीक है, क्या मतलब ? गाँव में कुछ झगड़ा हो गया क्या ?"

"झगड़ा तो नहीं हुआ।"

"फिर आखिर हुआ क्या ? वे आये क्यों नहीं ?"

"यह उन्हीं से पूछ लेना।"

"बात कुछ समझ में नहीं आ रही, साफ़-साफ़ बतलाओ चाचा !"

अब कैलाशबाबू गद्दी पर फैल गये। तकिये पर सिर रख लिया और धीरे-धीरे बोले—"बेटा, हम लोग अब बहुत संकट में आ पड़े हैं। हमारी नाव मँझदार में है। तुम देख ही रहे हो कि हमको कम्मो का व्याह करना है; मुन्नी का व्याह करना है। विष्णु भी अठारह वर्ष का हो गया

श्रौर उसका जनेऊ नहीं हुश्रा ! तुम श्रभी दुकान का पूरा काम-काज सीख नहीं पाये श्रौर श्राज दादा श्रपनी ज़िम्मेदारी से दूर हट गये ! उन्होंने तिजोरी का गुच्छा मेरे श्रागे फेंक दिया है। वे श्रव दुकान नहीं श्रायेंगे। घर पर भी वे किसी काम में किसी तरह की कोई राय नहीं देंगे—न श्रपने मन से श्रौर न सलाह-वात के रूप में। हमीं पर सारी ज़िम्मेदारी श्रा पड़ी है।"

सुरेश भीतर-ही-भीतर वहुत प्रसन्न था, किन्तु वाहर से वह वोल उठा—"तव तो सचमुच हमारी स्थिति वड़ी गम्भीर हो गई। दादा की सलाह के विना कैसे काम चलेगा! मगर चाचा, तुमने यह नहीं वतलाया कि झगड़ा हुश्रा किस वात पर ?"

सुरेश मन-ही-मन सोच रहा था—'भगवान् श्रन्तर्यामी हैं। वे सुनते एक दिन सवकी हैं।'

कैलाशवावू ने श्रव मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"यह मत पूछो वेटा।"

"फिर भी ?" सुरेश वोला।

"फिर भी क्या ?" कैलाशवावू ने कह दिया—"जिनको वनी वात विगाड़नी होती है, वे नाक पर मक्खी वैठ जाने पर भी विगड़ उठते हैं।"

"साफ़-साफ़ वतलाश्रो चाचा !" सुरेश ने कह दिया—"पहेली मत वुझाश्रो।"

"सुनकर तुम्हें दुःख होगा।"

"मगर यह हालत तो श्रौर भी दुःखद है चाचा जी !"

श्रव कैलाशवावू ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"वेटा, झगड़े का प्रारम्भ हुश्रा श्रसल में तुम्हारे कारण !"

"मेरे कारण !" सुरेश भीतर-ही-भीतर कम्पित हो गया। श्रपने मन से वोला—'श्रभी तक तो मैंने ऐसा कोई श्रपराध किया नहीं।'

हाँ, तुम्हारे ही कारण।" कैलाशवावू ने जव दृढ़ता से उत्तर दिया तव तो सुरेश की धुकधुकी श्रौर भी तीव्र हो गई। वह श्रव कुछ कह न सका। तव उसे चुप देखकर कैलाशवावू वोले—"वे श्रव भी तुमको ग़ैर समझते

हैं। आते ही पूछने लगे: सुरेश नहीं दिखलाई पड़ता। कामना सामने थी। उसने कह दिया: दुकान गये हैं। बस, इसी बात को लेकर आपे से बाहर हो गये। बोले—'तुमने उसको दुकान की ताली दे क्यों दी? किसके हुकुम से दे दी? क्या सोचकर दे दी? एक दिन के लिए बाहर निकल जाता हूँ, तो बरसों का किया-धरा तुम चौपट कर देते हो!' बस, इसके साथ ही पचासों तरह की बातें कह डालीं। उनको एक शिकायत यह भी है कि ज़मीन के मामले में सारा घर उनका विरोधी है।"

"अच्छा हाँ, तो उन्होंने आखिर वहाँ फैसला क्या किया?"

"फैसला वही दिया जो उनको देना था। हम लोगों की बातों का हमारे अधिकारों का, उन्होंने कुछ भी ख्याल नहीं किया। जो असामी हमारी बेइज़्ज़ती पर आमादा थे, हमारे साथ फ़ौजदारी करना चाहते थे, सारे खेत उन्होंने उन्हीं को दे दिये।"

"चाचा, यह तो उन्होंने बड़ा गड़बड़ किया। आख़िर उनको हो क्या गया है?"

"उनको यह भी शिकायत है कि मुन्नी के ब्याह के सम्बन्ध में भी सारा परिवार उनका विरोधी है। वे रन्नो के साथ ही दरअसल मुन्नी का विवाह करना चाहते हैं।"

"मगर जब मौसी और मौसिया यहाँ आये थे, तब तो उन्होंने ऐसी कोई राय ज़ाहिर नहीं का थी। बल्कि उनको बुरी तरह फटकार ही दिया!"

"तुम नहीं जानते बेटा, दादा दूसरे चाणक्य हैं। एक तुम क्या; उनके मन का भेद कोई पा ही नहीं सकता।"

"चाचा, यह तो तुम बिल्कुल ठीक कहते हो। मैं तो अब तक यही समझता था कि वे मुझे बहुत प्यार करते हैं; पर आज तुम्हारे कहने से मालूम हुआ कि उनको अब भी मुझपर विश्वास नहीं है।"

"मैंने कहा न कि उनको समझना बड़ा कठिन है। ख़ैर, छोड़ो इन बातों को। अब स्थिति यह है कि हमने भी उनकी चुनौती स्वीकार कर

ली है। हमें अब मिलकर, संगठित रूप से मेहनत के साथ पसीना बहाकर, कुछ ऐसा कर दिखाना है कि उनका यह विचार बिल्कुल मिथ्या सिद्ध हो जाय कि उनकी देखरेख के बिना गृहस्थी की एकता, व्यापार की साख और इज़्ज़त मिट्टी में मिल जायगी ! सब काम पहले-जैसा क़ायदे से, प्रतिष्ठा के साथ, चलाना है और उनको यह दिखला देना है कि हम क्या नहीं कर सकते ! अच्छा, अब एक काम करो। मुन्नी को एक चिट्ठी तो लिखो, मैं बोल रहा हूँ :

"प्यारे मुन्नी,

सदा सुखी रहो।

और तो सब कुशल है, लेकिन दादा हम सब लोगों से विरक्त हो गये हैं। वे अब घर-गृहस्थी और व्यापार दोनों की देखरेख और जिम्मेदारी छोड़ बैठे हैं। आज से दुकान पर हम और सुरेश दोनों बैठने लगे हैं। मैं इस वक्त दुकान से ही तुमको यह पत्र लिखवा रहा हूँ। आज उन्होंने गाँव से लौटकर हमको बहुत जली-कटी सुनाई। हमारा अपमान भी किया। मैं उनके कटु वचनों को चुपचाप पी गया हूँ। मैंने उनको कोई उत्तर देना उचित नहीं समझा। मेरा दिल भर आया है। मेरे आँसू नहीं रुक रहे हैं। सवेरे तो उन्होंने खाना खाया नहीं, पता नहीं शाम को खायेंगे या नहीं। खाना मैंने भी नहीं खाया। लेकिन दुकान तो चलानी ही पड़ेगी; व्यापार तो बन्द किया नहीं जा सकता। मुझे अब डर इस बात का है कि कहीं दादा हम लोगों को छोड़कर चल न दें ! मैं आज तार देकर तुमको एक मिनट के लिए बुलाना चाहता था मगर फिर मैंने सोचा कि तुम सब वहाँ घबरा जाओगे। बात सचमुच घबराने की है भी। मगर मुन्नी मैं तुमसे पूछता हूँ, हमारी गृहस्थी की नैया जब मँझधार में हो, तब क्या उनको हमसे इस तरह अलग हो जाना चाहिए था ? यह तो बीच धार में हमें डुबो देना हुआ। तुम्हारा व्याह, कम्मो का व्याह, विष्णु का जनेऊ—जब जिम्मेदारियों के पहाड़ हमारे सामने खड़े हों, तब उनको

हमारे पौरुष को, सो भी इस ढलती उम्र में, चुनौती देनी चाहिए थी ? मैं तुम्हीं से पूछना चाहता हूँ, क्या यह हमारा अपमान नहीं है ? और मुन्नी एक बात मैं तुमसे कहता हूँ—सदा के लिए गाँठ बाँध लो—कि आदमी चाहे जितना गिर जाय, बूढ़ा, शिथिल और निकम्मा ही हो जाय, वह और सब कुछ सहन कर सकता है, मगर भाई का अपमान नहीं सहन कर सकता। मैं अब अपनी जान की बाजी लगा देने को तैयार हूँ, मुन्नी ! सुरेश और हम मिलकर अपने कर्तव्य और धर्म पर डटे रहेंगे।

पर पता नहीं मुन्नी, ऊँट किस करवट बैठे ! सब भविष्य के गर्भ में है, सब-कुछ नीयत की मुट्ठी में। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि अदृष्ट हमारे ऊपर हँस तो नहीं रहा है ! दुर्भाग्य हमको दबोच लेने की तैयारी में तो नहीं है ! जो भी हो, सब-कुछ भगवान् के हाथ में है। मैं अभी से क्या कह सकता हूँ और ऐसी परिस्थिति में कोई भी क्या कह सकता है ? तुम अभी इस पत्र के सम्बन्ध में अपनी माँ से कुछ मत कहना। विष्णु को भी कोई भेद न देना। स्त्रियों और बच्चों का हृदय बड़ा कोमल होता है। मगर हाँ, इस पत्र को पाकर पहली गाड़ी से चले जरूर आना, अच्छा ! अपनी माँ और विष्णु से कह देना—एक-दो दिन को दौरे पर जा रहा हूँ। संभव है तुम्हारे मनाने से वे मान जायँ। मुझे सबसे अधिक दुःख इस बात का हो रहा है कि अगर तुम्हारा ब्याह हो गया होता, तो बहू तुम्हारे साथ होती और तुम्हारी माँ इस समय यहाँ आ सकती थीं। लेकिन मुन्नी, यह सारा खेल भाग्य का ही है। हम लोग तो उसके हाथ की अंगुली के स्पर्श से इधर-उधर खिसकनेवाले शतरंज के मोहरे मात्र हैं !···जब से तुम चले गये, घर यों भी सूना-सूना-सा रहता था, पर दादा के वैराग्य से तो घर की दशा और भी चिन्ताजनक हो गई है।

बातें तो और भी बहुत-सी हैं, लेकिन इस समय इतना ही।

तुम्हारा—

बाबू

—लाग्रो, ग्रव मैं इस पर हस्ताक्षर कर दूँ।"

हस्ताक्षर करके चिट्ठी कैलाशवाबू ने लिफाफे में वन्द कर दी ग्रौर फिर उस लिफाफे को कोट के भीतरी जेव में रख लिया। चिट्ठी डालने के सम्बन्ध में यही नीति उनकी रहती थी। ग्रपनी चिट्ठी वे स्वयं पोस्ट करते थे।

ग्रव इसके वाद कैलाशवावू ने सुरेश से कहा—"लाग्रो, जितनी विल्टियाँ छुड़ानी हैं, सव मुझे दे दो। स्टेशन की तरफ़ का ग्रौर कोई काम तो नहीं है?"

सुरेश वोल उठा—"चाचा, तुम कहाँ जाग्रोगे! क्या तुम्हारा शरीर इस योग्य है कि तुम चला-फिरी ग्रौर दौड़-धूप का काम कर सको! दुकान में ये रामाधार, त्रिलोकी ग्रादि लोग तो हैं ही। नित्य यही लोग यह काम करते हैं। तुम ग्रपने हाथ से यह सव काम खुद ही कर लोगे, तो ये लोग फिर क्या करेंगे?"

जूता पहनते-पहनते कैलाशवावू वोले—"वेटा, ग्राज तो इस काम के लिए मैं ही जाऊँगा। इसके वाद ज़रूरत समझूँगा, तो सदा की भाँति ऐसे काम इन्हीं से लूँगा। लाग्रो, विल्टियाँ दे दो मुझे ग्रौर ज़रूरत-भर के लिए रुपये भी।···ग्रौर देखो, ग्राज कोई भुगतान न होगा। हम लोगों ने नया-नया काम सँभाला है। इसलिए जव तक कुल काम ग्रपने हाथ में न ग्रा जायगा, तव तक उसे सँभालेंगे कैसे? ग्राज रात को वैठकर हमको एक कार्यक्रम वना लेना चाहिए जिसमें हमसे कभी कोई ग़लती न हो, कोई ग्रावश्यक कार्य छूट न जाय।"

सुरेश ने सव काग़ज़-पत्र ग्रौर काम-भर के लिए रुपये कैलाशवावू के हाथ में दे दिये ग्रौर तव कैलाशवावू दुकान से उतरने लगे।

जिस समय कैलाशवावू सड़क पर ग्राकर थोड़ी दूर चले, उसी समय रेणु कालिज से लौटी हुई ताँगे पर वैठी ग्रपने घर जा रही थी। कैलाश-वावू को पैदल चलता हुग्रा देखकर उसने ताँगा खड़ा करवा दिया। झट

उससे उतर पड़ी और बोली—"बाबू, आप कहाँ जा रहे हैं ?"

शंकर की माँ को चन्द्रग्रहण के अवसर पर डूबने से बचा लेने के बाद इस घर के सभी लोगों से उसका परिचय हो गया था।

कैलाशबाबू ने रेणु की ओर देखते हुए सिर नीचा कर लिया। और तब उनके मुँह से निकल पड़ा—"मैं स्टेशन जा रहा हूँ बेटा !"

रेणु विनीत भाव से बोल उठी—"चलो बाबू, मैं पहुँचा दूँ।"

कैलाशबाबू कुछ सकपका गये। बोले—"नहीं, नहीं ! मैं चला जाऊँगा, रिक्शा कर लूंगा।"

रेणु ने फिर आग्रह करते हुए कह दिया—"तो क्या हुआ ? यह ताँगा एक सेठ की लड़की को पढ़ाने के लिए मुझे घर से ले जाता है और फिर घर वापस भी छोड़ जाता है। मैं स्टेशन होकर ही घर चली जाऊँगी।"

उसका इतना कहना था कि कैलाशबाबू ताँगे में बैठ गये। दो मिनट तक कैलाशबाबू ने न रेणु से कुछ पूछा, न रेणु ने ही उनसे कोई प्रश्न किया। लेकिन और भी दो-चार मिनट बाद जब कैलाशबाबू स्टेशन पर उतरने लगे, तो बोले—"दो-एक दिन में शायद मुन्नी का आना हो।"

कैलाशबाबू का यह कथन सुनकर रेणु ने अपना सिर नीचा कर लिया। पर जब कैलाशबाबू चलने लगे, तो रेणु ने उनके चरणों का स्पर्श करने को जो अपना सिर झुकाया और हाथ पैरों की ओर बढ़ाया, तो कैलाशबाबू ने उसके सिर को हाथ का स्पर्श देते हुए कह दिया—"सुखी रहो बेटा।"

---

## : ३१ :

मीरा को वे दिन न भूलते थे जब शंकर उस घर में रहने आया था।

प्राय: शंकर सायंकाल साढ़े चार-पाँच बजे घर वापस लौटता। उस समय काम से छुट्टी रहती, बल्कि चौका-बर्तन से मुक्ति पाकर वह एकाध झपकी भी ले लिया करती। माया साढ़े पाँच तक आ जाता और जब-जब वह उसके लिए चाय बना लाती, साथ में कभी उड़द, कभी मूँग और कभी बेसन के साथ आलू, घुइयाँ, पालक तथा बथुआ मिलाकर पकौड़ी बना ले आती। ऐसा कोई दिन न जाता जब उसको शंकर की याद न आती। उसका पाइप के नीचे बैठकर, साबुन के श्वेत फेन से लिपटे हुए शरीर पर पानी की धार छोड़ना और फिर सिर मल-मल-कर नहाना याद आता। नहाते समय एक बार सुवासित हल्का-हल्का तैल-लेप याद आता। छल्लेदार केश-राशि का उछलना और कभी केशों का उलझना याद आता और फिर याद आता—खाना परोसकर उसे खिलाते समय उसके सुगठित और सुवासित शरीर से फूटने और फैलनेवाली मन्द-मन्द सुगन्ध का मादक प्रभाव। कभी-कभी स्वामी को बनानेवाले वाक्य भी उसे याद आ जाते।

वे स्वप्न जो जीवन में अपना एक स्थान बना लेते हैं:

एक दिन की दोपहर। दोनों की छुट्टी थी उस दिन। कदाचित् रविवार था। स्वामी ने कहा था—'दाल में नमक आज ज़्यादा है। मुझ से तो खाई नहीं जाती।'

शंकर ने मुस्कराते-मुस्कराते जवाब दिया था—'एक नमक दूसरे नमक को काटता है!'

स्वामी को शंकर का यह वाक्य समझने में कुछ कठिनाई हुई। उस समय मुझे हँसी आ गई। इस पर स्वामी चिढ़ गये। भौहें चढ़ाकर बोले 'क्या मतलब ?'

शंकर ने उत्तर दिया था—'जीवन के व्यापार में और सब प्रकार की चीज़ें सप्लाई कर ही जाती हैं; बुद्धि ही एक ऐसी वस्तु है जिसकी सप्लाई नहीं होती।' बस इसी बात पर स्वामी चिढ़ गये थे। उस समय तो वे गुमसुम बने रहे, पर बाद में अवसर मिलने पर उन्होंने कह ही डाला—'मैं सब समझता हूँ। मुझसे कोई बात छिपी नहीं रहती। फिर कभी मैंने इस तरह की फूहड़ मजाक सुनी तो मुझसे बुरा कोई न होगा।' मैं शंकर के इस अपमान को विष के घूँट की तरह पी गई थी। फिर कभी मैंने ऐसा अवसर नहीं आने दिया।

और भी एक दिन की बात है। संध्या की चाय जब दोनों एक-साथ बैठकर पीने लगे तो स्वामी ने कह दिया—'चाय में चीनी क्या डालती हो, चाशनी बना देती हो।'

शंकर इस बात पर बोल उठा—'चाय की मिठास का मन की मिठास के साथ जो एक सजातीय नाता होता है उसको भी आज की दुनिया सहन नहीं कर पाती ?'

शंकर का स्वामी पर यह सीधा आक्रमण था। जबाव तो वे क्या देते, इसलिए मुझको ही दबोच लेना चाहते थे। ऐसे समय वीणा प्रायः कम आती थी। ऐसी बात न थी कि उसको इन लोगों के बीच उपस्थित होने में कोई डर लगता हो, किन्तु वह न तो स्वामी को न माँ को इस तरह का कोई अवसर देना चाहती थी कि वे कुछ अन्यथा सोच बैठें। किन्तु मुझे तो ननद की भावना को बराबर समझना और अध्ययन करना पड़ता था। कभी-कभी तो ऐसी परिस्थिति में पड़ गई हूँ कि चुपचाप एक कमरे में जाकर चादर ओढ़कर लेटे बिना और कोई गति ही नहीं रह गई! प्रत्येक नारी के जीवन में ऐसे दिन आते हैं जब वह घर के

खान-पान-सम्बन्धी कार्यों में योग नहीं दे पाती; तव उसका कर्तव्यभार विवश होकर दूसरों को अपने ऊपर लेना ही पड़ता है। वीणा को भी निभाना पड़ता था। इन अवसरों पर मैं यह जानने की चेष्टा करती कि आज तो चाय-पान के समय कोई विशेष वात नहीं उठी ! पर अव स्वामी को ऐसे संयोगों पर कोई वात कहने का अवसर कैसे मिल सकता था ! उन्हें आपत्ति तो केवल इस वात पर थी कि मैं शंकर से वात क्यों करती हूँ ! साधारणरूप से वात करने में तो उनके बुरा मानने का कोई अवसर न था; किन्तु वे यह नहीं देखना चाहते थे कि मैं शंकर की किसी वात पर अपना कोई अनुकूल भाव प्रकट करूँ ! न मन्द-मन्द हास में, न मुक्त अट्टहास में !

इन्हीं परिस्थितियों ने मुझको विवश कर दिया था कि मैं अव उन दोनों को साथ वैठाकर चाय न पीने दूं। और इन्हीं अवस्थाओं का यह परिणाम था कि सन्ध्या की चाय और उस समय का भोजन शंकर अपने ही कमरे में वैठकर करे और मैं शंकर से मिलने, उसके सामने जाने और काम-काज के प्रसंग में भी उससे वोलने से वचती रहूँ। दूर-ही-दूर वनी रहूँ, अपनी झलक भी उसको न दूं !

जव-जव इस तरह के अवसर आते, तव-तव मैं वीणा से पूछने लगती—"क्यों, आज भी क्या कुछ वात हुई थी ?"

वीणा की कुछ ऐसी आदत पड़ गई थी कि प्रत्येक वात की प्रतिक्रिया वह कभी मन्द और कभी अतिमन्द हास में प्रकट करके देती। अतः मैं समझ जाती—जरूर कोई वात हुई है। एक वार वीणा ने कह दिया—शंकर भैया तुमको पूछ रहे थे। कहते थे—"आजकल तो उनका दर्शन भी दुर्लभ हो गया है !"

मैं उस दिन मन-ही-मन रोती रही और उस क्षण फिर मैंने वीणा से कोई वात न की !

अव रुचियों की भिन्नता और फिर उनकी पृथक्-पृथक् दृढ़ता को लेकर दोनों के लिए चाय भी भिन्न-भिन्न प्रकार की वनने लगी थी।

शंकर के लिए जो चाय आती, उसमें चीनी का मिश्रण उसकी रुचि के अनुपात से होता और स्वामी की चाय में उसकी रुचि के अनुपात से।

पर एक दिन फिर प्रसंग बदल गया। ऐसा कुछ हुआ कि शंकर अपने एक मित्र निष्काम को अपने साथ ले आया। उस समय स्वामी अपने कमरे में बैठा चाय पी रहा था। मीरा और वीणा दोनों उसके पास खड़ी थीं।

मुझको उन घड़ियों के सारे दृश्य ज्यों-के-त्यों याद हैं। उस समय मैं जार्जेट की साड़ी पहने हुई थी और वीणा के शरीर पर बिल्कुल दुग्ध-धवल साड़ी थी। उसकी किनार पर बुना हुआ बॉर्डर कुछ ऐसा था जिसको वीणा ने स्वयं अपने मन से तैयार किया था। उसमें हरिणी के पीछे उसका एक शावक था। हरिणी हरी दूब पर मुँह मार रही थी और शावक उसका स्तन्यपान कर रहा था। शंकर को साड़ी की किनार का यह डिज़ाइन बहुत अच्छा लगा और उसने जान-बूझकर मुझसे प्रश्न कर दिया—'भाभी, रन्नो की साढ़ी की किनार का यह डिज़ाइन क्या तुम्हारा सुझाया हुआ है!'

मेरी अपनी हार्दिकता का माधुर्य प्रकट किये बिना वह न रह सकी। उसके मुँह से निकल गया—'क्यों, आपको पसंद नहीं आया?'

शंकर निश्छल प्रकृति को मनुष्य के लिए गौरव की वस्तु मानता रहा है। उसने बिना किसी हिचक के उत्तर दे दिया था—'पसंद न आता तो मैं ऐसा प्रश्न ही क्यों करता?'

इस बात पर फिर वीणा को कुछ चुहल सूझ गई थी। उसके मुँह से निकल गया था—'पर भाभी, इस प्रश्न की ध्वनि की ओर ही तुम्हारा ध्यान जाना चाहिए। शंकर भैया कदाचित् यह सोच बैठे हैं कि भाभी की मानसिक लहरों की कल्पना मेरी रचना का विषय कभी बन ही नहीं सकती। बात कुछ सही भी जान पड़ती है।' और इतना कहकर वह जब एकाएक हँस पड़ी थी, तभी शंकर बोल उठा था—'अरे अरे! मुझसे बड़ी भारी भूल हो गई। निष्काम बेचारा नीचे खड़ा मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा?'

स्वामी तव कुछ असमंजस में पड़ गये थे। उसने कह दिया—'तो फिर अव उसको वुला ही न लो।'

इतना कहकर वे मेरी ओर देखने लगे थे; पर तव मैं दूसरे कमरे को चल दी थी। उस समय जव शंकर ने निष्काम को ऊपर वुला लिया, तभी चाय के प्रसंग को लेकर एक और विवाद उठ खड़ा हुआ। परिचय के वाद जव निष्काम के सामने वीणा ने चाय का प्याला रख दिया तो वह संकोच त्यागकर वोल उठा—'ओः! चाय तो वहुत लाइट है।'

शंकर वोला—"हाँ, इसमें दूव की मात्रा कुछ अविक है।' इस वात को स्वामी ने अपने लिए अपमानजनक समझा। उन्होंने कुछ ऐसा समझ लिया कि शंकर का अभिप्राय यह है कि मैं आजकल चाय नहीं, दूव पीता हूँ ?

इस वात में जो एक मधुर व्यंग्य था वह स्वामी को खल गया। उवर उसकी ओर देखकर शंकर और निष्काम दोनों एक-साथ हँस पड़े। तव स्वामी के मुँह से निकल गया—'जो लोग अपनी ही पसंद को वहुत वड़ी चीज़ मानकर समाज के साथ मौन सहयोग नहीं करते, वे अपनी रुचियों को उन पर लादते समय यह नहीं सोचते कि उनकी उस प्रकृति के साथ असामाजिकता का कितना गहरा संवंध है!'

निष्काम को इस उत्तर पर आपत्ति हो उठी और वह अंग्रेज़ी भाषा में फूट पड़ा। वोला—"अपनी-अपनी रुचियों की अनुकूलता उतनी असामाजिक नहीं, जितनी नवीन परिचित या मित्र की यह असहिष्णुता और प्रत्यक्ष अशिष्टता। इट मीन्स यू लैक इन कल्चर एंड मैनर्स।"[१]

इस वात पर स्वामी और भी भड़क उठे और वोले—'मुन्नी, इससे अच्छा तो यह होगा कि तुम अपने मित्रों को अपने ही कमरे में वैठाकर चाय पिलाया करो। मैं अपनी रुचियों में किसी तरह का फेरफार नहीं कर सकता। मैं तो लाइट चाय ही पसंद करता हूँ।'

१. तात्पर्य यह है कि तुम संस्कार और शिष्टाचार से हीन हो।

इस पर शंकर भी अकड़ गया और बोला—'आप हमारे मित्र की पहली ही भेंट में उसकी भिन्न रुचि सहन नहीं कर पाये और मेरी स्थिति यह है कि आपकी रुचियों को···मैं जब से आया हूँ तब से लेकर अब तक···अपने ऊपर भार के रूप में सहन करता हुआ भी सदा चुप रहा हूँ! वास्तव में मैं भी स्ट्राँग टी का पक्षपाती हूँ।'

मैं उस कमरे में तो न थी, पर उसके पास ही एक कमरे में बैठी हुई थी, जिसका दरवाज़ा उस समय अधखुला था। शंकर इसके बाद यह कहता चला गया—'स्ट्राँग और लाइट टी लेने में भी चरित्र की ही दृढ़ता और मन्दता का स्पष्ट परिचय मिलता है।'

स्वामी अब उठकर खड़े हो गये और बोले—'मैं लड़कों के बीच में बैठकर चाय नहीं पी सकता, जो साधारण-सी बातों में भी चरित्र का ढिंढोरा पीटते हैं; जब कि चरित्र-गठन का 'ए बी सी डी' भी नहीं जानते। असल बात यह है कि केवल आप लोग ही नहीं, हमारे देश का सारा विद्यार्थी-समाज ही आजकल असामाजिक और उद्दंड बन गया है!'

अब निष्काम स्वामी की इस बात को सहन न कर सका और अपना चाय का प्याला ज्यों-का-त्यों, छोड़कर चुपचाप चल दिया!

शंकर उसके पास आकर उसे सान्त्वना देने के लिए बोल उठा—'अरे भाई जाने दो। कम-से-कम शिष्टाचार के नाते ही सही, अपना कप तो खाली करते जाओ।'

"नहीं शंकर, तुमको इस घर में रहना है, तुम भले ही इस अपमान को सहन कर लो, लेकिन मैं?···नहीं-नहीं, मुझसे यह न होगा। अब इस चाय का एक घूंट भी मेरे लिए विष के समान है। वह गोस्वामी तुलसीदास की वाणी!

आवत हिय हरषे नहीं, नयनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइये, कंचन बरसे मेह॥

अगर यह बात पहले से मालूम होती कि मुझे ऐसे वातावरण में बैठना

पड़ेगा, जहाँ मैं अपनी भिन्न रुचि भी प्रकट न कर सकूँगा तो तुम्हारे कहने पर भी मैं यहाँ क़दम न मारता। एक साधारण-सी वात जो लोग नहीं समझ पाते कि स्ट्राँग टी पुष्ट चरित्र का प्रतीक है, मैं उनके साथ एक क्षण भी वैठना···।' और इन्हीं शब्दों के साथ निष्काम नीचे उतर गया था। तव उस समय शंकर को भी उसके साथ जाना ही पड़ा।

पर उस दिन से शंकर और स्वामी दोनों के लिए अलग-अलग प्रकार की चाय वनने लगी थी।

उसी दिन अवसर मिलने पर स्वामी ने जव मीरा से पूछा—'तुमने आज शंकर और उसके मित्र की वातचीत सुनी थी ?'

मैंने उत्तर दिया—'सुनी क्यों नहीं थी ?'

स्वामी ने पूछा—'मैंने जो निष्काम के साथ-साथ परोक्ष रूप से शंकर को भी फटकार वताई, वह तुमको कैसी लगी ?'

इस पर मैं चुप रही। शंकर ने ज़िद्द की—"वताओ, वताओ" तो विवश मैं वोली—'यह मत पूछो।'

स्वामी अकड़ गये और वोले—'तुमको वतलाना ही होगा।'

मैं स्वामी की हठधर्मी से परिचित थी। उस दिन पहली वार मैंने अपना आत्म-स्वर रोककर, मसलकर, स्वामी की हाँ-में-हाँ मिला दी। मैंने कह दिया—'तुम्हारा उत्तर वहुत वीरता से भरा हुआ था !'

और वस, उस दिन से मेरे जीवन में एक नया दौर प्रारम्भ हुआ। मैं स्वामी की भावनाएँ सदा ताड़ने में लगी रहती। न कभी उनकी इच्छाओं का विरोध करती, न कभी उनकी रुचियों पर अपना सच्चा और स्पष्ट मन्तव्य प्रकट करती। मैं ऊपर से हाँ-में-हाँ मिलाती रहती, पर भीतर-ही-भीतर कुढ़ती और जलती-भुनती रहती। मैं ऊपर से हँसती, भीतर से रोती थी !

स्वामी का मेरे साथ यह एक ऐसा व्यवहार था जिसको मैं अपने लिए एक अभिशाप—एक दण्ड—मानने लगी। यह एक ऐसी पीड़ा थी

जो उससे सही नहीं जाती थी, किन्तु विवश होकर उसे सहन ही करनी पड़ती थी। यह एक ऐसा वन्धन था, जो अव मुझे अपने ऊपर मानो चिर-दिन, चिरकाल, चिरयुग और चिर-जीवन तक के लिए मान ही लेना पड़ा था ! यह एक ऐसा क्रन्दन था, जिसमें मैं खुलकर रो भी न सकती थी। फलतः दिन-पर-दिन मैं भीतर-ही-भीतर घुलती रही। अव मेरी गोद में एक तीन वर्ष का वेवी था। इसके अतिरिक्त नई सम्भावना का भी भार, भार न कहकर आशा कहना ही उचित होगा—आजकल मैं वहन कर रही हूँ। शरीर दिन-पर-दिन टूट रहा है। रक्त उत्तरोत्तर घट रहा है, अव यह खाँसी भी आने लगी है, कभी-कभी मुझे ज्वर भी आ जाता है।

अन्तर्विरोध और आत्मद्वन्द्व जीवन के सर्वथा विरोधी तत्त्व हैं। भोजन की अनुकूलता और रहन-सहन की स्वच्छता भी उनपर अपना विशेप प्रभाव डालने में सदा असमर्थ रहती है।

स्वामी यह तो धीरे-धीरे समझने लगे थे कि मैं अस्वस्थ हूँ। स्वामी के संस्कार पुराने हैं। जव यह वात धीरे-धीरे अम्मा और वावू पर भी प्रकट हो गई कि उनकी वहू अव रुग्ण रहती है तव वे असमंजस में पड़ गये। वावू ने कहा—'वहू को अव किसी योग्य लेडीडाक्टर को दिखलाना होगा।'

तव अम्मा ने कह दिया—'जव उसका सातवाँ मास चल रहा है, तव उसकी दवा करने का परिणाम, गर्भ में रहने वाले वच्चे के लिए, खतरे से खाली नहीं है।'

संस्कारों की जड़ता से स्वामी की मान्यता भी कुछ इसी प्रकार की थी। अतएव उसने कुछ भी वोलना उचित नहीं समझा।

उच्च-शिक्षा के अभाव के कारण स्वामी में संस्कारगत कुछ दोप आ गये थे। रूप का ही मोह उनमें अधिक था। वह मुझको प्यार तो करते थे। किन्तु इसमें तो कोई सन्देह नहीं, रात में कभी-कभी जव मेरी खाँसी वढ़

जाती, तब वह मेरे निकट आकर पूछते—"तुमको अब खाँसी बहुत आने लगी है और यह बात मेरे लिए बहुत बड़ी चिन्ताजनक है। देखो मीरा, मैं किसी कीमत पर तुमको खोना नहीं चाहता। कल ही मैं लेडी डाक्टर मिस नायर के पास जाऊँगा और उनको यहाँ ले ही आऊँगा।" लेकिन जब थोड़ी देर में मेरी खाँसी थम जाती तो मैं स्वयं बोल उठती—"तुम चिन्ता न करो, थोड़े दिनों की तो बात है; मैं तब बिल्कुल अच्छी हो जाऊँगी।"

ऐसे समय स्वामी बोल उठते—"हाँ, तुम ज़रूर अच्छी हो जाओगी।"

वह इतना जानते थे कि इस प्रकार के रोगी को कभी निराश नहीं करना चाहिए।

स्वामी ने एक दिन माँ के पास जाकर कहा—"अम्मा, आज तो मैं सो नहीं सका।"

अम्मा बोली—"हाँ बेटा, बहू को खाँसी बहुत आती है।"

संयोग से ऐसे समय बाबू वहाँ आ पहुँचे और बोले—"देखो माया, बहू को सचमुच बहुत खाँसी आती है, बहुत आती है खाँसी बहू को। रात को मैं भी बड़ी देर तक इसी ऊँद-बौंद में पड़ा रहा कि अब क्या करना चाहिए। मुझको तो ऐसा जान पड़ता है कि उसको हल्का-हल्का ज्वर भी अवश्य बना रहता होगा। अच्छा, तुम एक काम करो। आज एक थरमामीटर ले आओ।"

उस दिन बात यहीं समाप्त हो गई। और जब स्वामी संध्याकाल बड़े डाकघर से लौटे, तो थरमामीटर लगाकर उन्होंने जो मेरा तापमान लिया तो वह यह देखकर और भी अधिक चिन्ता में पड़ गये कि उसका तापमान एक सौ और एक सौ एक के बीच में है। पर यह हुई सायंकाल की बात। अब रात की बारी आई। धीरे-धीरे नौ, दस, ग्यारह और बारह बजे, फिर दो बजे फिर खाँसी आई और बराबर आती रही। अम्मा और बाबू उठ बैठे। कमरे के बाहर की कुंडी खटकी। स्वामी बोले—"आया बाबू।" और उन्होंने तुरन्त दरवाज़ा खोल दिया। बिजली की बत्ती उन्होंने पहले ही

जला दी थी। फिर मेरा तापमान लिया गया, तो वह १०२.५ निकला।

इसके बाद बाबू, अम्मा और स्वामी अलग-अलग जाकर देर तक धीरे-धीरे वार्तालाप करते रहे। बाबू के मुँह से निकल गया—"अब तो बहू की हालत सचमुच बहुत चिन्ताजनक है। और तभी अम्मा बोल उठी—"अब तुम एक काम करो माया—तुम इस कमरे में मत सोया करो, अपने बाबू के पास ही सोना तुम्हारे लिए उचित है।"

तब उसी क्षण स्वामी की चारपाई बाबू के पास पड़ गई।

इस प्रकार मैं उस अवलम्ब से भी वंचित हो गई जिस पर मेरा जीवन और नारीत्व आधारित था। जब तक वीणा इलाहाबाद में थी, तब तक वह अपना दुःख-सुख उससे कह भी लेती थी। अब मेरी आत्मीयता का यह एक सहारा भी मुझसे दूर हट गया था।

यह प्रसंग बड़ा मर्मान्तिक है। यह वेदना बड़ी प्राणपीड़क होती है। अब स्वामी का आश्वासन-भरा हाथ भी मेरे जीवन से दूर हट गया। फिर वह उत्तरोत्तर दूर ही हटता चला गया!...

यह मनोमंथन मीरा में नित्य चलता रहा।

× × ×

इस परिस्थिति का भी एक कारण था। गया और जमुना दोनों ने एक मत से माया को इस बात के लिए राज़ी कर लिया था कि अब उसको बहू से सदा दूर-ही-दूर रहना चाहिए; क्योंकि यह रोग, कहते हैं, बड़ा संक्रामक होता है।

इधर धीरे-धीरे काल के चरण चल रहे थे, उधर धीरे-धीरे मीरा के दिन। दिन ज़रूर चल रहे थे, लेकिन जीवन नहीं चल रहा था। जीवन की गति गतिशील नहीं थी। एक ओर दिन आगे बढ़ते जाते, दूसरी ओर मीरा का कोई एक दिन निकट आता जाता। दिन तो चल रहे थे, पर अवधि के दिन आगे न बढ़कर पीछे लौट रहे थे!

मीरा अब दिन-रात लेटी रहती। खाना धीरे-धीरे कम हो गया था।

वह घी की वनी कोई वस्तु न खा सकती थी। दूध भी वह वहुत ही कम ले पाती। शरीर की शक्ति दिनानुदिन घटती जा रही थी। जीवन अपना संवल खोता जा रहा था।

मीना को प्रायः अनार का रस दिया जाता। एक दवा तो उसे अव दी ही जाती थी। पथ्यापथ्य और खान-पान की व्यवस्था में भी एक योग्य वैद्य का परामर्श आवश्यक रूप से चलता रहता था। उसे ग्लूकोज़ दिया जाता। जव तवियत वदलने की मीरा की इच्छा होती तो मूंग की दाल का पानी भी वह प्याला-भर—और कभी-कभी आधा प्याला-भर ही—ले पाती। शरीर धीरे-धीरे क्षीण होता जा रहा था।

अव माया को यह विदित हो गया था कि मीरा जा रही है। वह इस संसार से जा रही है, उसके जीवन से जा रही है। किन्तु इस अवस्था में भी, जव कि माया को अपने माता-पिता का स्पष्ट आदेश था कि उसे कभी वहू से मिलना नहीं चाहिए, तव भी माया इस ताक में रहता कि माँ क्या कर रही हैं और वावू कहाँ है। ऐसे अवसर भी आ जाते हैं कि गया वावू को घंटे-आध-घंटे के लिए वाहर जाना पड़ता और माँ स्नानागार में रहतीं या रसोईघर में। तव माया चुपके से मीरा के पास जाकर इतना भर पूछ लेता—"कैसी तवियत है मीरा ?"

मीरा एक सती नारी थी। वह स्वामी को ही अपना सर्वस्व मानती थी। उसकी सेवा में ही उसका यह दाम्पत्य जीवन वीता था। यह वात दूसरी थी कि वह शंकर के प्रति एक आदर की भावना रखती थी। यह तो वात ही दूसरी थी कि वह उसकी निकटता चाहती थी, उस निकटता के साथ उसकी आत्मीयता का सम्वन्ध वहुत ही पवित्र था। वह हास्य और क्रीड़ा, मनोविनोद और वार्तालाप के माध्यम से अपना जीवन सरस-प्रफुल्ल रखना चाहती थी, गुलाव-सा खिला हुआ। पर जव स्वामी को यह भी स्वीकार नहीं हुआ तो वह उसका मुँह देखकर चलने लगी। धीरे-धीरे उसने अपने आपको स्वामी के प्रति सर्वथा अनुकरण और

समर्पणशील बना लिया था। स्वामी का प्यार उसके लिए एक ऐसा अवलम्ब था, जिसके सहारे वह जीवन-धारा के साथ-साथ बहती जा रही थी। किन्तु हमारे सामाजिक संस्कारों का ही नहीं, आज की तथाकथित स्वास्थ्य-समर्थक वैज्ञानिक मंत्रणाओं का भी यह एक अभिशाप था, जो वह उन दिनों अपने स्वामी की छाया से भी वंचित हो गई थी। अतएव ऐसे अवसरों पर जब मायाबाबू ऐसा प्रश्न करते, तो वह अपनी हार्दिक पीड़ा का आवेग सँभाल न पाती। आँसू हृदय का रुद्ध द्वार खोलकर नयनों से झर पड़ते। उसकी सिसकियाँ उभर उठतीं और उसकी साँसों का उतार-चढ़ाव बढ़ जाता, पसलियाँ धौंकनी बन जातीं और दो-चार मिनट के बाद जब वह कुछ शांत और स्थिर हो पाती, तभी आँसुओं के साथ उसका कंठ फूट उठता। इस बीच माया उसे सान्त्वना के स्वर में समझाने लगता—"रोओ मत मीरा, रोने से तुम्हारी तबियत और खराब हो जायगी।"

किन्तु इन अवस्थाओं में एक बंधन और मायाबाबू के सामने रहता। वह यह कि अगर पत्नी का रुदन माँ ने सुन लिया, तो उसका यह गुप्त मिलन भी माँ को विदित हो जायगा। तब वह धीरे से कह देता—"देखो मीरा, अगर तुम इस तरह रोओगी, तो अम्मा अभी दौड़ पड़ेंगी। फिर मेरी स्थिति कितनी दयनीय हो जायगी! फिर तो मैं तुमसे मिलने का अवसर भी न पाऊँगा!" ऐसी स्थिति में मीरा रुद्ध कण्ठ और आर्द्र पलकों से उत्तर देती—"तो तुम जाओ न? किसने कहा था कि तुम यहाँ मुझसे आकर मिलो। अब जाओ, चले जाओ यहाँ से। माँ का ही कहना मानो। मुझसे मिलने मत आया करो।"

पत्नी की यह मर्मवाणी सुनकर मायाबाबू स्वयं भी अपने आँसू रोक न पाता। कई बार ऐसा हुआ कि उसका कण्ठ भर आया। वह आता तो था मीरा को सांत्वना देने, किन्तु जब वह स्वयं अपना धैर्य खो बैठता और रोने लगता, तो उस समय उस अवस्था में फिर उसको सांत्वना कौन देता?

एक बार इन्हीं घड़ियों में जब दोनों रो रहे थे, दोनों आँसू पोंछ रहे

थे, दोनों की सिसकियाँ उभर-उभर उठतीं और दोनों अपने-आपको रुदन से रोक न पाते, तभी यमुना आ पहुँची और बोली—"अरे माया, तू यहाँ क्यों आ पहुँचा ? आखिर तुम लोग चाहते क्या हो ! कम-से-कम तुमको अपने माता-पिता की ओर तो देखना चाहिए ! अगर तुमको भी इसी रोग ने पकड़ लिया, तब हम लोग लुट जायँगे, कहीं के न रहेंगे ! अरे बेटा, कुछ तो ख्याल किया कर, अपनी माँ का, अपने बाबू का।"

फिर इतना कहते-कहते यमुना बोली—"देखो बहू, अब जितने दिन तुम्हारा जीवन है, कम-से-कम उतने दिन तो तुमको स्वामी का यह मोह छोड़ ही देना चाहिए बेटा !"

मीरा सास के आते ही बहुत डर गई थी। अब उसकी साँसों का वेग बढ़ गया था। वह अपने तकिया पर गिरकर मूर्छित हो गई।

माया की ओर देखकर अब यमुना बोली—"तुम अब इसके पास कभी मत आना बेटा। तुम्हें हमारी क़सम है, कभी इसे मत छूना, कभी इस पलँग के पास न आना। बस जाओ, जाओ।"

माया के आँसू न रुकते थे। उसका मन भीतर से विद्रोह कर रहा था, किन्तु फिर वह माँ की यह आज्ञा न टाल सका और चुपचाप आँसू पोंछता हुआ कमरे से बाहर चला गया।

फिर संध्या हुई। सवेरे का यह दृश्य कितना दुःखद था, यमुना ने विस्तार से उसकी कथा स्वामी से कह दी। अपने कथन के साथ जब यमुना बोली—"तुम्हें माया को रोकना होगा। माया के बाबू, तुम्हें उससे साफ-साफ कहना होगा कि अपनी प्राण-रक्षा के नाम पर, अपने भविष्य के नाम पर, मुन्ना के नाम पर, तुमको हमारी यह आज्ञा माननी ही पड़ेगी। हमारे सामने जो संकट आ गया है, उससे बचना हमारा धर्म है।"

यमुना जब अपनी बात पूरी कर चुकी, तब गयाबाबू बोल उठे—"तुम जो बात कह रही हो, उसके महत्त्व को मैं समझता हूँ। माता-पिता की आज्ञा मानना, मानता हूँ, बड़ी चीज़ है। लेकिन मनुष्य के हृदय का,

उसका अपना धर्म उससे भी बड़ी चीज़ है यमुना। तुम इस विषय को इस तरह क्यों नहीं सोचती कि भगवान् न करे, कभी ऐसा दिन आये कि तुम इस तरह बीमार पड़ो। भगवान् न करे कि किसी के जीवन में ऐसा दिन आये, जैसा आज माया के सामने है। लेकिन ज़रा सोचो, अगर मेरे जीवन में ऐसा दिन आया होता, तो धीरज बँधाने, सांत्वना देने और आँसू पोंछने के लिए क्या मैं तुम्हारे पास न आता? यमुना, यह विषय बड़ा विवादग्रस्त है। मैं माया से ऐसी बात न कह सकूँगा। मुझसे यह काम न होगा। मैं उसको बहू के पास जाने से रोक नहीं सकता। हृदय के धर्म को मैं शरीर के धर्म से बहुत ऊपर मानता हूँ।"

जिस समय गयाबाबू यमुना को इस तरह समझा रहे थे, उस समय द्वार की ओट में खड़ा हुआ माया सारी बातें चुपचाप सुन रहा था। वह कमरे के भीतर तुरन्त प्रवेश करता हुआ बोल उठा—"आज मैं लेडी डाक्टर मिस नायर के पास गया था। वह बोलीं—सवेरे ही देखना अच्छा होता है। इसलिए वे कल आयेंगी।"

लेकिन दूसरे दिन जब मिस नायर ने मीरा को देखकर उसकी परीक्षा की, तो उसने कह दिया—"अब यहाँ कुछ नहीं हो सकता। आपने बहुत देर कर दी। अब इसको पहाड़ पर ले जाइए। देखो, भगवान् शायद बचा ही दे। आदमी को कभी निराश नहीं होना चाहिए।"

माया ने मिस नायर को तो फीस देकर तत्काल विदा कर दिया। पर फिर उसे यमुना और गयाबाबू दोनों से यह स्पष्ट कह देना पड़ा कि मैं इसको पहाड़ पर ले जाऊँगा। इस मामले में मैं अब किसी की कोई और बात न सुनूँगा।

यमुना पहले तो माया को बहुत समझाती रही—"देखो, हठ मत करो बेटा, कहा मानो।" फिर जब उसने दूसरे विवाह का नाम लिया, तो माया ने भावना में डूबकर आँसुओं के स्वर में कह दिया—"मुझे इसका पूरा इलाज कर लेने दो माँ। अन्यथा मैं इसका वियोग सहन न कर पाऊँगा।"

---

## : ३२ :

नैनीताल का राजपथ। यहाँ उत्तरप्रदेश के अनेक बुद्धिजीवी ग्रीष्म-कालीन छुट्टियाँ मनाने के सिलसिले में प्रायः नित्य सायं-प्रातः टहलते मिल जाते हैं। इनमें उच्चस्तर के राज्य-कर्मचारी तो होते ही हैं, साथ ही वे प्राध्यापक और वयस्क छात्र भी होते हैं, जिन्हें किसी-न-किसी प्रतियोगिता से संलग्न रहने के कारण, जीवन की नाना समस्याओं के समाधान का एकान्त अवसर मिलता रहता है। इनमें उद्योगपतियों के पुत्र, साले-बहनोई-जामात्र और कार्याधिकारी, कवि, कलाकार और मध्यवर्ग के वे भ्रमण-प्रेमी भी होते हैं, जिनमें स्वास्थ्य-संचयन एवं पार्वत्य सौन्दर्य और प्रकृति-छटा की अभिनव किंवा मनोहर दृश्यावली के साथ-साथ अपने जीवन के सम्बन्ध में भी नाना प्रकार के स्वप्न देखने की तीव्र लालसा होती है। इन्हीं में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जो अपने किसी आत्मीय स्वजन को केवल स्वास्थ्य-संचयन के उद्देश्य से यहाँ ले आते हैं और फिर दो-चार मास पश्चात् वापस लौट जाते हैं—कभी सफलता के आनन्द में विभोर, कभी असफलता के दारुण आघात से निष्प्राण, निर्जीव, प्रस्तर का हृदय बनाकर !

शंकर भी जोशीजी से मिलने के लिए नैनीताल आया हुआ था और उन्हीं की कोठी पर ठहरा हुआ था। दिन-भर अत्यधिक व्यस्त रहने के अनन्तर वह सायंकाल जो घूमने निकला, तो ताल के किनारे पश्चिम की ओर ऊपर उठते ऊँचे जाते हुए राजपथ पर पान की एक दुकान के आगे खड़ा हो गया।

संयोग जीवन में आते ही रहते हैं। पर कुछ संयोग अपना एक विशेष

महत्त्व रखते में—यहाँ तक कि भाग्य बन जाते हैं। अनीश्वरवादी तो भाग्य पर विश्वास करते नहीं, पर संयोग की सत्ता वे भी स्वीकार करते हैं।

हाँ, तो वहाँ शंकर को पान की दुकान पर खड़ा देख एक व्यक्ति आगे बढ़ता-बढ़ता रुक गया। उसके सिर के केश बढ़े हुए थे; उसकी दाढ़ी तीन दिन की उमर पा चुकी थी। उसके शरीर पर एक गरम कोट था; जिसे अब ड्राई-क्लीनर के घर, मेहमानदारी के लिए जाना था। उसकी क़मीज़ की आस्तीन का श्वेत कालर कोट की आस्तीन से बाहर झाँकता हुआ अपने स्वामी की व्यस्तता का परिचय दे रहा था। उसके जूतों में कई दिनों से पालिश नहीं हुई थी; यह भी ऐसी कोई असाधारण बात न थी। पर उनके आगे के भाग में कीचड़ के छींटे पड़े हुए थे, जो अब सूखकर मटमैले हो गये थे। उन जूतों के फीतों के किनारे भी कीचड़ से सन जाने के कारण सिकुड़ गये थे और उनका ब्राउन रंग भी अब मिट्टी के वर्ण का हो गया था।

एकाएक शंकर की दृष्टि उस पर जा पड़ी। तभी वह उस ओर बढ़कर उस व्यक्ति के पैर छूने लगा।

लेकिन अभी शंकर का हाथ उसके पैर तक पहुँच भी न पाया था कि उसने उसे झट बीच में ही थामते हुए कह दिया—"बस, बस मुन्नी।" फिर वह टकटकी लगाकर शंकर ने उन्नत मुख को देखता रह गया। एक बार उस व्यक्ति के मन में आया—'यही वह शुभ्र मोहक मुख है, जिसका मैंने उपहास किया था, अपमान किया था!'

क्षण-भर बीता, दो क्षण बीते कि बस, इतने में ही उस व्यक्ति का सिर नीचा हो गया। किन्तु उससे पूर्व शंकर ने लक्ष्य किया, उसकी आँखों में आँसू आ गये हैं।

अब शंकर से चुप न रहा गया। उसने पूछा—"सब कुशल तो है भैया?"

माया ने कोट के जेव से एक नया रूमाल निकालकर आँखों से लगाते-लगाते उत्तर दिया—"कुशल ही तो नहीं है। मुन्नी, रन्नो ने शायद वतलाया हो…!"

"हाँ इतना ही वतलाया था कि भाभी की तवियत कुछ अस्वस्थ रहती है।" कहते-कहते शंकर कुछ रुक गया। इसके आगे वह यह कहना नहीं चाहता था पर एकाएक उसके मुँह से निकल गया—'लेकिन भतीजा हो जाने के वाद फिर आप-से-आप तवियत ठीक हो जायगी।'

"हाँ, उस समय तक तो ऐसी कोई चिन्ता की वात न थी, पर अव…।" माया कहते-कहते रुक गया। क्योंकि जो-कुछ उसको और आगे कहना था, उसे उसके आँसुओं ने पूरा कर दिया !

"लेकिन यहाँ नैनीताल में…?" शंकर के प्रश्न का आशय यह जानने का था कि वह ठहरा कहाँ है तव तक माया एक ओर चलता हुआ वोला—

"हाँ, जव डाक्टर मिस नायर ने कहा—'पहाड़ पर ले जाइए, पहाड़ पर', तव मुझे यहीं लाना पड़ा। लेकिन यहाँ का जीवन महँगा अधिक है। इसलिए सोचता हूँ, भुवाली ही चला जाऊँ। वहीं ठीक रहेगा।"

तव शंकर एकदम से चुप रह गया। अव धीरे-धीरे मीरा की सभी सुधियाँ उसके मानस-पट पर दृश्यमान होने लगीं।

आसुओं से भरे हुए वे कमलनयन, पान की लाली से भी अधिक अरुणारे वे अधर, गदराये यौवन-विटप की वह कमनीय देहयष्टि, मूक दृष्टिक्षेप की वह सार-गर्भित हास-माधुरी और शीघ्रता के नाना अवसरों पर वह मृगी की-सी उछल-कूद।

एकाएक एक निःश्वास, फिर उस पर अप्रकट नियंत्रण।

शंकर अव भाभी के सम्वन्ध में उससे क्या पूछे ? पूछे कि क्यों वे इतनी वीमार पड़ गईं ? ऐसा कौन-सा अभाव था उनके जीवन में, जिस की पूर्ति में तुम अकृतकार्य रहे ? वह कौन-सी दारुण प्रतारणा थी, जिसने उनका जीवन इतना दुष्कर वना दिया ? क्या तुमने कभी उनकी किसी

साध की अवमानना की ? क्या तुमने उनकी किसी हार्दिक आकांक्षा को अत्यधिक निर्ममता के साथ कुचल डाला ? आख़िर ऐसी बात क्या हुई, जिसका ऐसा भयावह परिणाम आज हमारे समक्ष है ? क्या कभी उनको किसी मित्र का स्मरण आता था ? क्या वे उसे कोई पत्र लिखना चाहती थीं, पर तुम्हारे संकेतों पर अहर्निश नाचते रहने के कारण उन्हें इसके लिए अवसर नहीं मिलता था ? ऐसा बन्धन क्या था, जिससे निरन्तर कसी-बँधी-जकड़ी रहते-रहते उनका हृदय-पटल छलनी पड़ गया ? खाँसी तो नहीं आती, इतनी अधिक कि गले की नसें तक सूज-सूज जाती हों, कण्ठ की परिधि तक फूल-फूल उठती हो, फेफड़ों में मन्द-मन्द पीड़ा होने लगती हो ? खाँसी के साथ-साथ कफ़, कफ़ के साथ-साथ रक्त—तो···? नींद ख़ूब भला क्या आती होगी ? तुमसे अधिक बातें—कभी व्यंग्य के साथ और कभी विवश-विपन्न मर्मान्तिक विनय के साथ—भला क्या करती होंगी ! वह मुस्कराते-मुस्कराते बाईं ओर होंठ दबा लेना, वह हँसते-हँसते अंचल से मुख पर आवरण डाल लेना, तो अब भला क्या देखने को मिलता होगा !···

प्रश्नों की कहीं सीमा बनी है, जब जीवन स्वयं एक महान् प्रश्न बन गया हो ! प्रश्न उठते गये और फिर हृदय की ज्वाला में आप-ही-आप धुआँ बनकर अन्तर्धान होते गये ! शंकर ने कोई प्रश्न नहीं किया।

दोनों पूर्व की ओर जानेवाले एक ऊँचे मार्ग पर चढ़ रहे थे। माया ने इतने में देवदारु वृक्ष से लगी एक शिला के ऊपर पैर रखकर स्थिर होते हुए कह दिया—"मुन्नी, अब भी तुम मुझसे नाराज़ ही बने होगे !"

शंकर ने माया के मुख की ओर देखा, तो उसे थोड़ा आश्चर्य हुआ। फिर वह अपने आप से पूछने लगा—'क्या ये वही माया भैया हैं जिन्होंने बड़े अभिमान के साथ उस दिन कहा था कि अगर मुन्नी मेरा छोटा भाई होता तो इतनी देर करके कभी घर न लौटता और अगर लौटता तो···!"

शंकर ने किंचित् मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"नहीं तो ; बल्कि

बिल्कुल उल्टी बात हुई भैया। अनेक बार मैंने सोचा कि तुम्हारे उस रूखे व्यवहार के भीतर भी विधाता की उस पावन रचना का ही विधान था, जिसके द्वारा मेरी उन्नति का मार्ग उत्तरोत्तर प्रशस्त होता गया।"

माया ने अनुभव किया—'वाह; कितना निर्विकार मन पाया है इस मुन्नी ने!'

"यह भी तुम्हारा बड़प्पन है मुन्नी।" कहते-कहते माया फिर ऊँचाई की ओर बढ़ता हुआ नतमुख हो उठा।

कई मिनट तक माया ने फिर शंकर से कोई प्रश्न नहीं किया। किन्तु थोड़ी देर में जब माया उस कमरे के द्वार की ओर मुड़ने लगा, जिसके अन्दर रुग्ण मीरा पलँग पर लेटी हुई थी, तब वह फिर खड़ा हो गया और बोला—"मुन्नी, तुम मुझसे उमर में छोटे हो और अब तक मेरे आशीर्वाद के ही अधिकारी बने रहे हो, किन्तु आजकल मैं नित्य यही सोचा करता हूँ कि इन्हीं कुछ वर्षों में तुम्हारे सामने मैं कितना छोटा हो गया हूँ!"

हीन-भावना मनुष्य का दर्प ही नहीं, आत्मगौरव भी नष्ट कर देती है।

"नहीं-नहीं भैया, अपने मन में ऐसी कोई बात मत लाओ। लाओगे, तो मुझे दुःख होगा।" कथन के साथ-साथ शंकर को अब वे सारी बातें स्मरण आने लगीं, जिनके कारण उन दिनों मीरा का उससे मिलना-जुलना भी दुर्लभ हो गया था।

थोड़ी देर के लिए अब शंकर को एक-दूसरे कमरे में बैठना पड़ा; क्योंकि ज्यों ही माया ने मीरा को यह सूचना दी कि मुन्नी रास्ते में अचानक मिल गया। वह तुम्हें देखने आया है, त्यों ही मीरा थोड़ी देर के लिए अस्थिर और अस्त-व्यस्त हो उठी। पहले तो आँखों के पलक ही झपक गये। फिर अपने सिर पर अपना हाथ रख लिया। पलँग से लगी हुई टेबिल पर कुछ फल रक्खे थे, थोड़ी देर में चेतन होकर उसने उन्हें उठवा दिया। फिर दर्पण उठाकर उसमें अपना मुख देखा। स्नो,

पाउडर, लिप-स्टिक, नेल-पालिश, ऑटो-सेंट और सिंदूर आदि शृंगार-प्रसाधन की सामग्री वह साथ ले अवश्य आई थी। पर वह अब तक ट्रंक के भीतर पड़ी हुई थी। तत्काल उसे माया से निकलवाकर उनका उपयोग करती-करती हँसती हुई वह बोली—"तुमको ईर्षा तो नहीं हो रही है कि देवर के आने पर मुझे एकाएक यह पागलपन सूझ रहा है!"

माया उस समय पास लगे दूसरे कमरे में था।

मीरावाले कक्ष के द्वार पर आकर वह बोल उठा—"अगर मुन्नी आज तुमको कोई ऐसी बूटी सुँघा दे, जिससे तुम्हारी तबियत बिल्कुल ठीक हो जाय, तो जानती हो इसके बदले में मैं उसको कौन-सी वस्तु तक देने को तत्पर हो सकता हूँ?"

तब इस पर कुछ सोचती हुई-सी मीरा मुँह बिचकाकर बोली—"उँह! जानने से ही क्या होता है! और बदला भी तो तभी चुकाया जाता है जब कोई उसे लेना चाहता है।"

कदाचित् मीरा अभी कुछ और कहती; और कुछ न कहती तो इस कथन को ही कुछ स्पष्ट करती, पर तब तक माया ने परदा हटाते हुए कह दिया—"हाँ, अब आ जाओ मुन्नी।"

शंकर जब दरवाज़े पर आ खड़ा हुआ तब माया जैसे जान-बूझकर अपने लिए एक आवश्यक कार्य खोजते हुए बोला—"मैं ज़रा डाकखाने जा रहा हूँ। अभी दस मिनट में लौट आऊँगा। शायद आज ड्राफ्ट आ गया हो।" और इस कथन के अनन्तर मन-ही-मन कुछ सोचता-सोचता वह चला भी गया।

मुँह ऊपर उठाकर मीरा बोली—"आओ, आओ लाला।"

हाथ जोड़कर नमस्ते करता हुआ शंकर अन्दर आकर जब कुर्सी पर बैठ गया, तब मीरा ने कह दिया—"मैंने तो समझा था कि अब तुमसे क्या भेंट होगी; पर सौभाग्य से तुम आज उनको मिल ही गये!"

इस बार मीरा ने धीरे-धीरे कुछ रुक-रुककर अपना यह कथन पूरा किया।

शंकर ने लक्ष्य किया, भाभी दुर्बल अवश्य हो गई हैं ; पर मुखश्री में दुर्बलता के अनुपात से कहीं अधिक दीप्ति है। नयनों के नीचेवाले पलकों पर थोड़ी कालिमा-सी अवश्य झलकने लगी है; किन्तु मन्द हास में अब भी थोड़ा सलोनापन है ! उन दिनों कानों में टॉप्स पहना करती थीं; अब उनके स्थान पर ये सोने की झुमकियाँ हैं। बायें हाथ की अनामिका में पहले वह मीनाकारी की मुद्रिका धारण करती थीं; अब उसके स्थान पर यह जो मुद्रिका है, उसमें पुखराज का एक बड़ा नग सुशोभित है। पैरों की अंगुली में मछलियाँ और लाल-लाल एड़ियों पर नई शैली की पायल भी पूर्ववत् है; पर हाथों के कंगन अब ढीले पड़ गये हैं !

"हाँ भाभी, सचमुच मेरे भाग्य से ही भैया आज अचानक मिल गये ! ...मैंने रेणु से सुना तो था कि तुम कुछ अस्वस्थ हो। पर उसका कारण मैंने उस समय कुछ दूसरा समझ लिया था।" शंकर यह बात कह तो गया, पर फिर यह सोचकर रह गया—'अरे मूर्ख ! अब भी तुझे उसी कारण की पुष्टि करनी चाहिए थी—!'

हँसने का उपक्रम करती हुई मीरा बोली—"पहले अम्मा का भी ऐसा ही विचार था।"

कथन के बाद फिर मीरा थोड़ी गम्भीर हो उठी और तब उसके मुँह से निकल गया—"कुछ हो, अब क्या हो सकता है ! दो महीने—हद चार महीने !" और उसके बाद वह तकियों पर सिर रखकर लेट गई। बोली—"क्षमा कर देना मुझको लाला। अब ज़्यादा देर तक बैठ नहीं पाती।"

शंकर ने धैर्य्य और आश्वासन के स्वरों में उत्तर दिया—"यह सही है कि मनुष्य की सारी आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं होतीं। पर यह भी उतना ही सही है कि कुछ आकांक्षाएँ मनुष्य प्रायः ऐसी भी मन-ही-मन सँजो लेता है, जिनकी पूर्ति में उसके अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ का हाथ लग ही नहीं पाता। न समाज की आँख उसे सहन और स्वीकार कर सकती है—न कालान्तर में मनुष्य स्वयं उसके लिए लालायित-जैसा अपना मुँह

वनाकर गौरव का अनुभव कर पाता है ! सवसे वड़ी विवश-विपत्ति यह है कि मनुष्य दूसरों को नहीं, स्वयं अपने-आपको समझने में भी भूल कर वैठता है !"

"समझ रही हूँ, तुम क्या कह रहे हो ! आज ही नहीं उस दिन भी समझ गई थी, जव तुम खाने-पीने की साधारण वातों में भी प्रायः मेरा पक्ष ले-लेकर उनसे लड़ाई मोल ले लिया करते थे !" कहकर मीरा क्षण-भर को रुककर एक निःश्वास-सा लेकर वोल उठी—"लेकिन अव तो नाव किनारे की ओर चल पड़ी है लाला !"

फिर उसने पलक मूंद लिये और शंकर भ स्तब्ध हो उठा !

एक क्षण···दो क्षण। उसके अनन्तर प्रतिमा-जैसी स्थिर तद्वत् लेटी-लेटी मीरा के मृगलोचनों से मोती फूट पड़े। तभी शंकर वोल उठा—"वुरी वात है भाभी। विधाता की इस पावन रचना के नाम पर मनुष्य का यह निर्वाध क्रन्दन उसके ज्ञान और विवेक का द्योतक नहीं, दुराग्रह और वालहठ की वह प्रगल्भ लीला है, जिसे हम केवल साधना और त्याग से ही जीत सकते हैं।"

"आः ! यह मैं क्या सुन रही हूँ ! कहते चलो लाला, कहते चलो। लो, मैं फिर आँखें मूंद लेती हूँ। अव रुकते क्यों हो ? रुकने का कोई काम नहीं है···पर हाँ, यह भी ठीक है। तुमको तो रुकना ही है। जाना तो केवल मुझे है। जाना मुझको ही है अकेले। कोई किसी के साथ नहीं आता—न कोई किसी के साथ जाता है।" कहती-कहती मीरा एकाएक चुप हो गई। थोड़ी देर को उसकी आँखों के पलक मुंदे रहे। फिर एका-एक जो खुले, तो दायाँ हाथ उठाती हुई वह वोल उठी—"यह जीवन तो अव चला लाला।"

शंकर सुनकर अत्यन्त मर्माहत हो उठा।

तव मीरा वोल उठी—"इस जीवन की अभिलाषा अगले जीवन में पूरी होगी कि नहीं, मैं नहीं जानती। पर शायद तुम जानते होगे। क्यों ?"

"यह तुम क्या कहने लगीं भाभी ! भगवान् चाहेगा तो इसी जीवन में तुम्हारी सारी अभिलाषाएँ पूर्ण होंगी ।" शंकर ने कुछ सान्त्वना के भाव से जो कह दिया तो मीरा एकाएक सिहर उठी । एक-दो वार उसने पलक मूँद-मूँदकर इधर-उधर कुछ देखा फिर वोली—"यह मिथ्या आश्वासन है ।...खैर जाने दो । मैं कुछ वहक गई थी । तुम मुझे क्षमा कर देना लाला ।" फिर क्षण भर को रुक गई । फिर उसने अपने पलक मूँद लिये । फिर सिर पर उसका दायाँ हाथ जा पड़ा ।

शंकर ने एक निःश्वास को उभरने से रोककर कह दिया—"भाभी, मैं तो इस योग्य नहीं कि तुमको आश्वासन-जैसी कोई हार्दिक निष्ठा दे सकूँ । लेकिन इतना मैं जानता हूँ कि वे जो अन्तर्यामी हैं, तुमको अवश्य ऐसा धैर्य्य देंगे ; क्योंकि कुछ हो, तुम्हारी यह आत्माहुति इस कृत्रिम जगत् के लिए भले ही अपराध हो ; पर जिसने हमें उत्पन्न करके यहाँ भेजा है, उस परमपिता की पावन दृष्टि में तुम्हारा यह उत्सर्ग आश्वासन का ही सही, उस गौरव का भी अधिकारी होगा जो मानवात्मा का प्रकृत और चिरन्तन सत्य ही नहीं, अक्षय धर्म भी है ।"

मीरा ने फिर पलक खोल दिये । ढुलकते अश्रुमोती फिर रूमाल से पोंछ लिये । फिर किंचित् सावधान होकर वह वोली—"अच्छा लो, मेरे यह कंगन ले लो । जव कभी मेरी देवरानी घर के आँगन में अपना पहला पग रक्खे, तो उस समय इसे मौसी के द्वारा भेंट करवा देना । फिर जव अवसर मिले तव तुम एकान्त में उसे इतना-भर समझा देना कि मेरी एक भाभी थी, वह इसे तुमको भेंट में दे गई है और कह गई है—"रात में सोने से पहले मेरे लाला को कुनकुना गाढ़ा मीठा दूध पिलाना कभी न भूलना । और सन्ध्या समय के खाने में आध पाव नुक्ती ! आः आः, ले लो लाला—अरे मेरा यह कंगन...अव तो मुझसे ले लो !"

शंकर को सदा इस वात का गर्व वना रहता था कि मुझसे कभी भू

हो नहीं सकती। आँसू को वह मन की दुर्वलता मात्र मानता था। पर इस समय वह भी अपने आँसू रोक न सका।

मीरा तव कुछ ज़ोर लगाकर उठी और कंगन उसने शंकर के जेव में डाल दिये!

इतने में वहुतेरे फल, नमकीन, मिठाई और साथ में पास के रेस्तोराँ से एक व्वाय के द्वारा चाय की ट्रे लिवाकर माया निकटवर्ती कक्ष में आ पहुँचा और वोला—"मैंने जल्दी तो वहुत की मुन्नी, मगर···! अरे! तुम भी रो उठे मुन्नी! मैं तो तुमको सान्त्वना के विचार से ले आया था!"

इतने में मीरा कुछ सावधान होकर वोल उठी—"लाला को कोई वढ़िया मिठाई ले आये कि कहीं! कितनी देर से इसी प्रतीक्षा में वैठी हूँ कि कव तुम आओ और कव मैं लाला से जलपान के लिए कहूँ। एक युग के वाद तो दिखाई पड़े हैं। और अव···।" कहते-कहते मीरा ने फिर पलक मूँद लिये। माया ने शंकर को निकट के दूसरे कमरे में ले जाकर वड़े आग्रह से जव चाय पिलाना आरम्भ किया, तव मीरा ने अपने तकियों को उसी ओर रख देने का अनुरोध करते हुए कहा—"हाँ, अव ठीक है।"···फिर थोड़ी रुककर वोल उठी—"काश, मैं उस दिन तक और चल सकती, जव देवरानी का मुँह देखकर उसकी वलैयाँ लेती। उसे प्यार करती और कुछ दिन उसके साथ रहकर उसे इतना समझा पाती कि पति विधाता की कैसी प्यारी देन है!"

माया जव शंकर के आगे रखे हुए कप में दूसरी वार चाय डालने लगा, तभी शंकर आँसू पोंछता हुआ उठ खड़ा हुआ। वोला—"वस वहुत हो चुका भैया। अव मुझे आज्ञा दो।"

पर तव तक मीरा अचेत हो चुकी थी! फ़ोन की जो घंटी वज रही थी, उसका संचार एक डाक्टर के हाथ से हो रहा था।

---

: ३३ :

दुकान बन्द करके जब कैलाशबाबू सुरेश के साथ लौटे, तब वे आपस में वार्तालाप करते हुए इतने प्रसन्न थे, जैसे उन्होंने जग जीत लिया हो। अब वे दोनों मन में अलग-अलग अपने ढंग से सोच रहे थे।

कैलाशबाबू : हुँः हुँः उन्होंने समझा होगा, हमारे बिना काम नहीं चलेगा। लेकिन उन्होंने यह नहीं समझा कि जब भैंस का दूध नहीं मिलता, तब लोग गाय का दूध कुछ गाढ़ा करके पीते हैं और स्वाद, शक्ति और गुण में, उसको इक्कीस मानकर मुँह पोंछकर, मूछों पर ताव देकर, मस्तक के साथ छाती भी ऊँची करके, अकड़कर चलते हैं!

सुरेश : हूँ, उन्होंने यह कैसे कह दिया कि ताली उसको कैसे दे दी? दादा ने मेरा अविश्वास किया! हाँ भई, एक बार चोरी में पकड़ा हुआ आदमी ज़िन्दगी भर चोर बना रहता है। लानत है ऐसी दुनिया को! एक बार चोरी करनेवाला आदमी बराबर चोरी ही करता जाता है, तो एक बार फेल हुआ विद्यार्थी, दूसरी बार परीक्षा में क्यों पास होता है? एक बार दलदल के बीच में बुरी तरह फँसकर किसी तरह बच जानेवाला आदमी फिर दलदल के पास क्यों नहीं फटकता? चार-चार और छै-छै लड़कियों को जन्म देने के बाद जो स्त्रियाँ रो-झींख कर बच्चों को जन्म देती हैं उनके फिर लड़के क्यों होते हैं। और उन्होंने यह समझ लिया कि नादान दोस्तों के जाल में पड़कर मुझसे जो थोड़ी-सी ग़लती हो गई सो हो गई! पर उसको इन्होंने मेरा पेशा ही समझ लिया! जैसे मैं चोर की औलाद हूँ! तो यह सब ऊपर के ही फटफटे थे! बनावटी, मुझको यह दिखलाने के लिए कि हम तुमको बहुत प्यार करते हैं।...यह व्यक्ति बनता तो महात्मा

है, मगर इसके अन्दर बड़ा कपट भरा हुआ है ! हूँ, तुमने ताली दे क्यों दी ? किसके हुकुम से दी ? क्या समझ कर दी ?

कैलाशबाबू : हूँ, तुमने यह समझ लिया कि जहाँ मुर्गा नहीं बोलता, वहाँ भोर नहीं होता ! मगर मैंने तुम्हारे इस विचार को सोलह आना ग़लत न साबित कर दिया तो मेरा नाम कैलाश नहीं, मैलाश है !

फिर चिन्तन के इस कथन के बाद कैलाशबाबू बोल उठे—"देखो सुरेश, हमारे ऊपर बड़ा संकट आ गया है। इसलिए हमको फूँक-फूँककर क़दम रखना है, ताकि कहीं भी ग़लती न होने पाये। और अगर तुम यह समझते हो कि काम बहुत ज़्यादा है, सँभाले नहीं सँभल पायेगा तो एक आदमी और रख लो।"

"नहीं चाचा, आज तो हमने दुकान नौ बजे बन्द कर दी; क्योंकि नया क़ानून लग गया है। लेकिन कल हम दुकान दस बजे बन्द करेंगे और अगर कोई आकर रोकेगा, तो उसको एक-दो रुपया चटा देंगे। चाचा, आजकल तो रुपया राज्य करता है।"

"रुपये का राज्य तो हमेशा रहा है सुरेश, कोई आज नई बात नहीं है।"

"नहीं चाचा, यहाँ आप गलती पर हैं। महाभारत-काल में कोई आदमी 'टिप' करके अनुचित काम निकाल सकता था ? सम्राट् अशोक के राज्यकाल में कोई आदमी घूस देकर न्यायालय के भीतर-दर-भीतर जाकर फ़ाइलें खुलवाकर किसी डाकूमेंट को निकलवाकर नष्ट कर सकता था ! आज की तो बात ही और है ! थानेदार साहब पहले से मिले रहते हैं। परिणाम यह होता है कि समय पर न रिपोर्ट लिखी जाती है, न तात्कालिक कर्तव्य पर कोई ध्यान देता है।"

"सब बकवास है ! तुमने किसी को कहते सुन लिया होगा। ऐसा होने लगे, तो लोगों का शासन-व्यवस्था से विश्वास उठ जाय और बलवा हो जाय ! मगर तुम दूसरे की आँख की छर देखते हो, अपना टेंट नहीं

निहारते ! हमारे घर में क्या हो रहा है ? ले-देकर घर में दो भाई ! बहुत दिनों तक पटी। ऐसी पटी कि क्या किसी की पटेगी ! मगर जहाँ देखा कि इनका एक लड़का तो डिप्टी-कलेक्टर हो गया और दूसरा बी० ए० में जा पहुँचा और तीसरे ने हाईस्कूल फ़र्स्ट डिवीजन में पास किया तो इनकी आँखों पर चर्बी चढ़ गई ! तिजोरी की चाभियाँ फेंक दीं ! ख़ैर, कोई बात नहीं। मुझको भूख लगी थी, मैं चौके में पहुँच गया। फिर मैंने जो बुलाया, तो कह दिया कि भूख नहीं है ! ये सत्यवादी हरिश्चन्द्र के अवतार हैं ! अगर इनके अन्दर सचाई थी और छाती में शेर का बल था, तो दहाड़ उठते कि तुम्हारी इस हरकत के विरोध में मैं खाना नहीं खाऊँगा। कहाँ घुस गया यह गर्जन-तर्जन ! अब भीतर-ही-भीतर गलना शुरू कर दिया है ! सुरेश, तुम नहीं जानते इनका हृदय कितना काला है ! एक बार हमारे पिता और चाचा में भी आपस में बल पड़ गया था। दोनों आदमी साथ-ही-साथ घर से कचहरी जाते थे। हाकिम के सामने जब मामला पेश होता, तो दोनों पक्ष के वकीलों की बहस में एक दूसरे का भेद खोलते समय, वे मत्थे पर हाथ रखकर सोचते रह जाते कि दोनों को अपनी लाज का कोई ख्याल नहीं रह गया है ! दोनों एक दूसरे के जानी दुश्मन हो गये हैं ! मगर भीतरी बात यह थी कि दोनों एक ही इक्के में बैठकर जाते थे। धर्मशाला के अन्दर एक ही कमरे में ठहरते थे और भोजन भी एक साथ बैठकर करते थे ! और इनको एक दिन निभाते न बना ! यह हमारे सगे भाई हैं। बच के निकल आओ, यहाँ कीचड़ है। हाँ, तो सुरेश कल ज़रा और सवेरे उठना होगा ! कह हमने इसलिए दिया कि तुम्हारी उमर में कभी-कभी उठने में हमें भी देर हो जाती थी।"

सुरेश हँस पड़ा और बोल उठा—"चाचा, दादा तो हमको बिलकुल नहीं समझे, मगर तुम भी हमको समझने में कभी-कभी गलती कर जाते हो ! मैं आज भी काफ़ी सवेरे उठा था।"

"ठीक है, मैं तुमसे ऐसी ही आशा करता हूँ। हाँ, एक बात कहना

मैं भूल ही गया कि कल हमने जो स्टाक चेक किया है, उसकी एक कापी और कर लेना है और उसको एक रजिस्टर में उतार लेना है। उसी में इस बात को भी दर्ज कर देना कि जब इन्होंने काम छोड़ा, तो कितना रुपया हमको तिजोरी में नक़द मिला और कितना पास-बुक के अनुसार बैंक में था। एक कापी दुकान में रहेगी और एक घर में। समझे!"

"चाचा, यह बात तुमने खूब बताई।"

"अरे सुरेश, तुमको इस तरह की बहुत-सी बातें मुझसे सीखने का अवसर मिलेगा।"

"चाचा, मैं अब तक तुम्हारे साहस और स्वाभिमान को नहीं समझता था।"

"आदमी की परीक्षा संकट-काल में ही होती है सुरेश।"

"वाह चाचा, क्या बात कही है!"

"और भी एक बात है। नौकरों की तनख्वाह हमेशा समय पर बटा करेगी। मगर पेशगी देना बन्द!"

"ऐसा क्यों चाचा?"

"तुम नहीं जानते सुरेश, जब काम बहुत बढ़ जाता है तब फिर छोटी-छोटी बातों का ध्यान नहीं रहता! और नौकरों का क्या भरोसा? वे तो उस घड़ी की प्रतीक्षा में रहते हैं, जब हम हिसाब-किताब में भूल कर बैठें। मेरी इन सब बातों को नोट कर लो किसी नोटबुक में; क्योंकि हर घड़ी तोते को भी नहीं पढ़ाया जाता! उसको पढ़ाने का भी एक समय होता है।"

इस तरह बात करते-करते दोनों जब घर पहुँचे तो सुशीला, कामना और ब्रह्मा बैठे हुए बातें कर रहे थे।

सुशीला—"दादा नहीं आये?"

ब्रह्मा—"आते ही होंगे। कहीं किसी मन्दिर में बैठे हुए भजन सुन रहे होंगे।"

कामना—"हूँ, भजन सुन रहे होंगे ! भजन क्या, कव्वाली सुन रहे होंगे ! सरसैयाघाट पर, गंगा के किनारे, किसी बुर्ज पर बैठे हुए माला जप रहे होंगे !"

इतने में कैलाशबाबू ने कमरे के अन्दर प्रवेश करते हुए धीरे से पूछा—"कहाँ बैठे माला जप रहे होंगे ?"

एकाएक सुशीला और कामना बोल उठीं—"पता नहीं, कहाँ बैठे होंगे।"

कैलाशबाबू कुछ शंका में पड़ गये और बोले—"कै बजे गये थे यहाँ से ?"

"अभी-अभी शाम को गये हैं ?"

"और खाना ? नहीं खा गये ?"

सुशीला बोल उठी—"दिन भर तो कुछ नहीं खाया, अभी शाम को जब हमने ताजा खाना बनाया, तब मैंने मना-मुनूकर बड़ी मुश्किल से खिलाया था।"

"खाना खाते समय तो भला क्या बोले होंगे ? कोई चीज़ अपने मन से माँगी थी ?"

"अपने मन से तो कोई चीज़ नहीं माँगी, लेकिन सवेरे दूध उन्होंने पिया नहीं था, सो बचा हुआ रखा था। उसी में थोड़ा दूध और मिलाकर मैंने खीर बना ली थी। उसी खीर को दुबारा परस दिया था।"

"हूँ, चलते समय यह नहीं बता गये कि कहाँ जा रहे हैं और न यह कह गये कब तक आयेंगे ? मगर उनकी ऐसी आदत भी तो नहीं ! अच्छा, यह मालूम है कि जाते समय कोई चदरा-बदरा कन्धे पर नहीं डाल गये ? झोला या बैग तो नहीं ले गये ?"

इतने में ब्रह्मा बोल उठा—"किसी को मालूम ही नहीं हुआ कि कब उठे और कब चल दिये। ये लोग चौके में थीं और मैं पाइप के पास था।"

"अच्छा ब्रह्मा, ज़रा देखो, उनका वाटरप्रूफ झोला किसी जगह

टँगा है ? चप्पल पहनकर गये हैं कि अपना वही फुलस्लीपर ? और छाता ले गये हैं या छड़ी ?"

ब्रह्मा उठकर चला गया और सुशीला को सुरेश ने संकेत से अपने पास बुला लिया। सुशीला जब स्वामी के पास पहुँची तो सुरेश ने कह दिया—"किवाड़ बन्द कर दो लौर सिटकिनी लगा दो।"

सुशीला ने तुरन्त दरवाजे की दोनों सिटकिनियाँ लगा दीं। तब सुरेश ने खिड़की खोल दी : फिर वह पलँग पर बैठते ही बोला—"दादा से तुम्हारी कोई बात नहीं हुई ?"

"उन्होंने कुछ बात की ही नहीं। सवेरे तो खाना खाने किसी तरह नहीं आये। दोपहर में भी एक बार मैं उनके पास गई थी। मैंने कहा—दूध ही पी लो, तो मुझे झिड़क दिया—'दूध-ऊध मैं कुछ नहीं पिऊँगा। जाओ यहाँ से।' तब मैं खिसियाकर चली आई। फिर मैं घर के काम में लग गई। धीरे-धीरे शाम हुई और मैंने ताजा खाना जब बना लिया, तब चौके से निकलकर मैं फिर उनके पास गई और मैंने कहा—'दादा, अब जो तुमने खाना न खाया, तो फिर मुझको भी उपवास करना पड़ेगा !' मेरे इस कहने पर वे अकस्मात् मेरी ओर एकटक देखते रह गये। फिर कुछ सोचे होंगे। उठकर खड़े हो गये और हाथ-पैर धोकर मेरे पीछे चले आये। मैंने उनको खाना परस दिया। इसके बाद खाना खाकर वे कब चल दिये, किसी ने नहीं देखा।"

"शंकर को तो तुमने कोई चिट्ठी लिखी न होगी ?"

"चिट्ठी तो मैंने नहीं लिखी।"

"चिट्ठी नहीं लिखी, तो तुम मूर्ख हो ! तुम्हारे दिमाग़ में गोबर भरा हुआ है ! यही तो अवसर था। तुमको चिट्ठी लिखनी ही चाहिए थी। मुझे तुम्हारी बुद्धि पर तरस आता है ! तुमको मेरे जैसा स्वामी मिलना चाहिए था ? किसी हरवाहे के पल्ले पड़ी होतीं तो मालूम पड़ता, जिन्दगी कैसी होती है ! अब खड़ी-खड़ी मुँह क्या ताक रही हो ? जलपान

के लिए कुछ नहीं बनाया ?"

"अब जलपान करोगे कि खाना खाओगे ? चाचा ने दुकान की ताली क्या दे दी, बादशाहत मिल गई ! दुकान से लौटते-लौटते मुझको आँखें दिखाने लगे ! इतना भी नहीं बना कि चौक से मेरे लिए कोई बढ़िया मिठाई ही लेते आते ! तुम आदमी नहीं, जानवर हो ! और फिर कहते हो, ऐसा नहीं ऐसा !"

"शर्म करो सुशीला, शर्म करो ! जिस घर में ऐसा हंगामा मच रहा हो, उस घर की लड़की अपने स्वामी से मिठाई के लिए ठिनके ! लानत है ऐसी जीभ पर ! मैं अगर जानता कि तुम इतनी मूर्ख निकलोगी तो मैं तुम्हारे साथ कभी शादी न करता !"

"मूर्ख तुम हो।"

"तुम हो, तुम, तुम, तुम, तुम !"

इतने में कामना ने आकर दरवाजे पर पहले धक्का दिया, फिर दो बार किवाड़ पर घूँसा मारते हुए भड़भड़ाया और कहा—"खोलो।"

सुशीला जो किवाड़ खोलने के लिए आगे बढ़ी, तो सुरेश ने सहारे से उसे पीछे हटाते हुए स्वयं आगे होकर दोनों सिटकिनियाँ खोल दीं और किवाड़ को अधखुला रखकर पूछा—"क्या है ?"

कामना ने तपाक से कह दिया—"शोभा दीदी आई हैं और उनके साथ जीजाजी भी हैं।"

सुरेश पहले तो सुनकर अवाक् रह गया। फिर सँभलकर उसने दरवाजा पूरी तरह खोल दिया। फिर वह आगे बढ़कर माधवबाबू से जो मिला तो सुरेश के पहुँचते ही माधवबाबू ने उसके चरण स्पर्श कर लिये। सुरेश ने आशीर्वाद देते हुए पूछा—"आ गये ? मैं सोच ही रहा था कि तुमको ऐसे अवसर पर बुला ही लेना चाहिए।"

शंका के भाव से माधवबाबू ने पूछा—"क्यों, क्या बात है ? दादा कहाँ हैं ?"

"अच्छा तो तुमको कुछ मालूम नहीं है।"

माधव विस्मयाभिभूत हो उठा। उसके मुख से निकल गया—"क्यों, कुशल तो है बड़े भैया, दादा की तबियत तो अच्छी है ? तुम साफ़-साफ़ क्यों नहीं बतलाते कि यह बात है। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम घबराये हुए-से क्यों जान पड़ते हो !"

"घबराने की ही बात है माधव। मेरा दिल धक्-धक् कर रहा है। दादा और चाचा में झगड़ा हो गया है। पता नहीं, दादा इस समय हैं कहाँ ?"

सुरेश के इस कथन पर माधवबाबू कुछ विचार में पड़ गये। तब तक सुरेश ने स्वयं ही कह दिया—"झगड़ा असल में इस बात पर हुआ कि दादा ने गाँव की ज़मीन उन्हीं असामियों को फिर दे दी जो बीसों सालों से उसे जोतते आ रहे थे। देवकी ने तो उनसे छीन ही ली थी।"

"मगर दादा को तो खेती-बारी के नये कानूनों से परिचित होना चाहिए।"

"बस यही तो विवाद की जड़ है कि जान-बूझकर उन्होंने हम लोगों के अधिकार की उपेक्षा की।"

"हम लोग तो मथुरा-वृन्दावन जा रहे थे। रास्ते में हमने सोचा, एक दिन के लिए यहीं ठहर जायँ। हमें इन बातों का कुछ पता ही न था और तुमने भी कोई सूचना नहीं दी।"

"आओ, आओ, इधर आओ। सामान तुम्हारा ?"

इतने में ब्रह्मा आकर बोल उठा—"जीजाजी, आपका सामान दीदी के साथ, अम्मा के कमरे में रख दिया है।"

"रख दिया है ? अच्छा !"

अब सुरेश माधव को अपने कमरे में ले गया। सुशीला शोभा के पास चली गई थी। कामना स्वागत-सत्कार में लग गई।

शोभा बोली—"दीदी, मेरे साथ चलोगी नहीं ? मैं मथुरा जा रही हूँ।"

सुशीला ने उत्तर दिया—"तुम मथुरा जा रही हो ? और यहाँ अयोध्या में खलबली मची हुई है !"

"क्या मतलब ? तुम कह क्या रही हो ! सब कुशल तो है !"

अभी तक तो कुशल ही है, अगर बनी रहे। बात यह है कि दादा और चाचा में झगड़ा हो गया है और दस बजने को आये, पता नहीं दादा कहाँ हैं ? मेरा दिल धड़क रहा है ! मेरी दाईं आँख फड़क रही है !"

"दुकान तो आजकल बन्द रहती होगी ?"

"दुकान भला कैसे बन्द रह सकती है ? तम्हारे चाचा और जीजा ने काम सँभाल लिया है।"

"तुम यह कह क्या रही हो ! चाचा और जीजा ने काम सँभाल लिया है ! चाचा और जीजा दुकानदारी के काम को क्या समझें ? मैं ऐसा कभी न होने दूंगी। उन्होंने समझ क्या रक्खा है ! ऐसा कभी नहीं हो सकता !"

"धीरे बोलो शोभा, हल्ला मत मचाओ। बिगड़ो मत। समय को देखो, हम तुम्हारे दुश्मन नहीं हैं और न चाचा के मन में कोई मैल है। वह तो बात-की-बात है कि दोनों ताव में आ गये।"

"हे भगवान्, तुमने हमारी बड़ी रक्षा की। हम बिलकुल ठीक समय पर आ गये। हमको दुकान बन्द करवा देनी पड़ेगी।"

इतने में कामना आ गई। बोली—"दीदी लो, जलपान कर लो।"

"पहले अपने जीजा को बुलाओ। मैं उनसे कुछ बात करना चाहती हूँ। तुझे इस वक्त जलपान की सूझी है, जब मेरा दिल जल उठा है !"

"उनको भी बुलाती हूँ दीदी, पहले जलपान तो कर लो !"

"अरे हट, जलपान तो कर लो, जलपान कर लो ! जैसे हमने कभी जलपान किया न हो। घर में आग लगी हुई है और तुझे जलपान की सूझी है ! बुलाओ उनको ! ठहरो, मैं खुद उनके पास जाती हूँ।"

इसके बाद वह बाहर जाकर बोली—"कहाँ हो जी ? इधर आओ !"

शोभा का इस तरह चिल्लाना सुनकर माधवबाबू सुरेश के पास से उठकर कमरे के बाहर चले आये। दोनों एकान्त में जाकर आपस में वार्तालाप करने लगे।

"तुमने कुछ सुना ?"

"सब सुना।"

"तो अब क्या होना चाहिए ?"

"होना क्या चाहिए ? जब तक दादा से भेंट न हो तब तक हम कर ही क्या सकते हैं ?"

"तुम तो हो बुद्धू !···कर ही क्या सकते हैं ! देखो सुनो, यह सारी सम्पत्ति···?"

"धीरे से बोलो।"

"अरे सुनो भी ! धीरे से बोलो, धीरे से बोलो ! क्या किसी की चोरी की है ?"

"देखो, तुम्हारे थप्पड़ जड़ दूंगा, जो ज़्यादा बड़बड़ की। धीरे से बात नहीं करते बनता ? बदतमीज़ कहीं की !"

"अच्छा तो अब तुम मुझे थप्पड़ मारोगे ! मारो, मारो, देखती हूँ कैसे मारते हो !"

इतने में माधव मुस्कराता हुआ बोला—"देखो शोभा रानी, जनक-नन्दिनी, प्राणेश्वरी, तुमको भला कोई मार सकता है ! तुम बिल्कुल पगली हो। मैं चाहता यह हूँ कि बात करो चाहे जिस तरह की करो, मगर करो धीरे से !"

तब इठलाती हुई शोभा बोली—"अच्छा तो सुनो। इस घर की सारी सम्पत्ति—जो कुछ भी तुम देख रहे हो—और जो कुछ तुम्हारे अदेख में है, वह सब पैदा तो दादा की ही की हुई है। और जब वही लापता हैं, तब ऐसे मौके पर तुमको सारी सम्पत्ति के पूर्ण अधिकारी होने का दावा दायर कर देना चाहिए। समझे कि नहीं ? और कल ही ऐसा

कुछ दाँव खेलना चाहिए जिसमें इस बदमाश सुरेश को एक पाई न मिले और चाचा भी एक दमड़ी न पा सकें ! समझे कि नहीं ? मेरी समझ में नहीं आता कि एक मामूली-सी बात तुम्हारी समझ में क्यों नहीं आती !"

"ऐसा नहीं हो सकता। और हो भी सके, तो मैं कर नहीं सकता।"

"हो सकता है और तुमको करना ही पड़ेगा, नहीं तो मैं प्राण दे दूंगी !"

दूसरी ओर इस समय कामना, ब्रह्मा और कैलाशबाबू एक-साथ बैठे हुए थे।

कामना बोली—"अब क्या होगा बाबू ?"

"कुछ नहीं होगा कम्मो। दादा कहीं जायँगे नहीं !"

"बाबू जायँगे तो नहीं। मगर फिर भी अब तक आये क्यों नहीं ! रात हो गई। दस बज रहे हैं।"

"दस बज रहे हैं तो क्या हुआ। वे आ जायँगे, घबराओ नहीं।... हाँ कम्मो, इन लोगों के लिए खाना तो बना ले बेटा।"

कामना बोली—"न दीदी ने पानी पिया, न जीजाजी ने। मालूम नहीं, दोनों आपस में क्या सलाह कर रहे हैं ! मेरा तो जी घबड़ा रहा है, बाबू। और तुम कहते हो खाना बना लो ! सुशीला दीदी भी उस समय कुछ सलाह ही कर रही थीं, जिस समय मैं उनको शोभा दीदी के आने का समाचार देने गई हुई थी।"

इतने में ब्रह्मा बाहर चला गया।

तीसरी ओर इस समय अपने कमरे में मुँह लटकाये बैठा सुरेश सुशीला से कह रहा था—"मुझको भी कुछ ऐसा ही मालूम पड़ता है।"

फिर एकाएक माधव और शोभा प्रसन्नमुख आ पहुँचे। शोभा कामना के कमरे में चली गई और माधव सुरेश के कमरे में जा पहुँचा। तत्काल मुँह बनाता हुआ बोला—"सुशीला, तुम्हारी यह बहन है बड़ी नटखट। उत्तेजित होते देर नहीं लगती।"

तब सुरेश के मुँह से निकल गया—"माधव भैया, हम दोनों के ऊपर

इस समय बड़ा संकट आ गया है। बहुत समझ-सोचकर चलने की आवश्यकता है। हमारी ज़रा-सी भी ग़लती इस समय बड़ा अनर्थ कर सकती है।...अरे हाँ, अ...अ...ज़रा इनके लिए चाय, जलपान, मिठाई, कुछ तो लाओ। कब तुम लोगों को शऊर आयेगा ?"

सुशीला यह कहती हुई चली गई—"कामना ले तो आ रही थी, मगर उस समय वह शोभा से कुछ सलाह करने चल दिये।"

माधव ने उत्तर दिया—"सबसे पहले हमें दादा की खोज करनी चाहिए। घबराने से काम न चलेगा।"

इस पर सुरेश कुछ नहीं बोला। मगर, मगर तब माधव ने कह दिया—"चाचा और तुम दुकान का काम संभाल लोगे ?"

सुरेश अभिमान के साथ बोल उठा—"मैं इधर महीने-भर से दो-दो चार-चार घंटे के लिए दुकान जाया करता था और तुमको मालूम होना चाहिए कि दादा ने मुझको वही काम सौंपा था, जो सबसे अधिक विश्वास का था। हज़ारों की रक़में जो बट्टे खाते पड़ी हुई थीं, यह मेरा ही दम था कि वसूल हो गईं ! मैं किसी लोभवश दुकान का काम देखने के लिए तैयार नहीं हुआ। दादा एक तो ज़मीन के मामले में गड़बड़ कर आये, दूसरे यहाँ भी चाचा से लड़ बैठे। ऐसी हालत में, चाचा अगर मेरा साथ और सहयोग ग्रहण न करते, तो दुकान खुलती कैसे और खुलती भी तो चलती कैसे ? तुम मेरे ऊपर विश्वास करो, चाहे न करो, लेकिन चाचा का दिल साफ़ है। मैं तो उनका एक सेवक-मात्र हूँ। मेरे हाथ में कुछ नहीं है। मुझे इस तरह सफ़ाई देने की क़तई ज़रूरत न थी। मगर तुम दोनों को कानाफूसी करते देखकर मैंने सारी परिस्थिति तुम्हारे कान में डाल दी। स्वार्थसाधन के मामले में हमारे और तुम्हारे बीच में कोई दीवार नहीं रहनी चाहिए। बस, मुझे जो-कुछ कहना था, वह मैंने कह दिया। तुम खुद समझदार हो। अधिक क्या कहूँ ?"

उधर कैलाशबाबू शोभा को लक्ष्य करके कह रहे थे—"शोभा बेटी ?

हमारे लिए जैसा मुन्नी, वैसी तुम। वल्कि तुम्हारा दर्जा मैं उससे वड़ा ही मानता हूँ। मैं तुम्हारे स्वभाव से भी कम परिचित नहीं हूँ। इसलिए आज तुम्हारी इन वातों का मैंने कुछ वुरा नहीं माना। हमारे ऊपर इस समय वड़ा संकट आ गया है। हम लोगों को अव हर तरह से मिलकर रहने की ज़रूरत है। झगड़ा करने में दोनों पक्षों की हानि ही होगी।"

तव शोभा फूट पड़ी—"मगर दादा का तो पता लगाओ। मालूम नहीं वे कहाँ हैं! चाचा, तुम नहीं जानते, मेरे दिल पर क्या वीत रही है।" और इतना कहती-कहती वह रो पड़ी!

फिर घर में एक वार कोलाहल मच गया। वड़ी देर तक कैलाशवावू, सुरेश, सुशीला उसे समझाते और मनाते रहे। जलपान उन्होंने थोड़ा-वहुत किया और उसके वाद भोजन भी सव लोगों ने क्रम-क्रम से और कुछ ने साथ वैठकर थोड़ा वहुत कर ही लिया। मगर ज्यों-ज्यों रात वीतती गई त्यों-त्यों अशान्ति वढ़ती गई।

कैलाशवावू आज की रात सो नहीं सके। सारी रात वे करवट वदलते रहे। वार-वार कोई उनके भीतर से वोल उठता—"दद्दा कहाँ चले गये? दद्दा कहाँ चले गये?" और एक निश्वास के साथ कैलाशवावू मन-ही-मन कहने लगे—'भगवान् करे कि ऐसी रात कभी किसी के जीवन में न आये।'

अव कभी-कभी उनको ऐसा मालूम पड़ता कि इस घर की हर एक खिड़की, हर एक दरवाज़ा, छतें, दीवारें और सारी दिशाएँ मिलकर चिल्ला रही हैं—'दादा कहाँ चले गये, दादा कहाँ चले गये!'

कभी किसी ओर से लोहे के घन चलने की आवाज़ आती, कभी टीन पर कीलें जड़ने की। कभी चौराहे पर कुत्ते भौंकने लगते। कभी सड़क से निकलने वाली ट्रक का हार्न सुनाई पड़ता। कभी-कभी थोड़ी देर को एकदम सन्नाटा छा जाता।

किसी तरह सवेरा हुआ। लेकिन वे अभी उठ न पाये थे कि दरवाज़े

पर ताँगा आ गया। शोभा और माधव दोनों का सामान उस पर पहुँच गया और फिर बात-की-बात में दोनों उस पर बैठकर चल दिये।

सुशीला, सुरेश, कामना और ब्रह्मा खड़े-खड़े उन्हें ताकते रह गये। बहुत समझाने-बुझाने पर भी वे दोनों रुक न सके। ताँगा आगे बढ़ गया और सबके-सब सजल-नयन उनका मुँह निहारते रहे।

ब्रह्मा साइकिल से दौड़कर माधवबाबू के पास जा पहुँचा और बोला—"मैंने सोचा कि जब आप जा ही रहे हैं, तो मैं स्टेशन तक आपको छोड़ आऊँ।"

तब शोभा एकाएक तीखे स्वर में बोल उठी—"दादा को ढूंढने के लिए कोई नहीं दौड़ा और हमको छोड़ने के लिए तुम स्टेशन भाग रहे हो! कोई जरूरत नहीं है। जाओ, लौट जाओ।"

इस समय माधव को भी बोलना पड़ा—"हाँ ब्रह्मा, अब तुम लौट ही जाओ।"

घर का वातावरण अब बहुत क्षुब्ध हो गया था। दादा का पता नहीं था। मगर किसी तरह आधा-तिहाई पेट भरकर सुरेश और कैलाश-बाबू दुकान की ओर चल दिये।

---

## : ३४ :

"आइए वर्मा साहब ! कहिए क्या रंग है ?"

"इनायत है आपकी।" कुर्सी पर बैठते हुए वकील साहब ने आँखों पर से चश्मा उतार सामने पड़ी टेबिल पर रख लिया और उसके केस से मुलायम मखमली टुकड़ा निकालकर लेंसेज़ साफ़ करते हुए वे बोले—"आज आपके फ़ैसले पर कोर्ट साहब बड़े भिनके। बाहर जाकर बोले—'ऊँ हूँ, अभी लड़के हैं। क़ानून को समझने की कोशिश करने के बजाय उसको जबड़ों के नीचे रखके चबाते हैं।' मुसम्मात पार्वती के बयान पर उन्होंने ग़ौर ही नहीं किया, जिसका कहना था कि मैंने सूरजप्रसाद को मारते हुए तो नहीं देखा। पर उसके कानों में यह आवाज़ आई कि कोई भोलानाथ को मार रहा है। पहले शोर हुआ, फिर भगदड़ मच गई, लोगों ने कहा—'पकड़ो-पकड़ो।' उन्हीं आवाज़ों में एक यह थी कि सूरज को पकड़ो। अब सवाल यहाँ यह उठता है कि जिसने ऐसा कहा, वह कोई तो होगा। फिर जनाब सूरज ने अपनी सफ़ाई में यह जो बयान किया कि मैं मौके पर था ही नहीं। मैं तो ननिहाल गया हुआ था, अदालत उसे सही मान ले, यह बात कुछ समझ में नहीं आती।"

वर्माजी की इस बात पर शंकर ने मुस्कराते हुए पूछा—"इस पर आपने क्या कहा ?"

अब वर्मा साहब ने चश्मे को नाक के ऊपर रख लिया। फिर चाँदी का पनडब्बा जेब से निकाला और शंकर के सामने उसे खोलकर रख दिया। शंकर ने उसमें से दो पान अपने लिए ले लिये और दो वर्माजी को दे दिये।

वर्मा साहब ने अब पनडब्बे में से चुटकी भर सुरती निकालकर अपने मुँह में रख ली और वे बोल उठे—"मुझको तो साहब फिर साफ़-ही-साफ़ कह देना पड़ा कि आप अभी उनको जानते नहीं हैं। जिस दिन जान जायँगे उस दिन उनके कोर्ट में क़दम रखने से पहले मुँह बाद में खोलेंगे, ताजीम पहले बजायेंगे। आपका कहना है कि उन्होंने मुसम्मात पार्वती के बयान पर ग़ौर नहीं किया, मगर उन्होंने सिर्फ़ एक वर्ड पर ग़ौर करके तजवीज की रूह पकड़ ली। आपको पता है वह वर्ड कौन-सा है? न मालूम हो तो मुझसे सुनिए। वह वर्ड है जनाब 'तो'। क्योंकि मुसम्मात पार्वती ने कहा था कि मैंने सूरज को मारते हुए 'तो' नहीं देखा। नाउ कम टू द प्वाइन्ट। व्हट डू यू मीन बाई 'तो'?"[1]

शंकर वर्मा साहब की भाव-भंगिमा देखता हुआ मुस्कराने लगा।

वर्मा साहब बोले—"फिर साहब मैंने कोर्ट-साहब की बोलती बन्द कर दी। मेरे इस क्वेश्चन पर वे सुन्न रह गये! आज क्लब में भी इसी बात का चर्चा रहा। आप तो आये नहीं, वर्ना मजा आ जाता। मगर यह भी बहुत अच्छा हुआ कि आप नहीं आये; क्योंकि साहब, मुँह पर तारीफ़ करना कोई मायने नहीं रखता। तारीफ़ तो तब है कि पीठ पीछे लोग वाह-वाह करें!"

इस बार शंकर ने हल्की मुस्कराहट के साथ अपने कथन में एक झटका दे दिया। उसके मुँह से निकल गया—"वर्मा साहब! आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं। मैं भी इसी विश्वास का व्यक्ति हूँ कि सामने प्रशंसा करना कोई अर्थ नहीं रखता।" अब वर्मा साहब गम्भीर हो गये।

शंकर ने गम्भीर वाणी में ही कह दिया—"वर्माजी, सरकारी कर्तव्य-भार को मैं बहुत-कुछ न्यायालय की अपनी कुर्सी पर ही पूरा कर लेता हूँ। इसके बाद जो बच रहता है, उसको तब पूरा करता हूँ जब लाल फीते की फाइल मेरे सामने होती है। पर फिर इसके बाद न्यायालय के

१. अब विषय पर आइये। आप 'तो' का क्या मतलब लगाते हैं।

प्रश्नों पर मस्तिष्क लगाना मुझे स्वीकार नहीं। अच्छा हो, आप देश की समस्याओं पर विचार करें। पर अगर आपको उनमें दिलचस्पी न हो, तो वहुत अच्छा हो कि आप अपने समाज और पारिवारिक प्रश्नों की गुत्थियाँ सुलझायें। यह क्या वात हुई कि दिन-रात आप न्यायालय के प्रश्नों पर ही सिर खपाते रहें। आपकी तवियत नहीं ऊवती ?"

शंकर की यह वात अभी समाप्त भी न हो पाई थी कि इतने में वीणा आ गई।

वीणा इस समय नहा-धोकर कपड़े वदल कर आई थी। उसकी देह-यष्टि से मन्द-मन्द सौरभ फैल रहा था। उसने कानों में जो टॉप्स पहन रखे थे उनमें हंस अपनी ग्रीवा झुकाये चोंच के ऊपर एक नया मोड़ लेकर गुलावी चरण सूँघने का भाव प्रदर्शित कर रहा था। यह चरण भगवती वीणापाणि की ओर इंगित करते थे। शंकर ने वर्माजी को वीणा का परिचय देते हुए कहा—"यह मेरी मौसेरी वहन वीणा है।" और वकील साहव का परिचय देते हुए वह वोला—"यह कचहरी के मेरे नये मित्र श्रीमहेशचन्द्र वर्मा वकील हैं।"

वर्मा साहव ने हाथ जोड़कर कह दिया—"नमस्ते।"

अव शंकर वोल उठा—"रन्नो,—वकील साहव माफ़ कीजिएगा—इसका प्यार का नाम रन्नो है। हाँ रन्नो, वकील साहव ने तो अभी कचहरी का एक नया नुस्खा पेश किया था। अव तुम कहो, तुम्हारे कालेज के क्या रंग-ढंग हैं ?

वीणा कुछ गम्भीर होती हुई वोली—"शंकर भैया, हमारी प्रिंसिपल वेचारी वहुत सीधी-सादी हैं। एम० ए० उन्होंने दो विपयों में किया है—इतिहास और संस्कृत। उनके स्वामी एक वकील साहव हैं। नई प्रेक्टिस है, जो फुदकती तो है, मगर चलती कम है। इसीलिए प्रिंसिपल को विवश होकर नौकरी करनी पड़ रही है।"

वीणा के उपर्युक्त कथन का अन्त आते-आते शंकर और वकील

साहब दोनों ही एक-साथ हँस पड़े। अब शंकर ने आश्चर्य के साथ पूछा—"अच्छा, विवश होकर ?"

तब वीणा ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"हाँ, विवश होकर ही कहना चाहिए, क्योंकि विवाह हुए अभी दस वर्ष ही हुए हैं और लड़कियाँ पाँच हो चुकीं !"

अपने इस कथन में वीणा स्वयं हँस पड़ी।

शंकर हँसते-हँसते बोला—"तो यह कहो कि वकील साहब लड़कियाँ पैदा करने में उस्ताद हैं।"

शंकर की इस बात पर वीणा खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली—"शंकर भैया, आपको हँसी आ रही है ! मगर सच जानिए मुझको तो उनकी हालत देखकर दया आती है। बेचारी दिन-रात परेशान रहती हैं। आज कहती थीं—'बड़ी लड़की को उन्हीं के पास छोड़ आई हूँ। बाकी सब यहाँ मेरे साथ हैं। छोटी लड़की अभी दो साल की नन्हीं बच्ची है। उसको यहाँ अपने साथ ले आती हूँ तो व्यवस्था के कार्य में विघ्न पड़ता है। उसक खिलाने के लिए एक नौकरानी रखने की बात सोच रही थीं; मगर कहती थीं कि कोई नौकरानी तीस रुपये से कम में मिल नहीं सकती है और जिस घर में पाँच लड़कियाँ हों, उस घर में बच्चों को खिलाने के लिए नौकर रक्खा जाय, यह भी तो एक मुसीबत ही है। क्या करूँ, क्या न करूँ, कुछ समझ में नहीं आता।"

शंकर की मुद्राएँ बदलती जा रही थीं। कभी मुस्कराता, कभी गंभीर हो जाता। वीणा वकील साहब की ओर देख रही थी। और वकील साहब की हालत अन्दर-ही-अन्दर कुछ अजीब-ग़रीब हो रही थी। शंकर ने उनको देखते-देखते प्रश्न कर दिया—"कहिए वकील साहब ! आपके उत्पादन का क्या हाल है ?"

वकील साहब की मातृभाषा उर्दू थी। हिन्दी बहुत बाजबी-बाजबी ही समझ पाते थे। अनुमान से ही उन्होंने समझ लिया कि 'उत्पादन'

से साहब का आशय शायद 'प्रोडक्शन' से है। अतः वीणा की ओर देखते हुए कुछ सकुचाते-सकुचाते बोले—"मुझे आपकी प्रिंसिपल साहिबा के साथ पूरी हमदर्दी है, क्योंकि मेरी हालत भी कम खस्ता नहीं है। मेरी शादी हुए हालाँकि आठ साल ही हुए हैं लेकिन लगातार तीन लड़कियों के बाद फिर चौथी का नम्बर आने वाला है।"

अभी ये बातें चल ही रही थीं कि निष्काम आ पहुँचा और जब वह कमरे में प्रवेश करने लगा, तभी एक अट्टहास वहाँ गूँज उठा। शंकर के मुँह से निकल गया—"आओ कवि, तुम्हारी बहुत बड़ी उम्र है; क्योंकि इस समय यहाँ एक बहुत महत्त्वपूर्ण विषय उपस्थित है।"

कुर्सी ग्रहण करते हुए निष्काम ने पूछा—"ऐसा कौन-सा महत्त्वपूर्ण विषय है जिस पर मेरा मत जानने की आवश्यकता पड़ गई?"

शंकर बोल उठा—"वकील साहब, कल्पना कीजिए कि आप एक सार्वजनिक सभा के मंच पर आसीन हैं और जो विषय यहाँ उपस्थित है उस पर आपको एक प्रस्ताव बनाना है। कृपा करके उसकी शब्दावली तो बोलिए।"

वर्माजी के आगे सबसे अधिक कठिनाई यह थी कि हिन्दी-भाषाभाषी गोष्ठी में बैठकर वे परिष्कृत हिन्दी की वाक्यावली समझकर उसका उत्तर तुरन्त नहीं समझ पाते थे। ब्रिटिश शासनकाल में तो यह कहकर काम चल जाता था कि अदालत की भाषा हिन्दी नहीं है, लेकिन अब युग बदल चुका है। हिन्दी-भाषाभाषी और हिन्दी-प्रेमी जन-समुदाय ही नहीं, अंग्रेज़ी के पंडित और भक्त भी बराबर हिन्दी सीख रहे हैं। लेकिन वर्माजी की धारणा है कि हिन्दी के बिना ही काम चलाया जा सकता है। आज न्यायालयों के कार्यालयों में वकीलों के बस्तों के बीच और आसपास कचहरी के सारे वातावरण में जब सर्वत्र हिन्दी के टाइपराइटर खटक रहे थे, तब भी वर्माजी उर्दू ही बोलते थे और उर्दू ही लिखवाते भी थे। लिपि अवश्य उसकी देवनागरी रहा करती थी। कभी-कभी जब हिन्दी लिखने की आवश्यकता

पड़ जाती, तब वे अपने मुहर्रर से काम लेते। उस समय वे मन-ही-मन कुछ झुँझलाते भी थे—"क्या ज़माना आ गया है साहब कि पैंतिस-चालिस की उम्र में हमको हिन्दी का ककहरा सीखने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। अन्धेर है, ज़ुल्म है।" अपने साथी वकीलों के बीच उर्दू बोलने में उन्हें कोई संकोच होता, क्योंकि कचहरी की बोलचाल की भाषा अब तक विशुद्ध हिन्दी नहीं बन पाई; परन्तु अब साथ हो गया शंकर का। इसलिए नित्य मन-ही-मन तय कर लिया करते थे कि अब हिन्दी सीखनी ही पड़ेगी। लेकिन फिर मामला मास्टर रखने और अधिक नहीं तो तीस-चालीस रुपये महीने का खर्च बढ़ाने पर अटक जाता, जिसके लिए वे अब भी तैयार न थे। अतः वे मन-ही-मन भन्नाया करते—"क्या बेवकूफी है। इन्साफ़ तो रह ही नहीं गया! अरे साहब, जब हमारी मॉदरी ज़बान हिन्दी नहीं है, तो यह क्यों ज़रूरी हो कि हम ये हिन्दी-विन्दी सीखने के लिए मजबूर किये जायँ। क्या हिन्दुस्तान में अब पंडितों का ही राज चलेगा? हुकूमत को इन्होंने तमाशा बना रखा है!"

किन्तु आज जब शंकर के साथ-साथ वीणा और निष्काम के बीच में उन्होंने अपने को देखा, तो यह अनुभव करने के लिए विवश हो उठे कि अब हमारी यह ज़िद चलेगी नहीं। हमको अब हिन्दी पढ़ने के लिए एक मास्टर रखना ही पड़ेगा। इसलिए इस अवसर से लाभ उठाते हुए उन्होंने कह दिया—"साहब, सच पूछिए तो मैं इस समय बड़ी मुसीबत में हूँ। आप जानते हैं कि मेरी मादरी ज़बान उर्दू है। ऐसी हालत में आप लोगों के बीच में बैठकर उर्दू बोलना मुझे अच्छा नहीं लगता। किरपा करके आप हमको एक ऐसा मास्टर दिलाने का प्रबन्ध कर दीजिए जो थोड़ी बहुत बोलने लायक हिन्दी मुझे पढ़ा दिया करें।"

वकील साहब का इतना कहना था कि निष्काम को हँसी आ गई। बोला—"वाह! बहुत दिनों के बाद एक मूंजी फँसा है। माफ़ कीजिएगा वकील साहब!"

निष्काम के इतना कहते ही शंकर और वीणा एक-साथ हँस पड़े। वीणा तो निष्काम की मनोरंजक शैली पर मुग्ध हो गई और शंकर के मुँह से निकल गया—"तो वर्माजी, आपको हिन्दी का एक ग्रेजुएट चाहिए ?"

वर्माजी कुछ सकपकाते हुए बोले—"ग्रेजुएट ट्यूटर भला कितने में मिल सकता है ?"

शंकर ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"पहले यह बतलाइए कि इस मद में आप व्यय कितना करना चाहते हैं ?"

वकील साहब फिर सोच-विचार में पड़ गये।

शंकर ने पूछा—"देखिए साहब, जब बिना फ़ीस लिये आप कोई मुकद्दमा नहीं लेते, तब बिना शुल्क के कोई आपको हिन्दी क्यों पढ़ाने लगा ?"

अब वकील साहब मुस्कराते हुए बोले—"देखिए साहब, एक वकील की फ़ीस और एक मास्टर का वेतन ? माफ़ कीजिएगा वेतन ही कहते हैं न पे—तनख्वाह को ?"

वकील साहब का इतना कहना था कि निष्काम और वीणा फिर हँस पड़े और शंकर बोल उठा—"हाँ हाँ साहब, वेतन।"

शंकर पिछले पन्द्रह वर्षों से यह अनुभव कर रहा था कि हमारे देश में कुछ जातियाँ इस प्रकार की हैं जो कहलाती हिन्दू हैं, संस्कार उनके हिन्दू-संस्कृति के हैं; विवाह, यज्ञोपवीत, अन्नप्राशन, मुंडन, कर्णछेदन आदि अवसरों पर पंडित बुलाये बिना उनका काम नहीं चलता। उनके घर के लोग, माताएँ और बहनें, श्रीमद्भागवत और रामचरितमानस की कथा बड़े प्रेम से सुनते हैं। विवाह हो या उपनयन-संस्कार, दोनों यज्ञों की समाप्ति पर उनके घरों में सत्यनारायण की कथा भी होती है। उनके पिता-पितामह, बड़े भाई, ताऊ, चाचा आदि भगवान् की पूजा और संध्योपासन भी करते हैं। शिवरात्रि को व्रत रखते हैं, जन्माष्टमी, राम-नवमी, दीपमालिका, होलिका-दहन, विजयदशमी आदि पर्वों पर वे धर्म-

निष्ठ बनकर संतोष मानते हैं। धनुष-यज्ञ और रामलीला में सम्मिलित ही नहीं होते, चन्दा भी देते हैं। किन्तु हिन्दी-भाषा सीखने में उनकी नानी मर जाती है। वे इस बात का ज्ञान नहीं रखते कि आज तिथि कौन है। जब उनके घरों की माताएँ उनसे कहती हैं—"बेटा, परसों शिवरात्रि है, तब उनको इस बात का ज्ञान होता है कि शिवरात्रि परसों है। जब उनकी दादी उनको बतलाती है कि मनैयाँ आज प्रदोष है; तब वे मुँह बाकर सामने तमाशा बन जाते हैं! वे इतना भी ज्ञान नहीं रखते कि यह प्रदोष किस तिथि को होता है? और आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे वर्ग में वे लोग हैं, जो अपनी पद-मर्यादा में वकील, सदर-आला, कानूनगो, मुंसिफ़, डाक्टर, जज, पोस्टमास्टर, सिविल-सर्जन आदि आदि हैं।

शंकर प्रायः सोचा करता कि क्या ये लोग हिन्दू हैं? हैं, तो कहाँ से हैं, किस तरफ से हैं ?

एक बार कुछ ऐसा हुआ कि बरेली के एक वकील साहब उसको ट्रेन में मिल गये। कानपुर स्टेशन के बाद एक महाशय ने कहीं उनसे पूछ लिया —"आज कौन-सा दिन है?" तो उनके मुँह से निकल गया—"जुमेरात।"

वे महाशय काशी-निवासी थे। आँखें फाड़-फाड़कर उनकी ओर देखते हुए बोले—"क्यों साहब! आपको मुझसे मज़ाक करने का क्या अधिकार है? मेरी आपसे कोई मित्रता नहीं है, कहीं का परिचय नहीं है, एक सहयात्री के नाते मैंने साधारण-सी बात आपसे पूछी कि आज कौन-सा दिन है, तो दिन बताने के स्थान पर आप रात बतला रहे हैं! कमाल करते हैं साहब!"

उनका इतना कहना था कि साथ के बैठे हुए सभी यात्री एकाएक हँस पड़े। एक महाशय ने, जो पास ही बैठे थे, कह दिया—"जुमेरात बृहस्पतिवार को कहते हैं।"

तब उन्होंने आश्चर्य के साथ कह दिया—"अच्छा। मुझे नहीं मालूम था। मगर यह मेरी समझ में नहीं आया कि आपको बृहस्पतिवार कहने

से क्यों चिढ़ है ?"

उनके इस प्रश्न पर वकील साहब लज्जित होने के बजाय कुछ शान में आकर बोल उठे—"अब मैं आपको क्या जवाब दूं ? यह विरिस्पित-इरिस्पित तो गंवार लोगों की ज़बान में कहा जाता है।" और इस कथन के बाद अपने आसपास बैठे हुए लोगों की ओर देखकर उन्होंने कह दिया—"पढ़े-लिखे लोग तो मेरा ख्याल है, जुमेरात ही बोलते हैं।"

शंकर अब तक चुपचाप सुन रहा था। अब वह सोचने लगा, कहीं मुझे भ्रम न हो जाय, इसलिए उसने पहले ही पूछ लेना उचित समझा—"आप तो हिन्दू हैं न ?"

वकील साहब ने जवाब दिया—"हां साहब, मैं हिन्दू हूं। कहिए जाति बताऊँ ?"

शंकर बोला—"बस बस ! मुझे किसी जाति पर कोई आक्षेप नहीं करना है। अच्छा खैर।···रहनेवाले ?"

वकील साहब ने जवाब दिया—"आई बिलांग टू बरेली।"

अब शंकर को अपनी बात कहनी पड़ी—"इस अवसर पर अब मुझे आपसे कुछ निवेदन करने के लिए विवश होना पड़ रहा है। आप भारतवर्ष के निवासी हैं और आपकी संस्कृति भारतीय है। भगवान् राम-कृष्ण की आप उपासना करते हैं और आपको यह भी नहीं मालूम कि आज दिन कौन-सा है ? आपको यह कहते लाज नहीं आई कि यह विरिस्पित-इरिस्पित गंवार लोगों की भाषा के शब्द हैं ! मुझे बहुत दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आपमें इतनी भी सभ्यता नहीं कि आप सोचते—आपके साथ जो लोग बैठे हुए हैं वे इस बात को सुनकर कितने दुखी होंगे ! हमारा यह सारा भारतवर्ष बरेली नहीं है और न बरेली के अन्दर आप-जैसे दस-बीस लोगों की भाषा सम्पूर्ण भारतीयों की भाषा है। आप अपने साथ के बैठनेवाले व्यक्तियों को चाहे जो जवाब दें, पर जिन लोगों को हिन्दी-भाषाभाषी होने का गर्व है, उनका अपमान करने का आपको कोई

अधिकार नहीं है। मुझे अगर पहले से यह मालूम होता कि जिस व्यक्ति के साथ मैं बैठा हुआ हूँ, अपने विचारों में अनुभव और ज्ञान में, वह इतना हीन कोटि का है, इतना गया-गुज़रा है, तो कदाचित् मैं आपके पास बैठना भी पसन्द न करता। मुझे इस बात का भी दुःख है कि यहाँ पर जो हमारे अन्य भाई बैठे हुए हैं उन्होंने अपनी मातृभाषा का अपमान कैसे सहन कर लिया?"

शंकर की इस बात पर वहाँ कोलाहल मच गया। वकील साहब बिगड़ उठे। उन्होंने अपमानजनक भाषा का प्रयोग प्रारंभ ही किया था कि तड़ाक से उनके गाल पर एक तमाचा पड़ गया! ताव में आकर उन्होंने ज़ंजीर खींच दी और यह कहना प्रारंभ कर दिया कि मैं एक बहुत बड़ा वकील हूँ। जब मैं आप पर डिफ़ेमेशन सूट दायर करूँगा, तब आपको पता चल जायगा कि मेरी क्या हैसियत है और मेरी इन्सल्ट का क्या नतीजा होता है!"

उनकी इस बात पर डब्बे के दस आदमी खड़े हो गये और बोले—"हमें आपकी चुनौती स्वीकार है। अब हम सब आप पर अलग-अलग मान-हानि का केस चलायेंगे। आपमें ज़रा भी दम हो और अपने वचन की थोड़ी भी लाज हो तो आप हम पर डिफ़ेमेशन सूट ज़रूर दायर कीजिए। हम देखेंगे कि आप कितने बड़े आदमी हैं और इस मुक़दमे को कितनी तैयारी से लड़ते हैं!"

ख़ैर, परिणाम यह हुआ कि वकील साहब को ज़ंजीर खींचने के अपराध में पचास रुपये तो दंड-स्वरूप देने पड़े और उन सब लोगों से क्षमा माँगनी पड़ी, जिनको वे ताव में आकर गाली दे बैठे थे।

क्षण-भर में शंकर को कुछ उस दिन का यह दृश्य स्मरण हो आया और तब वह मन-ही-मन मुस्करा उठा।

अब निष्काम बोल उठा—"जाने दीजिए वकील साहब! काम तो आपका चल ही रहा है। हटाइए इस झंझट को। यह हिन्दी-बिन्दी

सीखकर क्या कीजिएगा ?"

अब वकील साहब फिर संकुचित हो उठे और बोले—"अरे साहब, अगर काम ही चलता तो मैं आपसे यह नवेदन ही क्यों करता !"

अब शंकर को टोक देना पड़ा। बोला—"वकील साहब, आप अपनी स्थिति पर कुछ तरस खाइए। बिना ग्रेजुएट रखे हुए आप विशुद्ध हिन्दी सीख नहीं पायेंगे और गलत बोलने से आपकी वकालत को लाभ पहुँचने की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचेगी ! लोग हँसेंगे और तब आप मन-ही-मन अभी तो झींख ही रहे हैं, तब रोयेंगे ! और इस सिलसिले में मैं आपको एक शब्द बता भी दूँ कि शब्द 'निवेदन' है 'नवेदन' नहीं। वह जो 'नवेद' आपके यहाँ बहुत चालू रहा है न ?' इसी शब्द का अपभ्रंश रूप है। मगर सारी कठिनाई तो यह है कि अपभ्रंश शब्द ही आप न समझ पाये होंगे।"

इतने में वीणा और निष्काम दोनों फिर अट्टहास कर उठे। पर शंकर बिना रुके कहता चला गया—"अपभ्रंश शब्द का अर्थ होता है—दोगला। मतलब आप समझ गये ? खैर, कैसा भी हो, 'निवेदन' शब्द आपके 'नवेदन' शब्द का बाप है।"

स्थिति यह थी कि हँसते-हँसते निष्काम और वीणा के पेट फूलने लगे। तब एकाएक वीणा बोली—"शंकर भैया, आप बड़े मुँहफट हैं। वकील साहब, आप भैया की इस बात का बुरा न मान जाइएगा।"

और निष्काम के मुँह से निकल गया—"हाँ वकील साहब। इन साम्प्रदायिक लोगों की उत्तेजना में आकर पचहत्तर-अस्सी रुपये माहवार का नुस्खा आपसे सहा न जायगा !"

निष्काम की इस बात को सुनकर वकील साहब के नीचे की धरती खिसकने लगी और वे कुछ सोच-विचार में पड़ गये। इसी समय विष्णु ने आकर कह दिया—"दद्दा, चाय तैयार है। आप सब लोग पास के कमरे में कृपा करके चलें।"

शंकर ने घड़ी देखते हुए कहा—"हाँ, चाय का वक्त तो हो गया।"

थोड़ी देर में वार्ता-विनोद के साथ जब चाय-पान हो चुका तब वकील साहब उठते हुए बोले—"मैं तो अब आज्ञा चाहता हूँ।" और इतना कहकर वे उठ ही रहे थे कि उसी समय तारघर के चपरासी की घंटी बजी और वह साइकिल से उतर पड़ा।"

शंकर बोला—"वकील साहब, आप चिन्ता न कीजिएगा। मैं आप को बहुत योग्य अध्यापक बहुत कम रुपये में दिलवा दूँगा। हिन्दी की कमी आप अवश्य पूरी कर लीजिए।"

वकील साहब चले गये।

अब निष्काम सोचने लगा—'वीणा से बात कैसे प्रारम्भ की जाय।' तभी एकाएक उसने वीणा से पूछा—"आपको कविता से अधिक प्रेम या नाटक से ?"

वीणा शंकर के वार्तालाप से अत्यन्त प्रभावित हो गई थी तत्काल उसने उत्तर दे दिया—"नाटक से ; क्योंकि कविता उसका एक अंग है। नाटक तभी सांगोपांग होता है, जब कविता के स्वर उसमें लय हो जाते हैं, लय बन जाते हैं।"

क्षण-भर निष्काम वीणा की ओर इकटक देखता रह गया।

इतने में वीणा ने प्रश्न कर दिया—"आपका इस विषय में क्या मत है ?"

निष्काम गम्भीर हो उठा। उसने उत्तर दिया—"आपका उत्तर इस अर्थ में बहुत व्यापक है कि जीवन कविता नहीं है और जीवन को हम एक नाटक कह सकते हैं। लेकिन साथ-ही-साथ मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं कि कविता जीवन में लय हो जाती है। यह मैं मानता हूँ कि कविता जीवन में लय उत्पन्न कर देती है। और भी एक बात है। कविता नाटक में लय नहीं हो जाती, उसमें समाकर खो नहीं जाती। वह भी एक कविता ही होती है जो जीवन की व्याख्या को नाटक बनाती उसमें प्राण-संचार करती है। क्योंकि कविता व्यंग्य, उपेक्षा और प्रहार भी है, क्योंकि वह जीवन की आलोचना है। यह कविता का ही कार्य है जिसके द्वारा हम

जीवन को नाटक के रूप में अनुभव करने का अवसर पाते हैं।"

अब तक के थोड़े से परिचय में वीणा ने यह समझ लिया था कि निष्काम एक मनोरंजक जीव है, मस्ती से रहना उसका लक्षण। किन्तु अब उसको यह अनुभव करने का भी अवसर मिल गया कि निष्काम कोरा कवि नहीं, वह जीवन का मर्मी व्याख्याता भी है, उसका आलोचक और विचारक भी। तब तत्काल वह बोल उठी—"मैं आपका थोड़ा-सा परिचय और चाहती हूँ।"

निष्काम चाय का एक घूँट कंठगत करता हुआ निःसंकोच बोल उठा—"मैं अपना थोड़ा यानी अपूर्ण परिचय किसी को नहीं देता। मैं तो जीवन में पूर्णता का पक्षपाती हूँ। आप चाहें तो मेरा पूर्ण परिचय प्राप्त कर सकती हैं।"

वीणा निष्काम के इस उत्तर से मर्माहत हो उठी और तब अपने प्रकृत स्वर में बोली—"क्षमा कीजिएगा, मैं यह भूल रही थी कि आप कवि हैं।"

इस बार निष्काम को ऐसा प्रतीत हुआ कि मैंने भी वीणा को समझने में भूल की थी।

शंकर ने विष्णु से कहा—"देखो विष्णु, कौन है?"

विष्णु ने चपरासी के दिये हुए परचे पर हस्ताक्षर करके तार ले लिया और उसे तुरन्त कमरे के अन्दर जाकर शंकर को दे दिया। शंकर ने तार खोला और क्षण-भर बाद एक निःश्वास के साथ वहीं टेबिल पर रख दिया।

वीणा शंकित हो उठी और फिर उसने झट तार उठा लिया। उसको देखते-देखते वह क्षण-भर में सजल-नयन हो उठी। तार लिये हुए अन्दर जाकर बोली—"मौसी, भाभी अब इस संसार में नहीं हैं!" और इस कथन के साथ-ही-साथ वह रो पड़ी।

शंकर का मन उस समय बहुत अशांत था। उसे वे सारी घड़ियाँ याद

आ रही थीं जिनमें उसे मीरा के सरल-विमल हास के साथ-साथ उसकी मधुर प्रकृति का पावन परिचय मिला था। उसे वे क्षण याद आ रहे थे, जब उसने उस घर से विदा ली थी। चलते समय उसने जब मीरा भाभी के चरण छुए थे, तब उसने देखा था—उसकी आँखें डबडबाई हुई थीं, अश्रु-विगलित कंठ से उसने कहा था—'मुझको न भूल जाना लाला। मैं···अब तुम्हें क्या बतलाऊं लाला, भगवान् ही जानता है कि मैं तुम्हें क्या समझती हूँ !'

शंकर को स्मरण हो आया कि उसके इस कथन के बाद वह भी कितना उदास हो गया था, उसके मन पर भी कैसा मर्मान्तिक आघात पहुँचा था और तभी उसके मुँह से निकल गया था—"दुःख न करो भाभी हम फिर मिलेंगे, मिलते ही रहेंगे।" तब भाभी ने सिर हिलाते हुए कहा था—"नहीं लाला, अब तुम कभी इस घर में नहीं आओगे। तुम यहाँ कभी नहीं आओगे। मैं इस घर में तुम्हें कभी न देख पाऊँगी।" उसके इस कथन के बाद वह वहाँ रुक न सका था। कई बार उसके मन में आया भी कि वहाँ एक माया ही तो नहीं है। और भी तो कोई है, जो उसका आदर करता है। लेकिन पुनः उसको इसी भाभी के शब्द याद हो आते—'मैं जानती हूँ···अब तुम फिर इस घर में कभी नहीं आओगे।'

अब शंकर और वीणा दोनों पास-ही-पास बैठे हुए रो रहे थे।

मालूम हुआ कि वकील साहब तो पहले ही चले गये थे। अब निष्काम भी चला गया। तब वीणा बोली—"शंकर भैया, तुम नहीं जानते, भाभी मुझको कितना चाहती थीं !"

और उसी समय शंकर भी बिना किसी संकोच के अपनी माँ और विष्णु के सामने बोल उठा—"सच-झूठ की भगवान् जाने, लेकिन बार-बार कोई मेरे मन में कह उठता है—"अगर मैं वहाँ से चला न आता तो भाभी अभी मर नहीं सकती थी !"

---

## : ३५ :

दूसरे दिन शंकर जब पलँग से उठा, तो छः बजने में दस मिनट शेष थे। हन्नू दूध लेने के लिए चला गया था। वीणा स्नानागार में बैठी नहा रही थी। मुन्नी की माँ भगवान् शंकर की प्रतिमा पर बिल्व-पत्र और पुष्प चढ़ा रही थी और विष्णु लखनऊ जाने की तैयारी कर रहा था।

शंकर को रात नींद नहीं आई थी। उसका सिर दर्द कर रहा था। एक बार मन में आया—'क्या मुझे इस अवसर पर इलाहाबाद जाना पड़ेगा!" और तब कमरे के द्वार पर खड़ा होकर वह बोल उठा—"अरी रन्नो!"

विष्णु ने अपना ट्रंक बन्द करते हुए उत्तर दिया—"दद्दा, दीदी नहा रही हैं।"

इसी समय कोठी के सामने चहारदीवारी पर एक कौआ आकर बैठ गया और बोला—"काँव, काँव!"

शंकर उसकी बोली सुनकर उसको एक बार देखकर कुछ सोचता रह गया।

मुन्नी की माँ भगवान् शंकर की आरती कर रही थीं। इसके बाद वे हाथ जोड़कर उनको प्रणाम करती हुई जब लौटीं तो शंकर के पास आकर बोलीं—"मुन्नी, मेरे लिए क्या कहता है रे? रन्नो, आज इलाहाबाद जा रही है। विष्णु तो लखनऊ इसी समय जा रहा है। उसे रोका नहीं जा सकता। ऐसी हालत में मेरा जाना तो होगा नहीं। वैसे मैं सोचती यही हूँ कि मुझे आज जाना ही चाहिए, मगर···।"

शंकर सोच रहा था—"सृष्टि का कोई काम कभी नहीं रुकता। नित्य बच्चे जन्म लेते हैं, वृद्ध मरते हैं, एक आदमी है जो भावना के वशीभूत

होकर अपने पथ से मुड़ जाता है। यद्यपि मुड़ जाना धर्म नहीं, लक्षण है। मैं भी मुड़ना नहीं पसंद करना। लक्षण की अपेक्षा धर्म मुझे कहीं अधिक प्यारा है।...''

इस तरह शंकर जैसे आपसे ही लड़ने लगा :

लेकिन फिर प्यार त्याग कर मनुष्य क्या मनुष्य रह जाता है ? भाभी की आत्मा क्या कहेगी ? उसे फिर नैनीताल की भेंट का स्मरण हो आया —'अरे ये कंगन तो ले लो लाला !'...अगर मैं रन्नो के साथ एक गाड़ी से इलाहाबाद चला जाऊँ और दूसरी गाड़ी से वापस चला आऊँ तो कैसा हो ? कुछ ही दिनों का सही, भाभी के जीवन के साथ मेरा बहुत निकट का नाता रहा है। उनकी छवि को, उनकी निर्मल आत्मा को, मधुर हास और वार्तालाप को, स्वागत-सत्कार और शिष्टता में लिपटी हुई सतत मिठास और पावन आत्मदान को भला मैं कैसे भूल सकता हूँ, कैसे भूल सकता हूँ ? ऐसा लगता है कि मेरा कोई अपना खो गया है मेरा सर्वस्व खो गया है।...कुछ हो, मुझे जाना ही पड़ेगा।'

इस बार फिर उसके अन्तःकरण से एक स्वर फूट पड़ा—'हाँ, अब क्यों नहीं जाओगे !' भाभी ने कहा था न 'अब तुम इस घर में कभी न आओगे'। और भाभी के इस कथन को तुमने वास्तव में चरितार्थ कर दिया। पर फिर संयोग ने आकर उसके आगे जैसे विश्व की सारी निधियाँ लुटा दीं! वह नैनीताल की भेंट!' उसकी आँखें भर आईं। सोचने का क्रम नहीं टूट रहा था।...'माया अपने मन में क्या कहेगा ? कहेगा कि जो जिसका होता है, वह उसके मोह को, मोह के साथ उसके प्रतिदान को, भोग और उसके रूपान्तर को, भला कैसे त्याग सकता है ?...नहीं नहीं, मैं ग़लती कर रहा हूँ !...दुनिया तो प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक स्थिति में कुछ-न-कुछ कहती ही रहती है, पर मनुष्य को तो अपना धर्म-पालन करना चाहिए। फिर माया का यह हृदय-परिवर्तन !'

इतने में माँ बोल उठी—"अरे मुन्नी, तू ने बतलाया नहीं।"

धरती पर उतरकर जैसे शंकर वोल उठा—"अम्मा, इसमें मेरे वतलाने की क्या वात है ? तुम जो आज्ञा करो, सो मैं करूँ ।"

तव माँ वोलीं—"मुन्नी, मैं सोचती हूँ कि दादा तो जायँगे ही इसलिए मैं यदि न भी जाऊँ तो कोई हर्ज नहीं । लेकिन मुन्नी, यह कैसे हो सकता है कि मैं न जाऊँ । मुझे जाना ही पड़ेगा ।"

इसी समय वीणा कपड़े वदलकर पास आ पहुँची और वोली—"शंकर भैया, तुमने मुझे पुकारा था ?"

हनू इतने में चाय ले आया और विष्णु पास आकर शंकर के चरण-स्पर्श करने लगा ।

शंकर ने वीणा की वात के उत्तर में कह दिया—"हाँ, मैं तुमसे यह कहने जा रहा हूँ कि तुम तो जा ही रही हो इलाहावाद, मौसियाजी और मौसी दोनों से, ज़रा मेरी ओर से, समझाकर कह देना—आना तो चाहते थे शंकर भैया, मगर उनके सिर पर आजकल काम वहुत है। इसलिए···।" फिर विष्णु को आशीर्वाद देते हुए वोला—"सुखी रहो । मगर चाय तो पीते जाओ ।"

विष्णु घड़ी की सुइयाँ देखता हुआ वोला—"नहीं दद्दा, मेरी गाड़ी छूट जायगी ।"

शंकर वोला—"ऐसा ही था, तो तुमको और पहले से ही तैयारी करनी थी । चाय के साथ कुछ खाने को वन जाता । खैर, अगर गाड़ी छूटने का डर है, तो तुम जाओ । तात्कालिक कर्तव्य कभी किसी की प्रतीक्षा नहीं करता ।"

इतने में मुन्नी की माँ वोल उठीं—"नहीं मुन्नी, विष्णु दूसरी गाड़ी से चला जायगा । तुम लोगों को जव देखो तव, रात-दिन, यही वातें मुझे पसन्द नहीं आतीं । रात-दिन 'कर्तव्य, धर्म, कर्तव्य, धर्म' सुनते-सुनते मेरे कान पके जा रहे हैं ! अरे सव जीवन से लगा है ।···मालूम नहीं किस समय पहुँचेगा, रास्ते में भूख लग आयेगी ।···अरे ठहर विष्णु !"

तव शंकर ने कह दिया—"जाओ विष्णु, रास्ते में कहीं किसी स्टेशन पर, या डब्बे में वैठते ही, चाय-टोस्ट का ऑर्डर दे देना। खूब डटकर जलपान कर लेना। रुपये हैं या दूँ ?"

विष्णु जेब पर हाथ रखते हुए बोला—"हैं दद्दा।" और इतना कहकर वह चल खड़ा हुआ।

अब सब-के-सब द्वार पर आ गये। विष्णु अन्त में माँ के पैर छूकर ताँगे पर बैठ गया।

इसी क्षण निष्काम आ पहुँचा। सब लोग भीतर जाने लगे और निष्काम बोल उठा—"कल जो बात मैं तुमसे कहने आया था, आज उसी के लिए फिर आना पड़ा।... मगर हाँ शंकर, यह भाभी तुम्हारी थीं कौन ?'

शंकर ने खिन्न मन से कह दिया—"यह तुम क्या पूछ रहे हो निष्काम !"

वीणा के मुख पर भी इस कथन की प्रतिक्रिया होती-होती रह गई और निष्काम संकुचित हो उठा। किन्तु फिर तुरन्त संभलकर बोला—"मेरा आशय यह था कि वे तुम्हारी कोई सगी भाभी तो थीं नहीं। तब थीं कौन ?"

शंकर बोल उठा—"देखो निष्काम, यह तो तुम जानते हो कि देह-रक्त के नाते से बढ़कर भी एक नाता होता है।"

"जानता हूँ। पर मैं यह नहीं जानता कि ऐसा कोई नाता अब तक तुम्हारा किसी के साथ था भी !"

इस बार शंकर ने उत्तर नहीं दिया। माँ शंकर की ओर देखती रह गई। वीणा भी शंकर पर दृष्टि डालकर कुछ सोचने लगी और तभी शंकर के मुँह से निकल गया—"निष्काम, तुम कुछ नहीं जानते। मनुष्य क्या है, मन से, देह से, प्राण से, जीवन के नाना, विमल, धवल प्रसंगों और संयोगों के माध्यम से—अभी तुम नहीं जानते। जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह तुम धीरे-धीरे समझ पाओगे।"

वीणा गम्भीर हो उठी और तब माँ ने कह दिया—"तो फिर यही

तय रहा कि मैं जाऊँगी ।"

अब निष्काम वोल उठा—"मैं तुमको यह सूचना देने आया हूँ कि सूचना-विभाग में मुझे जगह मिल जायगी । सब बातचीत हो गई है । इसी सप्ताह में नियुक्तिपत्र भी मिल जायगा। वेतन तो अभी अधिक नहीं मिलेगा, लेकिन बैठे-ठाले मैंने सोचा—स्वीकार कर लेना ही उचित है ।"

शंकर ने कुछ अन्यमनस्क-सा होकर पूछा—"कितने से प्रारम्भ किया ? दो सौ से ?"

निष्काम ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"हाँ भैया !"

शंकर के मुँह से निकल गया—"गुड। मुझे आज यह मालूम हुआ कि तुम जीवन के प्रति इतने सजग हो ! इस सफलता के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूँ ।"

अब वीणा के अधरों पर थोड़ा विकास झलक उठा और उसने पूछा—"काम क्या करना होगा ?"

निष्काम ने भावना में वहकर उत्तर दिया—"वीणा जब वजती है तब उसका मधुर स्वर चारों ओर दिशि-दिशि गूँज उठता है, मृग चौकड़ी भरना भूल जाते हैं । मेरे कर्म की वीणा जब वजेगी, तब यह प्रश्न अपने-आप उत्तर वन जायगा ।"

अब वीणा ने एक वार शंकर की ओर देखा, दूसरी वार निष्काम की ओर ।

हन्नू निकट आकर बोला—"चाय और चाहिए ?"

तब वीणा चाय ढालने लगी और शंकर सोचने लगा—'दुनिया के सारे कार्य चलते रहते हैं । केवल एक व्यक्ति नहीं रहता ।' तभी माँ ने लौटकर कह दिया—"अरे मुन्नी, बिल्ली दूध पी गई ।"

वीणा ने प्याला शंकर की ओर वढ़ा दिया और शंकर ने निष्काम की ओर ।

तब संकुचित वीणा बोल उठी—"आशा है, तुम मुझको क्षमा कर

दोगे शंकर भैया।"

"मैंने सदा तुझे क्षमा ही किया है रन्नो! शंकर जब बोल उठा, तब वीणा की दृष्टि निष्काम की ओर थी। उसने टोस्ट में मक्खन लगाकर निष्काम के सामने बढ़ा दिया। फिर दूसरा प्याला तैयार करती हुई वह बोली—"शंकर भैया, मैं सोचती हूँ कि आज इलाहाबाद जाकर कल ही लौट आऊँ, क्योंकि अभी तो मैंने कार्य प्रारम्भ ही किया है।" और कथन के साथ उसने दूसरा प्याला बनाकर शंकर की ओर बढ़ा दिया।

शंकर ने चुस्की लेते हुए कह दिया—"चाय तो कुछ ठण्डी हो गई रन्नो। दूसरी बात मुझे यह कहनी है कि मेरा चित्त स्थिर नहीं है। मैं स्वयं बहुत दुखी हूँ। ऐसी दशा में अपना कार्य-क्रम तुम स्वयं स्थिर कर लो।"

हन्नू अभी गया नहीं था। वीणा बोली—"अरे हन्नू, लो, इस पानी को कुछ अधिक गरम कर लाओ। और देखो, इन दोनों प्यालों को भी लेते जाओ।"

निष्काम बोला—"मेरे लिए ठीक है।"

इतने में शंकर उठकर खड़ा हो गया और बोला—"मैं अभी आया।"

शंकर चला गया।

शंकर निश्चय और अनिश्चय की दुविधा में खम्भे से लगा हुआ कुछ सोच रहा था—यों ही।

इतने में माँ ने पुनः लौटकर कह दिया—"मुन्नी, मेरा जी करता है कि अगर रन्नो एक ही दो दिन के लिए जा रही हो, तो मैं भी उसके साथ चली जाऊँ।"

शंकर बोला—"हाँ अम्मा, तुम्हीं चली जाओ। मगर तुम कहती भर हो कि मैं दो दिन में लौट आऊँगी। वहाँ पहुँच जाने पर मौसी तुम्हें इतनी जल्दी छोड़ेंगी नहीं। लेकिन फिर और चारा क्या है! ऐसे समय भी साथ न दोगी, तो मौसी को बुरा न लगेगा?"

माँ ने उत्तर दिया—"मुन्नी, वात यह है कि एकदम न जाने से तो एक-दो दिन के लिए ही आना अच्छा ही है।"

अव शंकर के मुँह से निकल गया—"अम्मा, एक-दो दिन के लिए तो मैं भी जा सकता हूँ। लेकिन फिर शान्ति-संस्कार के दिन जव समस्त कुटुम्वी और नातेदार इकट्ठे होते हैं, तव फिर दुवारा जाऊँ, इतना समय मेरे पास कहाँ है ?"

तव माँ वोल उठीं—"तो मैं भी उसी समय जाऊँगी।" इस कथन के साथ मुन्नी की माँ भीतर चली गई।

वीणा अव अपना प्याला वना चुकी थी कि इतने में पोस्टमैन आ पहुँचा। हनू ने चिट्ठी लाकर शंकर के हाथ में दे दी। लिफ़ाफ़ा देखते ही वह स्तम्भित हो उठा। सोचने लगा—'यह तो वावू के हस्ताक्षर मालूम पड़ते हैं। मगर वे तो कभी अपने हाथ से किसी को चिट्ठी लिखा नहीं करते !'

तव शंकर ने झट लिफ़ाफ़ा खोलकर उसे पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। पढ़ते-पढ़ते उसका चेहरा तमतमा उठा, पूरा पढ़ जाने पर चाय वहाँ रखी रह गई। वह तुरन्त अन्दर चला गया और माँ के पास पहुँचते-पहुँचते वोल उठा—"अम्मा, न जाने क्या होनहार है !"

शंकर के इस कथन को एक निश्वास के साथ सुनकर उसकी माँ घवरा गई और काँपते हुए स्वर में वोल उठीं—"क्यों, क्या हुआ मुन्नी !"

शंकर ने चिट्ठी आदि से लेकर अन्त तक उनको सुना दी। वीणा पीछे खड़ी रही। निष्काम पहले तो यह कहकर चल दिया—"मैं भी जा रहा हूँ।" किन्तु वह द्वार तक जाकर यह सोचकर पुनः लौट आया कि 'कल से कुछ ऐसा मुहूर्त वदला है कि घटनाओं का तार ही नहीं टूट रहा है। जान पड़ता है, फिर कोई कांड हो गया ! ऐसे समय उसको यहीं रहना चाहिए। संकट के समय ही मित्र को परीक्षा देने का अवसर मिलता है।' वैठक में आकर वह पुनः अपने स्थान पर वैठ गया।

चिट्ठी पूर्ण करने के अनन्तर एकाएक शंकर उत्तेजना के स्वर में बोल उठा—"मेरी समझ में नहीं आता अम्मा, दादा को हो क्या गया है ! क्या वे यह समझ बैठे हैं कि अब उन्हीं की मुद्रा देखकर विश्व का पत्ता-पत्ता हिलेगा ! हम लोगों के भिन्न विचारों के प्रति वे ऐसे निर्दय और कठोर कैसे हो गये ! मानता हूँ कि उन्होंने मेरे जीवन का निर्माण किया है। किन्तु यह भी मानता हूँ कि कलाकार जो खिलौना बनाता है, उसके एक बार पूर्ण रूप से बन जाने पर, फिर तत्काल उसको पत्थर पर फेंककर चूर-चूर नहीं कर देता ! कला स्वयं अपना एक अस्तित्व रखती है। इसलिए कि उसमें जीवन होता है, प्राण होता है, प्राणों का स्पंदन होता है।···पिता पुत्र को जन्म देता है और पुत्र जब यह मानता है कि हाँ तुम्हींने मुझे जन्म दिया है, तब यदि कभी उस पुत्र से कोई भूल भी हो जाय, तो पिता को यह अधिकार नहीं होता कि वह पुत्र की छाती पर सवार होकर उसका गला घोंट डाले !—उसे सदा के लिए समाप्त कर दे ! हम दादा के आज्ञाकारी है, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम उनके क्रीत दास हैं। जमीन के मामले में उन्होंने जो फैसला किया है, हम में से कोई भी उसको मानने के लिए तैयार नहीं। आज कर्तव्य की वेदी पर हमारे बलि होने का प्रश्न सामने है ! उसके सामने हम पीछे पैर रखने के लिए कदापि तैयार नहीं हैं। हमें अपने अधिकारों के लिए अब उनसे लड़ना पड़ेगा !···अच्छा मजाक बना रखा है ! हमने आज तक उनकी कोई आज्ञा नहीं टाली। हम अपनी इच्छाओं को उनके चरणों के आगे सदा पटक देते रहे हैं ! केवल इसलिए कि वे एक महापुरुष हैं, हमारे इस कुटुम्ब के एकमात्र निर्माता। उनकी गुणावली के सामने मेरा मस्तक सदा नत रहा है; लेकिन यदि अपने सिद्धान्तों के विरोध में वे स्वयं आ खड़े होंगे, तो मुझे उन सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अब उन्हीं से लड़ना पड़ेगा ! मैं अनुचर उस महान् आत्मा का हूँ जिसने मेरा निर्माण किया है, उस घोर अहंवादी का नहीं, जो आज मुझे पीस डालना चाहता है !

शंकर अब बहुत उत्तेजित हो उठा था। उसके होंठ, भृकुटियाँ, पलक और बाहुद्वय फड़क-फड़क उठते थे। उसके भाल पर बिखरा हुआ केश-गुच्छ हिल-हिल उठता था। उसका वक्ष-प्रान्त उठता और गिरता था, उसकी मस्तक पर रेखाएँ बनती, सिमटती, फैलती और बिगड़ती थीं। सारी कोठी उसके कथन की ध्वनियों के साथ प्रतिध्वनियाँ उत्पन्न कर रही थीं। दूर से ऐसा विदित होता था, जैसे कोई तानाशाह बोल रहा हो! उसके इस गुरु-गंभीर उद्घोष को सुनकर माँ, वीणा, निष्काम और हनू सब-के-सब अवाक् हो उठे।

इसी समय शंकर की बैठक का पर्दा हिल उठा और एकाएक छड़ी टेकते हुए केदारबाबू बोल उठे—"अरे मुन्नी, यह सब क्या हो रहा है?"

वे बैठक के द्वार पर खड़े-खड़े शंकर का सिंहनाद पूरा-का-पूरा सुन चुके थे!

---

## : ३६ :

घनश्याम ने लेटे-लेटे रजनी की ओर देखते हुए कह दिया—"ए, सुनती है ?"

"क्या है ?"

"जरा रेणु को तो बुलाना ।"

रजनी ज्यों ही उठने लगी, त्यों ही साथ लेटा हुआ बच्चा रो पड़ा। रजनी फिर उसके साथ लेट गई और वक्ष से लगाकर उसकी पीठ थप-थपाती हुई बोली—"तुम्हारी आदत बड़ी खराब हो गई है। देख रहे हो कि बेबी को लिये हुए मैं पड़ी हूँ और तिनके-से काम के लिए झट हुकुम दे दिया—"रेणु को बुलाओ ! रेणु के पास तुम खुद नहीं जा सकते ?"

घनश्याम बोल उठा—"अच्छा-अच्छा रानी, बिगड़ती क्यों हो ? मैं खुद ही जाता हूँ।" और इतना कहकर वह रेणु की ओर चल दिया।

रेणु का कमरा बन्द था। तब वह दरवाजे पर खड़ा हो खटखट करने लगा।

इतने में रेणु ने आकर दरवाजा खोलते हुए कह दिया—"ओः दद्दा !"

"उस दिन वह जो तीन विषय तुमने लिखकर दिये थे, हमारे सम्पाद-कीय विभाग ने एकमत से यह निश्चय किया है कि उन तीनों विषयों पर तुमको लिखने का अवसर दिया जाय ! वे विषय उन्हें इतने पसन्द आये हैं कि उनको प्रकाशित करने का लोभ वे संवरण न कर सकेंगे।"

रेणु तब उत्साहित होकर बोल उठी—"यह सब तुम्हारी ही कृपा

का फल है दद्दा ! मैं अब जल्दी-से-जल्दी तीनों लेख तैयार कर दूँगी ।"

"मुझे खुद नहीं मालूम था रेणु कि इतनी जल्दी तुमको अपने लेखन-कार्य में सफलता मिल जायगी । बस, मैं यही कहने के लिए आया था ।"

रेणु ने एक बार सामने के खुले दरवाज़े की ओर देखते हुए धीरे से पूछा—"बैठोगे नहीं ?"

घनश्याम ने उत्तर दिया—"नहीं, अब दस बज रहे हैं । आज बड़ी उमस है । मैं तो छत के ऊपर जा रहा हूँ ।"

"क्यों ? पंखा काम नहीं दे रहा है ?"

मैंने इस सीज़न में आयलिंग ही नहीं करवाई । इसलिए उसकी स्पीड मारी गई है !"

रेणु ने सकुचाते-सकुचाते उत्तर दिया—"अच्छा तो फिर···।"

घनश्याम चला गया ।

रेणु अब पुनः अपने पलँग पर आ गई । वह अभी लेट ही पाई थी कि गोमती ने अपनी चारपाई पर लेटे-लेटे पूछा—"क्या बात थी ?"

रेणु ने उत्तर दिया—"दद्दा, उन लेखों के संबंध में यह बतलाने आये थे कि वे सौभाग्य से तीनों विषय सम्पादकों ने पसन्द कर लिये हैं । उन्होंने कहा है कि जल्दी-से-जल्दी मैं उन तीनों को तैयार कर दूँ ।"

"···अच्छा, उस दिन केदारबाबू के घर से वे जो दो लड़के आये थे, उनमें से एक तो सुनती हूँ लखनऊ चला गया ।"

"हाँ चला गया ।"

"और जो दूसरा छोटा है, जिसका नाम ब्रह्मा है वह अतरे-चौथे तुमसे मिलता रहता है ।"

रेणु संकोच में पड़ गई, किन्तु बिना उत्तर दिये हुए कल्याण नहीं था, इसलिए उसके मुँह से निकल गया—"अतरे-चौथे तो नहीं, पर···।"

"हूँ ! तो चोरी-छिपे वह तुम्हारी चिट्ठी शंकर को देता होगा

और उसका जवाब उसी के द्वारा तुमको मिल जाता होगा ! क्यों ?"

रेणु बहुत गम्भीर हो गई; और उसने उत्तर दिया—"तुमको क्या हो गया है अम्मा ! आये दिन तुम इसी तरह के सही-ग़लत अनुमान लगाकर मेरा अपमान क्यों करती रहती हो ?"

"मैं कई बार कह चुकी हूँ रेणु कि अब तू यह आशा छोड़ दे। मगर तू है कि मेरी बातों का तेरे ऊपर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। अगर तुझे अपने ढंग से ही चलना है, तो तू अलग मकान लेकर रह। अब इस घर में मेरे साथ तेरा रहना नहीं हो सकता। हम लोगों की एक मर्यादा है और उसका पालन हमारे बीच में रहकर तुझे करना ही पड़ेगा। मेरे स्कूल की एक अध्यापिका कह रही थीं कि जब तू ताँगे पर अपने कालेज जाती है, कुछ आवारा लड़के साइकिल पर जाते हुए तेरा पीछा भी करते हैं ! मैं अपने को क्या कर डालूं, मेरी समझ में नहीं आता ! कितना मैं अपने मन को समझाती हूँ कि मैं तुझसे कोई अलग बात न कहूँ, पर मुझको फिर बोलना ही पड़ता है—एखेंएँ-एखेंएँ खेंखें···एं।"

रेणु घबरा गई—"अरे अम्मा, यह आज तुमको खाँसी कैसे आने लगी !"

गोमती की साँस उखड़ आई थी। उसकी पसलियाँ धौंकनी की तरह से ऊपर उठती और फिर नीचे गिर जातीं।

रेणु ने झट से पास आकर अपना हाथ गोमती के सिर पर धर दिया। हाथ का रखना था कि वह एकदम से चौंक पड़ी और उसके मुंह से निकल गया—"अरे अम्मा, तुमको तो ज्वर है ! बड़े जोर का ज्वर है, अम्मा !" फिर दाईं ओर देखकर बोली—"लल्ली जान पड़ता है, सो गई।"

उठकर रेणु लल्ली के पास जाकर उसको जगाने लगी—"लल्ली, लल्ली !" कन्धे को पकड़कर उसने हिलाया एक बार, दो बार और फिर बोली—"अरी, ज़रा उठ तो सही।" और उसने गर्दन के नीचे हाथ

डालकर उठाने की जो चेष्टा की, तो गोमती वोल-उठी—"सोने दे वेटा, सोने दे, वचपन की नींद वड़ी गहरी होती है।" वात करते-करते गोमती हाँफने लगी थी।

रेणु फिर माँ के पास आ गई और उसकी चारपाई पर वैठती हुई वोली—"अम्मा, तुम्हारी तवियत आज मुझे कुछ ज्यादा खराव जान पड़ती है। मेरा जी घवरा रहा है। मैं डाक्टर को वुला लाऊँ, अम्मा! इसीलिए मैं लल्ली को उठाने गई थी।"

तव धीरे-धीरे गोमती ने अपना दाहिना हाथ रेणु की ओर वढ़ाते हुए उसे अपने और निकट आ जाने का संकेत किया। रेणु उसके और पास आकर चारपाई की पटिया पर वैठ गई।

गोमती की साँस उखड़ी हुई थी और उसका सीना ऊपर-नीचे हो रहा था। इसलिए उसने कराहते हुए कह दिया—"रेणु धीरे-धीरे···मेरे जीवन की वाती···" और इतना कहते उसकी आँखों में आँसू भर आये।

रेणु वोली—"ऐसा नहीं कहते अम्मा। कल मैं डाक्टर को ले आऊँगी। एक इंजेक्शन से ही तुम्हारी तवियत ठीक हो जायगी।"

"नहीं रेणु, अव मेरी दवा में···पैसा खर्च करने की···ज़रूरत नहीं है। नदी का वेग···वढ़ रहा है। नाव किनारे से···चलकर···धार के वीच··· जा पहुँची है। मैं उस पार···पहुँचकर···रेणु···जीवन···की···वाती··· ···दीपक में···स्नेह···अव वहुत···कम हो···गया है। लल्ली को अव ···तू···ज्यादा मत पढ़ाना।···तुमको जो···मैंने···ज्यादा···आगे··· वढ़···जाने···दिया···उसका परिणाम···?"

झर···झर···झर···गोमती की आँखों से आँसू झरने लगे।

रेणु वहुत घवरा गई। वोली—"अम्मा, तुम अगर और रोओगी तो मैं अभी जाकर छज्जे के नीचे कूद पड़ूँगी!" और इतना कहती-कहती रेणु स्वयं सजलनयन हो उठी। ब्लाउज़ के मुँह में रखे हुए उस रूमाल को, जो उसने उस दिन शंकर की पैंट के जेव से उभार लिया था, निकालकर

माँ के आँसू पोंछ दिये ।

गोमती बोली—"अच्छा रेणु,···रानी···बिटिया··· मुझे अपनी पूरी बात तो कह लेने दे।···मैं यह कह रही थी कि···लल्ली को बहुत अधिक न पढ़ाना।···नहीं तो उसका विवाह होने में···फिर तुझे ऐसी ही परेशानी होगी। इसी तरह तेरा दम घुटने लगेगा, यही हालत एक दिन तेरी हो जायगी, जैसी इस समय···रानी !···तू···सच···सच मुझको बता दे··· क्या···इधर···कभी शंकर से···तेरी भेंट हुई थी ?"

झर···झर···झर ! गोमती रोने लगी।

एकाएक रेणु चिल्ला उठी—"तुम्हें क्या हो गया है अम्मा ! आज तुम इस तरह की बातें क्यों कर रही हो ?"

एक निश्वास के साथ गोमती धीरे-धीरे बोली—"एक बार ऐसा हुआ रेणु कि तेरे बाबू मुझसे कुछ वायदा करके चले गये। फिर दो-तीन साल बीत गये और उनका कोई समाचार नहीं मिला। फिर माता और पिता दोनों ने मिलकर मुझको नोचना और मेरी जान खाना शुरू कर दिया—कुछ तो बात है, जो गोमती और किसी के साथ विवाह करने को तैयार नहीं होती !···अरे, इस जमाने के यह लड़के···जो न करें, सो थोड़ा है···। आः रेणु···मैं क्या कहने लगी !···खैर, आज अगर शंकर मेरे पास कहीं से होकर आ जाता···तो···तो ?"

अब गोमती और रेणु दोनों-की-दोनों रो पड़ीं। दोनों पास-पास थीं ही। तब गोमती रेणु के आँसू पोंछने लगी और रेणु गोमती के। फिर थोड़ी देर बाद गोमती कुछ स्थिर, कुछ सावधान होकर बोल उठी—"किसी के माता-पिता सदा जीवित नहीं रहते रेणु, मान लो···मैं मर ही जाऊँ···तो तेरा क्या बिगड़ेगा ?···ओ·········।"

रेणु एक झटके के साथ उठकर लल्ली के पास जा पहुँची और जोर से लकलकाकर उसने उसे उठाकर बैठा दिया। फिर गम्भीर स्वर में उसने कह दिया—"अम्मा की तबियत बहुत खराब है लल्ली, बहुत खराब !

मैं डाक्टर को लेने जा रही हूँ। तू अम्मा के पास ज़रा बैठी रह और देख, वहाँ ऊँघ-ऊँघकर सो न जाना ! बड़ी भयानक रात है !"

और रेणु इतना कहकर दरवाज़े की ओर जाने लगी, तो गोमती चीख उठी—"अरी···मूर्ख···इतनी···रात···में···तू···अकेली···डाक्टर को···बुलाने···जारही···है ?···हे···भगवान् ! लौट आ बेटी, लौट आ ! मेरे मर जाने से कुछ नहीं बिगड़ेगा, मगर तू अगर इस समय अकेली डाक्टर को लेने जायगी, इतनी पढ़ी-लिखी होकर···तुझे इतना भी ख्याल नहीं रहता···कि हमारे···समाज की···आँखें···बन्दूक की गोली से कहीं ज़्यादा प्राणघातक हो गई हैं ! और तू डाक्टर को लेने जा रही है !···मूर्ख···?"

अब रेणु लौट आई। और माँ के पास आकर उसको समझाती हुई बोली—"माँ, तुमको मेरे ऊपर कभी अविश्वास नहीं करना चाहिए। मैं तो घनश्याम दद्दा को भेज रही थी। मैंने दरवाज़े तक जाते-जाते यह सोच लिया था।···लल्ली, मैं अभी आई।"

गोमती ने फिर रोकना चाहा। वह बोली—"नहीं रेणु, इतनी रात को घनश्याम को कहीं भेजना मुझे स्वीकार नहीं। बैठ बेटी ! मैं तुझे एक बात और बता दूँ। किसी आदमी का कभी कोई उपकार उधार नहीं रखना चाहिए। क्योंकि आज की दुनिया का हरएक आदमी अपनी रत्ती-भर कृपा के आदान के लिए मन-भर प्रतिदान का भूखा हो उठा है। बेटी, यह जो रात-दिन घनश्याम लेख लिखाने के माध्यम से तेरी मेरी सहायता करता रहता है न, यह भी कौन जाने किस दिन साँप की तरह तेरे ऊपर फन काढ़कर अपने विषैले दाँतों से तुझे विषाक्त बना दे !···बहुत···बच-कर···चलने···की···जरूरत···है···रेणु···कैसे···कैसे···सपने···देख···देख···कर···तोड़···तोड़···कर···मैंने···तुझे···अब···तक···इतना···स्वावलम्बी···और···सामर्थ्यशाली···बना···पाया···है··· तू···भूल··· गई !···लल्ली···तू···भी···मेरे···पास···ज़रा···आ जा···बिटिया !

अ आ···आ···आ···ह !"

रेणु तभी बोल उठी—"अम्मा, तुमने बात तो बड़े महत्त्व की बतलाई। लेकिन सभी पर अविश्वास करके क्या कभी हम एक पग भी आगे बढ़ने का अवसर पा सकते हैं? अगर हम लोग दद्दा की सहायता स्वीकार न करते, तो आज हम कहाँ होते ? अम्मा, तुम चाहे जो समझो, लेकिन मैं नहीं मानती कि घनश्याम दद्दा के मन में कहीं कोई कलुप है। और अम्मा, अगर हमारा मन निर्मल है, हमारी आत्मा दृढ़ है, तो डरने की कहीं गुंजायश नहीं है। पिशाच उन्हीं को दबोचना जानता है, जिनका मन दुर्बल होता है।"

गोमती ने रेणु की इस बात पर सिर हिला दिया और वह फिर धीरे से बोल उठी—"तू ठीक कहती है रेणु। आ, मेरे पास आ जा।"

रेणु तब माँ के बिल्कुल पास पहुँच गई।

गोमती ने रेणु के सिर पर हाथ रखकर उसे आशीर्वाद देते हुए कह दिया—"रेणु, बिटियारानी, तू सचमुच सीता है। तुझको जन्म देकर मैं धन्य हो गई।···अ···आ···ह ! ···अ···आ···ह···रानी, कोई मुझे जगा रहा है।··· जगा रहा है रेणु···किसी का हाथ मेरे सिर पर है···वह पर है···अरे-अरे यह कौन है ? !"

रेणु फिर बहुत घबरा गई।

गोमती की आँखें आँसुओं से तर थीं। उसका मुँह आँसुओं से भीग गया था। रेणु ने अपना रूमाल का सूखा हुआ अंश आगे बढ़ाकर माँ के आँसू पोंछना प्रारम्भ किया ही था कि रूमाल का एक कोना गोमती के मर्मग्राही नासिका-रन्ध्र पर थोड़ा स्थिर हो गया। तब गोमती के मुख पर एकाएक हास झलक उठा और एक बार उसका सारा शरीर सिहर उठा।

"अच्छा", उसने मुस्कराते हुए पूछा—"रेणु ! यह रूमाल ? बिटियारानी तू मुझे इतना तो बता दे, यह रूमाल···?"

इतने में रेणु कुछ संकुचित होकर विनत हो गई। वह अपनी आँखों को माँ से न मिला सकी और तब गोमती ने फिर एक बार अपना सारा बल और साहस समेटकर दाहिना हाथ आगे बढ़ाते हुए रेणु की पीठ पर रखना चाहा। रेणु उसकी भावना समझकर थोड़ी झुक गई। तब गोमती का हाथ अब उसकी पीठ पर जा पड़ा।

अब गोमती से यह बात छिपी न रह सकी कि शंकर से रेणु की भेंट हुई थी। शंकर इस घर में आया था, इसका निश्चय तो इसी बात से हो गया था कि उसका विजिटिंग कार्ड लल्ली को ज़ीने की सीढ़ियों पर ही मिल गया। पर इस विषय में जो एक शंका शेष रह गई थी कि रेणु भी उससे मिल पाई या नहीं, उसका निवारण भी उस रूमाल ने कर दिया, अभी-अभी रेणु ने जिससे उसके आँसू पोंछे थे। तब उस रुग्णावस्था में भी गोमती के मन-प्राण सिहर उठे! एक लहर उसके मन के एकान्त क्रोड़ में आ गई—'अच्छा तो यह रूमाल मेरे आँसू पोंछने के लिए ही शंकर रेणु के पास छोड़ गया है!' तुरन्त अपनी प्रतिक्रिया वह कैसे व्यक्त करे, निश्चय न कर सकी। बहुतेरे मनोभाव ऐसी अवस्था में प्रायः अव्यक्त ही रह जाते हैं। भाषा, उनकी अभिव्यंजना के लिए, उपयुक्त शब्दावली का एक दुर्निवार स्रोत माँगने लगती है।

तब गोमती ने अपनी आँखें मींच लीं और जैसे अपने ही अतीत के साकार स्वप्न वह देखने लगी। ऐसा ही एक आश्वासन उसे भी तो उनसे मिला था। उन्होंने प्लेटफार्म पर मुझसे कहा था—'विश्वास बहुत बड़ा बल होता है गोमती। वह केवल अपनी ही रक्षा नहीं करता, अपने जीवन-साथी को भी बल देता रहता है। जो लोग सहज ही अपना धैर्य खो देते हैं, वे कालान्तर में अपने आपको भी खो बैठते हैं! विश्वास का स्खलन ही हमारे जीवन में प्रायः आत्मघात बन जाता है।'

तब अपने स्वर्गीय स्वामी के इस कथन-क्षण की छवि का स्मरण करती-करती गोमती फिर सजल-नयन हो उठी।

रेणु ने देखा, माँ की आँखों से फिर आँसू टपक रहे हैं। वाणी मूक है, स्वर रुद्ध है, केवल एक नयन हैं जो मन की बात छिपा नहीं पा रहे हैं।

तभी रेणु बोली—"अम्मा, तुम्हारा यह रोना मुझसे देखा नहीं जाता। दिन होता तो मैं डाक्टर को लाये बिना न रहती। पर ऐसी अँधेरी रात में...!"

रेणु अभी अपनी बात पूरी भी न कर पाई थी कि गोमती बोल उठी—"नहीं रेणु, बादल घिर आये थे, इसीलिए तूने समझ लिया, रात अँधेरी है। पर वास्तव में रात अँधेरी नहीं, उजेली है। ऐसी उजेली रात भगवान् सबको दे। तू चिन्ता न कर रेणु, मैं अब मरूँगी नहीं। शंकर का कोई आश्वासन व्यर्थ नहीं जाता। मुझे अब विश्वास हो गया बेटा, तेरा पार्वती-व्रत पूर्ण होकर रहेगा।"

तब थोड़ी देर में गोमती की आँखें झपकने लगीं।

---

: ३७ :

केदारवाबू का स्वर सुनते ही शंकर अस्त-व्यस्त हो उठा। उन्होंने प्रवेश करते हुए जो प्रश्न कर दिया—"अरे मुन्नी, यह सब क्या हो रहा है।" उससे वह यह भी समझ गया कि मेरे समस्त उद्‌गार इन्होंने सुन लिये हैं। अब अपने-आपको कहीं से भी छिपाने का उसके निकट कोई साधन नहीं था। तब बात-की-बात में एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना, वह दौड़कर उनका चरणस्पर्श करने के लिए बैठक में जा पहुँचा। सामने दृष्टि पड़ते और आशीर्वाद लेते-लेते उसके मुँह से निकल गया—"कुछ नहीं दादा, आपने यह जो नाटक रच डाला है, उसी का अभ्यास चल रहा है!"

केदारवाबू ने देखा, मुन्नी के मुख पर किसी प्रकार का संकोच नहीं है। वह किसको ऐसा उत्तर दे रहा है, इसका किंचित् भय भी उसकी मुद्रा पर नहीं झलकता। तात्पर्य यह कि मुझसे लड़ने के लिए आज अपना यह मुन्नी भी पूरी तरह तत्पर है!

तब एक बार केदारवाबू के मन में आया—'इसके पास आकर मैंने भूल की।'

'पर अब क्या हो? सहज ही भूल स्वीकार कर लेनेवाला योद्धा वीर नहीं होता।'

'फिर?'

फिर मुन्नी के इस कथन का तीखा उत्तर न देकर केदारवाबू हँस पड़े।

क्या इस भाव से कि वे मुन्नी को बच्चा समझकर उसे खिलाना चाहते थे?

नहीं ।

फिर क्या यह समझकर कि वे उसके इस उत्तर की ध्वनि के मर्म को कोई महत्त्व नहीं देना चाहते थे ?

नहीं ! उनका यह आशय भी न था ।

फिर ?

फिर भी वे इसलिए हँस पड़े कि देखें, मैंने मुन्नी की इस रचना में कहीं कोई भूल तो नहीं की । अतएव हँसी के साथ वे बोल उठे—"मगर मुन्नी, अभी तो तुमने इस नाटक का प्रारंभिक भाग ही पढ़ा है । जिस शौर्य-प्रदर्शन की आवश्यकता अन्तिम पराकाष्ठा पर होती है, उसका उपयोग अभी से करने लगना तुम्हारे लिए कहाँ तक उचित है !"

शंकर अब विचार में पड़ गया । दादा से उसको ऐसे उत्तर की आशा न थी । अतएव उसने उनके इस प्रश्न का उत्तर भी कुछ मुस्कराते हुए ही दे दिया—"बात यह है दादा, नाटक का जो अंश मुझे पढ़ने को मिला है, प्रारंभिक होते हुए भी वह अभिनेता की चोटी थाम लेने में पूर्ण समर्थ है ।"

"यहीं तुम ग़लती कर बैठे मुन्नी ।" अब कुछ गम्भीर होते हुए केदार-ब़ाबू बोले—"नाटककार यह कभी न चाहेगा कि मेरा नायक भावना में बहकर कोई ऐसी भूल कर बैठे, जिसका प्रतिशोध, बहुत चेष्टा करने पर भी, वह प्रभाव की चरम परिणति में न कर पाये ।"

"तो आप यही कहना चाहते हैं कि नाटक का प्रस्तुत अंश ऐसी कोई भावना नहीं देता, जिससे नायक की अन्तरात्मा को तीव्र मर्माघात अनुभव करने का अवसर हो ?"

"निस्संदेह ।"

"अगर ऐसी बात है, तो आपको नाटक के इस दृश्य का एक बार संशोधन करना पड़ेगा ।"

"कोई नाटककार अपने रंगमंच के नायक को यह कहने का अधिकार नहीं देता···।"

"तो कोई नायक भी अभिनय के क्षेत्र में नाटककार का ऐसा विवाद-ग्रस्त निर्देशन स्वीकार नहीं करेगा।"

"विवादग्रस्त ! भाषा का संयम तो भंग न करो मुन्नी।"

इस बार केदारबाबू के स्वर की गुरुता कुछ अधिक तीव्र हो उठी।

"हाँ, विवादग्रस्त ! फिर जहाँ तक अभिनय का सम्बन्ध है, भाषा के संयम का तो प्रश्न ही नहीं उठता, दादा। संयम तो वहाँ केवल भाव-प्रदर्शन में द्रष्टव्य होता है।"

इस बार शंकर के कथन में समाधान की विकारहीन सरलता और एक प्रकार की शालीन मृदुलता थी। केदारबाबू ने अब इस समय इस विषय को और आगे बढ़ाना उचित नहीं समझा। दोनों बातें करते-करते कभी एक स्थान पर स्थिर हो जाते और कभी साथ-साथ चलने लगते। धीरे-धीरे वे भीतरी आँगन में पहुँचकर आगे बढ़कर उसी कमरे के पास जा पहुँचे, जहाँ शंकर का पलँग बिछा हुआ था।

अन्दर प्रवेश करते हुए केदारबाबू बोले—"तुम्हारा कमरा तो अच्छा है मुन्नी।"

तब शंकर के मुँह से निकल गया—"पर यह कमरा दादा, आपके नायक का नहीं, उस नाटककार का है जो नायक का निर्माता है।"

"अच्छा !" आश्चर्य के साथ आनन्द का अनुभव कर केदारबाबू हँस पड़े और बोले—"तो तुम्हारी इच्छा है कि मैं अब यहीं रहूँ।"

"दादा, इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य और क्या होगा ?"

इसी समय एकाएक झोला हाथ में टाँगे, श्वेत धोती-चप्पल पहने, देवकी आ पहुँची और हँसती-हँसती बोली—"देहरादून के महिला-शिविर से लौट रही हूँ, दादा ! लखनऊ-स्टेशन पर आते ही देखा, फैजाबाद जाने वाली गाड़ी खड़ी है। तब मेरे मन में आया, क्यों न एक दिन को मुन्नी भैया के यहाँ होती चलूँ। नित्य तो ऐसा अवसर मिलता नहीं।"

नया रेडियो-सेट आये अधिक दिन नहीं हुए थे। वीणा ने इसी क्षण

उसे झट से जो ऑन कर दिया तो एकाएक उद्घोषक बोल उठा—"इसके पश्चात् मुनिवर आचार्य विनोबाभावे ने कहा—"जब-जब किसी देश की सभ्यता ने करवट बदली है, तब-तब उसने नई संस्कृति का निर्माण किया है। कुछ गृह-संघर्ष भी हुआ है और उसमें रक्त-पात भी थोड़ा-बहुत अवश्य हुआ है। जब मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि वर्तमान समाज-व्यवस्था की नींव की ईंटों में स्पर्धा और विषमता की मिट्टी लगी हुई है, तब समानता की भूमि तैयार करके समविभाजन और समान वितरण करनेवाली नई ईंटें उस नींव में दिये बिना नये समाज का भवन कैसे खड़ा हो सकता है! आप देखते हैं कि माँ के जब चार बच्चे होते हैं, तब उसका प्यार चारों में बँट जाता है। अगर किसी एक बच्चे की आय कम होती है तो वह अधिक आय वाले बच्चे के दिये हुए पैसे से कम आय वाले बच्चे के अभाव की पूर्ति करने लगती है। मतलब यह कि उसका सभी बच्चों पर समान-रूप से प्यार होता है। उसी प्रकार यह धरती माता भी सभी बच्चों को समान-रूप से प्यार करती है। यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि कुछ लोगों के पास तो इतनी ज़्यादा भूमि रहे कि वक्त पर बोई भी न जा सके और कुछ लोगों के पास इतनी भी भूमि न हो कि उनके बच्चों को पेट-भर रोटी मिल सके! यदि समाज-रचना और समाजव्यवस्था का यही रूप बना रहा, तो यह समाज बहुत जल्दी नष्ट हो जायगा। ऐसे समाज में शान्ति कभी पनप नहीं सकती।···जो लोग भूमि-अधिकार के सम्बन्ध में न्यायविभाग के पुराने प्रमाण-पत्र पेश करते हैं, वे यह नहीं जानते कि अब इन प्रमाणपत्रों में जलती हुई दियासलाई लगा देने का समय आ गया है! जब तक ऐसे अधिकारपत्रों की होली नहीं जलाई जाती, तब तक जनता का वास्तविक हित-साधन असम्भव ही बना रहेगा। मेरी समझ में नहीं आता कि एक मामूली-सी बात लोग क्यों नहीं समझना चाहते कि सारी भूमि तो भगवान् की है; क्योंकि यह पृथ्वी, आकाश, पवन, जल और अग्नि इन पाँच तत्त्वों में से एक है। हमारा शरीर भी

पाँच तत्त्वों से बना है। अब सोचने की बात है कि जैसे भगवान् ने हमको हवा, पानी, अग्नि और आकाश का उपभोग करने की शक्ति और स्वतन्त्रता दी है, वैसे ही भूमि का उपयोग करने की। ऐसी दशा में यदि कुछ आदमी भूमि का उपभोग करने से वंचित रह जाते हैं, तो मानवात्मा पर दंड और अत्याचार ईश्वर का नहीं, उस मनुष्य-समाज का है जो स्वार्थ-साधन के लालच में अन्धा हो गया है।"

मुनिवर विनोबाजी के प्रवचन का यह अंश एक-दूसरे कमरे से सुनते-सुनते देवकी बोल उठी—"दादा, उस दिन मंगलपुर के अपने द्वार पर तुम भी इसी स्वर में बोल रहे थे।"

"वह स्वर मेरा नहीं था देवकी। वह तो वास्तव में संत श्री विनोबा-भावे का ही दिया हुआ था, जो आज बापू का स्वप्न चरितार्थ होते देखना चाहते हैं।"

कहते-कहते केदारबाबू शंकर की ओर उन्मुख होकर बोले—"उनका स्वप्न था स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद सम्पूर्ण देश में रामराज्य स्थापित करना। रामराज्य क्या है, इसकी चित्र-कल्पना उन्होंने कई बार की थी। रामराज्य के विषय में उनकी मान्यता थी कि जहाँ शोषण न हो, समता हो; शिथिलता और उदासीनता न हो, उत्साह, तत्परता और प्रसन्नता हो; जहाँ बेकारी न हो, कर्मण्यता हो; जहाँ सबके पास काम हो; जहाँ कोई भूखा-नंगा सम्भव न हो, पर इस स्वप्न को चरितार्थ करने से पूर्व ही भगवान् ने उनको अपने पास बुला लिया और संत विनोबा के मन में इसके लिए प्रेरणा उत्पन्न की। तब विनोबाजी ने जन-जन को समझाया कि तुम सब स्वार्थों में डूबकर पाप कमा रहे हो। इस प्रकार रामराज्य यहाँ स्थापित नहीं हो सकता। भूमि और सम्पत्ति के स्वामियों से उनका कहना है कि भूमि पर उसी का अधिकार है जो उसको जोतता और बोता है। 'जो बोये सो खाये' कहावत भी तो है। बिना पसीना बहाये जो भूमि की कमाई खाता है, वह अन्यायी है—पापी है।"

देवकी इस पर हँस पड़ी। धोती के अंचल को दाँत से दबाकर वह बोली—"तो दादा, हम लोग भी पापी हुए! मुन्नी, तुम सुन रहे हो न, दादा क्या कह रहे हैं?"

शंकर बोल उठा—"सब सुन रहा हूँ दीदी। सब अनुभव कर रहा हूँ। यहाँ तक कि बहुपठित और उच्चशिक्षित लोगों की बौद्धिक योग्यता, शारीरिक क्षमता भी उसी समाज की देन है, जिसने हमारा निर्माण किया है। सच पूछो तो हमारे ऊपर भी यह एक प्रकार का ऋण है, जिसे उस समाज को लौटा देना हमारा कर्तव्य है।"

"लो मुन्नी, तुम भी अब दादा के स्वर में स्वर मिलाने लगे।" देवकी बोल ही रही थी कि एकाएक सुनाई पड़ा कि वीणा सिसकियाँ भर-भर कर रो रही है।

तब एकाएक दादा ने घबराहट के साथ पूछा—"क्या हुआ, क्या हुआ!"

तब शंकर ने अत्यन्त उदास होकर उत्तर दिया—"माया भैया के भुवाली पहुँचते ही मीरा भाभी का स्वर्गवास हो गया! आठ मास का एक निष्प्राण बच्चा भी पैदा हुआ था! उन्हीं का स्मरण कर रन्नो बार-बार रो उठती है!"

कौन जाने शिशु-जन्म के इसी दुष्परिणाम की ओर मीरा का यह संकेत रहा हो—'इसके अतिरिक्त मेरे पास और भी एक जवाब है, पर उसे इस समय नहीं, उस समय दूँगी जब उसका प्रमाण मेरे हाथ में होगा!'

नियति का यह कैसा व्यंग्य है कि मीरा अपने स्वामी को यह जवाब देने से पूर्व ही अन्तरिक्ष में लीन हो गई!

'रन्नो यहाँ आ कैसे गई?' इस प्रश्न को मन-ही-मन दबाते हुए केदार-बाबू बोल उठे—

"यह तुमने बुरा समाचार सुनाया मुन्नी। हालांकि जीवन-मरण तो

सृष्टि का एक क्रम है, पर माया की दुलहिन का यह असामयिक निधन मेरी समझ में नहीं आया ।"

इतने में सिर के ऊपर से धोती की हरी किनारी मस्तक के नीचे बिल्कुल आँखों तक खिसकाती हुई मुन्नी की माँ ने आकर केदारबाबू के चरणों पर अपना सिर रख दिया ।

केदारबाबू के जीवन में यह पहला अवसर था, जब मुन्नी की माँ ने उनको इस प्रकार प्रणाम किया था। अतः एकाएक वे कुछ ऐसे सकपका गये कि न तो मुन्नी की माँ को इसके लिए मना ही कर सके, न स्वयं अपने पैर ही पलँग के ऊपर उठा पाये । किन्तु यह समझने में उन्हें देर न लगी कि यह नया अभिवादन अपना एक विशेष मन्तव्य अवश्य रखता है। अतएव वे मुन्नी की माँ के सिर को अपना वरद हस्त-स्पर्श देकर आशीर्वाद की वाणी में बोल उठे—"सदा सुखी रहो मुन्नी की माँ । भगवान् करे सदा अचल सौभाग्यश्री की अधिकारिणी बनी रहो ।"

तब मुन्नी की माँ आर्द्र कंठ और भीगे पलकों के साथ बोल उठीं—"तुमने यह क्या किया दादा ?"

"कुछ भी किया नहीं बेटा !" निर्विकार मन से केदारबाबू बोले—"कुछ करने लायक यों भी मैं क्या कभी रहा हूँ ! मैंने कभी समझा ही नहीं कि एक चने के दो दिउल हैं; किन्तु जब मैंने देखा कि छोटे भैया के मन में गाँठें पड़नी शुरू हो गई हैं तब मैंने वही किया जो ऐसी अवस्था में मेरे लिए उचित था ।"

इसी समय वीणा हनू को अपने साथ लेकर आ पहुँची, जो ट्रे में कटोरा भर दूध और कुछ मिठाई लिये हुए था ।

एकाएक तन्वंगी वीणा को सामने पाकर केदारबाबू बोल उठे—"तू यहाँ कब आ गई रन्नो ?"

मुन्नी की माँ बोली—"यहाँ लड़कियों के कालेज में इसको एक अच्छी-सी नौकरी मिल गई है । अचानक भाभी का पीछा हो जाने के कारण कल

से बेचारी कई बार रो चुकी है। इसी गाड़ी से इलाहाबाद जाने वाली थी, पर अब तो यह गाड़ी मिलने से रही। शाम को भले ही जाना हो।

अब वीणा बोल उठी—"मौसियाजी, तुम तो मुझको बिल्कुल भूल ही बैठे। न कभी वहाँ इलाहाबाद में आये और न कोई पत्र ही भेजा !"

शंकर इधर खिड़की खोले शून्य गगन की ओर देखता हुआ चुपचाप खड़ा था। केदारबाबू कुछ सोचते-से उसकी ओर देखते-देखते बोल उठे—"मुझे भी अब इलाहाबाद जाना पड़ेगा रन्नो। आज तो क्या, हाँ, कल हम लोग एक-साथ चलेंगे। और हाँ, रन्नो बिटिया, तेरी शिकायत सही है। पर यह भी उतना ही सही है कि मैं तुझे कभी भूल नहीं सकता।" फिर इसके बाद शंकर की ओर देखते हुए वे बोल उठे—"क्यों रे मुन्नी, ठीक है न ?"

केदारबाबू की इस बात को सुनकर शंकर एकदम से हक्का-बक्का रह गया।

उसी समय केदारबाबू बोल उठे—"अरे मैं सोचता हूँ मुन्नी, ऐसे समय एक-दो दिन को जो वहाँ पहुँच जाऊँगा, तो उन लोगों को कुछ तो सान्त्वना मिलेगी।"

शंकर को अब यह समझने में देर न लगी कि मौसी के यहाँ जाने में दादा का कुछ आंतरिक अभिप्राय भी हो सकता है। यों चाहे वह अन्यथा न सोचता, पर कैलाशबाबू के पत्र से इस प्रकार की शंका अब उसके लिए सर्वथा स्वाभाविक हो उठी थी। इसलिए उसने उत्तर दिया—"कैसे कहूँ दादा कि आपका इस समय वहाँ जाना उचित नहीं होगा। वैसे शान्ति-संस्कार के दिन ही प्रायः सब आत्मीय स्वजन इकट्ठे हुआ करते हैं। शोक-संतप्त परिवार को सान्त्वना तो देनी ही चाहिए। पर हमारे समाज में सान्त्वना देने की और एक परिपाटी भी कहीं-कहीं देखने में आती है।"

इसी क्षण मुन्नी की माँ बोल उठीं—"तू तो दादा को पानी भी न

पीने देगा मुन्नी !"

तब पलँग से उतरते-उतरते कुछ संदेहात्मक भाव से केदारबाबू ने पूछा—"कौन-सी परिपाटी रे ?"

शंकर ने वितृष्णा से मुँह बनाते हुए उत्तर दिया—"आपको मालूम ही होगा कि बिल्कुल तेरहीं के दिन ही, बाईस-चौबीस और कहीं-कहीं अट्ठाईस-तीस वर्षीया कुमारी लड़कियों के चाचा-ताऊ झटपट सब कुछ तय कर डालने के लिए मृतक के संबंधियों के साथ लगे चले आते हैं। जैसे घर की कोई दुधारू भैंस, गाय या बैलगाड़ी में चलने और हल जोतने वाला बैल मर जाय, तो उसकी कमी पूरी किये बिना किसी तरह काम नहीं चलता, वैसे ही इस सदुद्योग से मनुष्य-पशु का अभाव भी सहज ही दूर हो जाता है !"

हन्नू पानी और तौलिया लाकर केदारबाबू के हाथ-पैर धुलाने में लगा था। इसलिए केदारबाबू शंकर की बात चुपचाप सुनते रहे। बीच में कुछ बोल न सके; यद्यपि बात के प्रारम्भ से ही यह जान गये थे कि मुन्नी क्या कहने जा रहा है। बात एक प्रकार से सही भी थी, पर वे यह न समझ पाये कि किस तुक से मुन्नी आज यह बेसिर-पैर की बातें मुझे सुनाये जा रहा है।

अब घड़ी में साढ़े दस बज रहे थे और शंकर ने भोजन भी न कर पाया था। अतएव वह बोला—"अच्छा दादा, मैं तो अब जाऊँगा, नहीं तो फिर मुझे देर हो जायगी। मेरा ताँगा कब का खड़ा हुआ है। बाक़ी बातें शाम को होंगी। रह गया खाना, सो मुझे वहीं भेज देना अम्मा ! और देखो रन्नो, तुम भी आज न जा पाओगी। अपने लिए छुट्टी का आवेदन-पत्र हन्नू के द्वारा कालेज भिजवा देना, अच्छा।"

जिस समय शंकर कचहरी पहुँचा, ग्यारह बज रहे थे। संबंधित लोगों में से एक साहब पेशकार से पूछ रहे थे—"आज साहब अभी तक नहीं आये ? वैसे तो वे सदा ही समय से आ जाते हैं।"

कहीं से उस व्यक्ति की यह बात वर्मा साहब के कान में जा पहुँची। तब अपने चाँदी के पनडब्बे से दो बीड़े निकालकर मुँह में खोंसते हुए वर्मा साहब बोल उठे—"बिल्कुल ग़लत बात है। शंकर साहब ग्यारह से पहले कभी आये हैं कि आज ही आयेंगे ?"

अभी थोड़ी देर पहले केदारबाबू ने भोजन किया था। आराम करने के अभिप्राय से पलँग पर आकर वे लेट गये। रात को ट्रेन में यों भी बहुधा सो न पाये थे। कल तो अपने मनोमंथन के कारण ही उन्हें नींद न आई थी। अतः दस-पाँच मिनट में ही उन्हें नींद आ गई।

कचहरी पहुँचने से पूर्व अब शंकर ताँगे पर बैठा हुआ चुपचाप अपने को पढ़ रहा था, आत्मलीन होकर सोच रहा था—'कौन जाने दादा घर में किसी से कह भी आये हैं या नहीं कि मैं मुन्नी के पास जा रहा हूँ।

'...कौन जाने रेणु इस समय क्या सोच रही होगी ?

'...कौन जाने मीरा प्राणान्त के समय क्या-क्या सोचती रही हो ?'

अब बारम्बार शंकर को मीरा भाभी के यह कथन स्मरण आ रहे थे :

'...हमारा बनाया हुआ खाना तुमको भला क्या अच्छा लगता होगा !

'...हमारे सामने बहुत बनो नहीं लालाजी, खाना अच्छा बना होता, तो ऊपर से मिठाई माँगने की ज़रूरत न पड़ी होती।

'...मिठास हार्दिकता की हो, या खाने में स्वाद की, जब वह किसी तरह मिली ही नहीं, तभी तो इस नुकती की याद हो आई लालाजी को।

'...मुझको न भूल जाना लाला...।...अब मैं तुम्हें क्या बताऊँ लाला, भगवान् ही जानता है, मैं तुम्हें क्या समझती हूँ !'

शंकर को मीरा भाभी के इन कथनों में उसकी वे मुद्राएँ भी स्मरण आ रही थीं, जो उसके कल्पनापट पर उतर उतर-कर तुरन्त इन्द्रात्मक हो उठती थीं।

अब एक निःश्वास के साथ वह सोचने लगा—'भाभी के यह उपालम्भ-मात्र आज शेष रह गये हैं ! संसार में सभी-कुछ नश्वर है। एक नेग

है जिसकी अमर ज्योति सदा जगमगाती रहती है।'

शंकर अपने कल्पना-क्षेत्र में एकाएक फिर कानपुर पहुँच गया :

'...लेकिन मेरे यहाँ आने का समय कैसे निकाल सके ?'

'...तो आज तुम चले ही जाओगे। चलो, यह और भी ठीक हुआ। इस बार तीन वर्ष में देखने को मिले हो, अब शायद तेरह वर्ष में मिलो। बस; जिंदगी पार है!

'...हाँ, जैसे तुम अपने लिए निष्क्रिय बने रहना चाहते हो।...

'...ये छर्रा, ये बन्दूक, ये शूटिंग, बड़े शिकारी बन गये हो!

'...अहिंसावाद के इस युग में...इन हिंसात्मक प्रवृत्तियों के साथ ...अच्छा प्रवृत्तियाँ जाने दीजिए...वातावरण के साथ...मेरी तो एक घड़ी न पटेगी।

'...परिस्थितियाँ साथ नहीं दे रही हैं, नहीं तो अगर वकालत करती और एक लीगल प्रेक्टिशनर की हैसियत से तुम्हीं से आर्गू करने का अवसर पाती, तो मजा पैदा हो जाता!

'...अच्छा फिर रही।

'...रही न फिर ?'

इतने में कचहरी आ गई। दिवा-स्वप्न टूट गया। फिर भी शंकर ताँगे से उतरता हुआ यही सोचता रहा—'रेणु को मैं वकील बनाकर मानूँगा।'

अन्दर न्यायालय की कुर्सी पर बैठने से पूर्व निजी कमरे में जाते-जाते शंकर को अब स्मरण हो आया, घर को एक तार तो दे ही देना चाहिए कि दादा यहाँ आ गये हैं, चिन्ता न करना बाबू। तब तुरन्त उसने तार का फार्म मँगवाकर उसे लिखकर भिजवा दिया। फिर उसने पेशकार से कह दिया—"हालाँकि आज तबियत कुछ गड़बड़ है, लेकिन काम तो करना ही पड़ेगा।"

फाइलें देखते समय भी जब-तब उसे मीरा की याद हो आती :

'तुमको ईर्ष्या तो नहीं हो रही है कि देवर के आने पर क्यों मुझे एकाएक यह पागलपन सूझ रहा है !'

'अगर मुन्नी आज तुमको कोई ऐसी बूटी सुंघा दे, जिससे तुम्हारी तबियत बिल्कुल ठीक हो जाय, तो जानती हो, इसके बदले में मैं उसको कौन-सी वस्तु तक देने को तत्पर हो सकता हूँ ?''

'उहँ ! जानने से ही क्या होता है ? और बदला भी तो तभी चुकाया जाता है, जब कोई उसे लेना चाहता है !'

—भाभी के इस कथन का क्या अर्थ होता है, सोचकर शंकर की आँखों में आँसू आ गये। इस समय एक बार यह भी उसके मन में आया—'भाभी से पूर्व यदि रेणु···?' पर फिर उसी समय उसके ऊपर के दाँत नीचे के ओंठ को दबाने लगे—'यह मैं क्या सोच रहा हूँ !'

और तभी रेणु जैसे उसके सामने आ खड़ी हुई। उसका वह हाथ मिलाकर शर्त बदना स्मरण हो आया···'अच्छा फिर रही।'

तो प्रेम के क्षेत्र में ये जितने भी प्राणी हैं सबकी एक जाति है, एक ही प्रकृति और लगभग एक ही-सी छवि-माधुरी। एक के स्मरण से दूसरे की स्मृति का अटूट संबंध है। लेकिन यह क्या बात है कि मृत्यु के बाद मुझे मीरा भाभी की याद भूल नहीं रही है ! क्या मृत्यु के साथ प्रेम का कोई घनिष्ठ संबंध है ? या कि मृत्यु स्वयं प्रेम-मार्ग की एक परीक्षा है ? जो प्रेम जीवन-भर अप्रकट प्रच्छन्न बना रहता है, मृत्यु के साथ ही उसका परीक्षा-फल प्रकाशित हो जाता है ?

आज भी शंकर ने कचहरी में डटकर कार्य किया। मामलों को सुनते समय उसने भावुकता को अपने पास फटकने नहीं दिया। लंच के समय साधारण भोजन करके वह फिर अपनी कुर्सी पर आ डटा। इस प्रकार कार्य समाप्त होने पर वह घर लौटने की तैयारी करने लगा। पर उसी समय वह यह देखकर जल उठा कि पेशकार एक किसान से पाँच रुपये का नोट ले रहा है !

## : ३८ :

केदारबाबू अभी विश्राम करने उठे ही थे कि वीणा ने उनके पास जाकर पूछा—"दादा, पानी ले आऊँ ?"

देवकी कुछ सिलाई कर रही थी। हन्नू कपड़े साफ़ करने में लगा हुआ था और मुन्नी की माँ को एक झपकी लग गई थी। केदारबाबू सोच रहे थे कि जो-कुछ बातें करनी थीं, कर लीं। मुन्नी और उसकी माँ का जो अभिप्राय जानना था, वह भी जान लिया। अब मुझे यहाँ करना क्या है ? तुरन्त मुझे इलाहाबाद जाना है। पर इसी क्षण वीणा ने उपर्युक्त प्रश्न कर दिया।

केदारबाबू उठकर खड़े हो गये और बोले—"हाँ रन्नो, एक लोटे में पानी ले आ बेटी।"

वीणा झट लोटे में पानी ले आई। केदारबाबू ने पहले मुँह धोया, हाथ-पैर धोये और उनको तौलिये से पोंछ-पाँछकर वे जो पलँग पर जाने लगे कि फिर उन्हें ध्यान आ गया अब मैं यहाँ पड़े-पड़े करूँगा क्या ?

वीणा लौट गई थी। मुन्नी की माँ भी अब उठ बैठी थीं। हन्नू, कपड़े साफ़ करके उन्हें धूप में फैला रहा था।

तब मुन्नी की माँ बोलीं—"रन्नो, कल मुन्नी जो चौंसा आम बाजार से ले आया था, उनमें कुछ आम बच रहे थे। वैसे तो चाहे न भी बच पाते पर वे कल कुछ अधपके थे। इसीलिए मैंने उनको रख छोड़ा था। झंझरी-दार तारों की अलमारी जो रसोईघर के पासवाले बरांडे में है, उसी को ज़रा देख तो बेटी। एक बड़ा-सा आम उठा ले, पपीता भी शायद बचा रखा हो। छीलकर एक प्लेट में दादा को दे आ। आज खाना तो उनसे खाया नहीं गया। यों ही माया की दुलहिन के पीछा हो जाने से

चित्त दुखी है। फिर यह लोग विना समझे-बूझे इनसे लड़ने क्या लगे हैं, मेरा तो कलेजा नुचा जा रहा है !"

केदारवावू पलँग पर वैठने के वदले कमरे में टहलते हुए मुन्नी की माँ की ये वातें चुपचाप सुन रहे थे। इतने में देवकी केदारवावू के निकट आकर वैठती हुई वोली—"दादा, अव मैं चाहती हूँ कि मुकुल जीजा को वह जमीन मकान वनाने के लिए दे दी जाय।"

देवकी की इस वात पर केदारवावू को वड़ा सन्तोष मिला। वोले—"और देवकी, मैं चाहता हूँ, अपने खेत-पात भूदान-यज्ञ की भेंट चढ़ा दूँ और गाँववालों के आगे हाथ फैलाकर कहूँ कि तुम भी कुछ जमीन इस यज्ञ को दे डालो !"

देवकी सुनकर चकित हो उठी। वोली—"हूँ, कोई मानेगा !"

"मानेगा कैसे नहीं ! तुमको मालूम है—संत श्री विनोवा भावे को कितनी भूमि और सम्पत्ति अव तक इस यज्ञ के लिए प्राप्त हो चुकी है ?"—दादा ने पूछा।

देवकी केदारवावू की ओर देखकर चुप रह गई ! तव वे स्वयं वोल उठे—"अव तक भूदान में ३८,२७,८२० एकड़ भूमि उन्हें मिल चुकी है। भूदान की भावना चार वर्ष पूर्व जिस क्षण संत श्री विनोवा भावे के मन में उत्पन्न हुई, उसी क्षण हैदरावाद के पोचमपल्ली ग्राम में, वहाँ के प्रमुख जमींदार श्री रामचन्द्र रेडी ने पाँच सौ एकड़ भूमि उन्हें दान कर दी थी। अव तो इस ग्राम ने समस्त भूमि के ग्रामीणीकरण का निश्चय कर लिया है। वहाँ अव ग्राम की सारी भूमि एकत्र कर उस पर संयुक्त रूप से कृषि करने का आयोजन हो रहा है।"

तव देवकी के मुँह से निकल गया—"व्यक्तिगत रूप से चाहे थोड़ा कष्ट भी हो, पर दादा, वापू का स्वप्न तो पूरा होना ही चाहिए।"

अव केदारवावू वोले—"मैं तुमसे यही सुनना चाहता था देवकी !"

इतने में निष्काम आगया। हनू से उसने पूछा—"साहव नहीं आये ?" तव हनू ने खड़े होकर उत्तर दिया—"वावूजी, साहव पाँच वजे से पहले

तो कभी आते नहीं और अभी तो साढ़े चार भी नहीं वजे। पर आप तव तक वैठें। अभी थोड़ी देर में चाय भी वनी जाती है।"

वीणा आम लेने के लिए रसोईघर की ओर जा रही थी। तभी उसने सुन लिया, हनू किसी को चाय का निमन्त्रण दे रहा है। तव यह सोचकर कि देखें यह है कौन, वह वैठक की ओर चल दी। अभी वह दरवाज़े की ओर थोड़ी झाँक ही पाई थी कि निष्काम वोल उठा—"वीणाजी, आज आप अपने कालेज नहीं गईं?"

वीणा ने एक वार निष्काम की ओर देखा तो उसका प्रश्न सुनकर उसके मन में आया: वह क्यों न कह दे कि देखिए एक तो मैं 'वीणाजी' नहीं हूँ, मैं केवल 'वीणा' हूँ और इसके वाद उनसे यह भी कह दे कि आपको और कुछ पूछना है? पर फिर तत्काल उसको ध्यान आ गया, शंकर भैया होते तो इस वात पर वे कुछ प्रतिक्रिया भी व्यक्त करते। इनसे कहने का कौन जाने क्या फल होगा! अतएव वह विशेष कुछ न कहकर वोल उठीं—"मैंने आज तीन दिन की छुट्टी ली है। आपको मालूम ही है कि कल इलाहावाद से जिनके स्वर्गवास का समाचार तार से आया था वे भले ही शंकर भैया की सगी भाभी न रही हों, पर मेरी तो वे सचमुच सगी भाभी ही थीं। इसीलिए आज मैं सवेरे की गाड़ी से इलाहावाद जानेवाली थी, पर ठीक उसी समय, जव मैं चलने की तैयारी कर रही थी, कानपुर से वड़े मौसियाजी आ गये। तव फिर मेरा जाना भी रुक गया। अव वे और मैं दोनों कल सवेरे जा रहे हैं।"

"ओः! तो यह कहिए कि अव तीन-चार दिन तक आपसे भेंट न होगी।"

निष्काम के इस उत्तर पर वीणा सोचने लगी—'कितना अच्छा होता कि मैंने उस समय इनसे यह कह ही दिया होता कि आपको और कुछ पूछना है? पर अव तो वह सुअवसर हाथ से निकल ही गया। तव इस वात के उत्तर में जव उसे और कुछ न सूझ पड़ा तो वह कह वैठी—

"हाँ, तीन-चार दिन आपका बहुमूल्य समय नष्ट करने का अवसर न मिलेगा।" और इस कथन के बाद निष्काम को उत्तर देने का अवसर न देकर वीणा उसी ओर चल दी, जिधर जा रही थी।

वीणा के इस उत्तर पर पहले तो निष्काम कुछ सोच-विचार में पड़ गया, पर फिर उसे ध्यान आ गया—'कोई बात नहीं, कोई बात नहीं। ऐसा तो होता ही रहता है। मैंने भी तो उसकी भाभी की मृत्यु पर किसी प्रकार की समवेदना प्रकट किये बिना केवल इसी बात को महत्त्व दिया कि अब तीन-चार दिनों तक उससे मिलना न होगा।'

वीणा निष्काम को यह उत्तर तो दे गई, पर फिर अपने ही कथन की प्रतिक्रिया से वह स्वयं अभिभूत हो उठी। विशेष रूप से यह सोचकर कि इसका अर्थ यह भी तो होता है कि मुझे आपसे वार्तालाप करने में जो आनन्द आता है, तीन-चार दिनों तक मैं उससे वंचित रहूँगी! वास्तव में मुझे ऐसा उत्तर भी न देना चाहिए था—

आम छीलकर उसके टुकड़े करते क्षण भी वह सोच रही थी कि मैंने उनसे ऐसा कहा हो क्यों?

फ़ैज़ाबाद आने के बाद निष्काम शंकर की माँ से भी उसका परिचय हो गया। फिर अभी-अभी वीणा उसे बतला गई थी कि सबेरे बड़े मौसियाजी आ गये हैं और जिस समय वे आये थे, निष्काम स्वयं बैठक में उपस्थित था। इस प्रकार अब उसको यह समझने में देर न लगी कि वे केदारबाबू ही थे, जिनको शंकर अपना निर्माता मानता है। अतएव वह चुपके से अन्दर की ओर चल दिया।

मुन्नी की माँ ने जो निष्काम को आते देखा, तो वे बोल उठीं—"आओ बेटा, मुन्नी तो अभी नहीं आया, पर इससे क्या? तुम तब तक दादा के पास बैठो। चले जाओ, चले जाओ, वे मुन्नी के कमरे में ही बैठे हैं।"

इस प्रकार निष्काम केदारबाबू के पास जा पहुँचा।

उस समय केदारबाबू के सामने विचार करने के लिए जो समस्याएँ थीं वे उन सब पर क्रम-क्रम से विचार कर रहे थे।

'...आज मुझे यह तय कर लेना है कि मुन्नी को किस लड़की के साथ व्याह करना स्वीकार है। वैसे तो मैं जानता हूँ कि रेणु से उनका परिचय है ही। यह भी जानता हूँ कि मुन्नी की माँ और छोटे भैया भी उसी के साथ मुन्नी का व्याह करना चाहते हैं। मगर फिर निश्चयात्मक रूप से पूछ लेने में हानि ही क्या है?

...आज हम सभी लोग नगर में रहने लगे हैं पर क्या गाँव के प्रति हमारा कोई कर्तव्य नहीं है? हमारे परिवार का एक सदस्य अगर स्थायी रूप से गाँव में रहा करे तो कितना उत्तम हो! पर जब तक मैं स्वयं गाँव में न रहूँगा, तब तक कुछ नहीं हो सकता।'

इतने में निष्काम सामने आकर जो केदारबाबू को प्रणाम करने लगा तो आशीर्वाद देते हुए केदारबाबू बोले—"सुखी रहो, सुखी रहो।"

अब निष्काम ने देखा—उनका ऊँचा पूरा पृथुल शरीर है। केश आधे से अधिक श्वेत हो गये हैं। मूछें खिचड़ी, भृकुटियाँ और कानों के ऊपर के रोयें भी श्वेत हो चले। दाँत करीब-करीब सब बने हैं। एक तो स्पष्टरूप से गिर गया है, सो भी सम्मुखीन। सामने आते-आते दूर से ही ऐसे वृद्ध-वशिष्ठ प्रतीत होते हैं कि श्रद्धा से उनके आगे मस्तक झुक ही जाता है।

पलँग के निकट बेंत की कई कुर्सियाँ पड़ी हुई थीं। प्रणाम करने के बाद निष्काम पर दृष्टि डाल उन्हीं में से एक पर बैठने का संकेत करते हुए केदारबाबू बोले—"बैठ जाओ, बैठ जाओ।"

निष्काम जब कुर्सी पर बैठ गया, तब केदारबाबू ने पूछा—"मुन्नी से मिलने आये होगे?...अभी थोड़ी देर में आया जाता है; बैठो। तुम तो उसके मित्र हो, भला तुमसे उसकी कौन-सी बात छिपी रह सकती है! पर प्रकृति उसने कुछ ऐसी गंभीर पाई है कि झुकना तो जानता ही नहीं।"

केदारबाबू इस कथन से निष्काम के मनोभाव जानना चाहते थे।

निष्काम पहले मन-ही-मन सोच रहा था कि बात कैसे प्रारंभ करूँगा! पर अब वह यह देखकर विस्मय में पड़ गया कि वे स्वयं ही संकोच त्याग-कर मुझसे बात करने लगे! अभिमान तो जैसे इन्हें छू भी नहीं गया है।

तब निष्काम ने कह दिया—"कहना तो आपका ठीक ही है, पर मेरी समझ में शंकर भैया जितने गंभीर हैं उससे कम हँसोड़ नहीं हैं—बिलकुल काँटे पर तुल जानेवाले गुण। कभी जो किसी को बनाने लगते हैं तो हम लोगों के पेट में तो हँसते-हँसते दर्द होने लगता है। अभी कल ही की बात है, एक वकील साहब को इतना बनाया, इतना बनाया कि बेचारे रोनी सूरत लेकर अन्त में भाग ही खड़े हुए! वीणा के सामने की तो बात है; पूछ लीजिए।"

निष्काम जब अपना यह कथन समाप्त कर रहा था तभी वीणा दो प्लेटों में आम तथा पपीता लेकर वहाँ आ पहुँची।

इस बार निष्काम ने लक्ष्य किया, उसने पहली प्लेट दादा के सामने न रखकर उसी के सामने रखी। तब वह एक बार वीणा के राजीव लोचनों की ओर देखता रह गया, यद्यपि वीणा ने उसकी ओर दृष्टि-क्षेप तक नहीं किया।

तब केदारबाबू आश्चर्य के साथ बोल उठे—"अच्छा! तो ठीक है।"

निष्काम ने सोचा, इस समय मुझे चूकना नहीं चाहिए। फिर धीरे-धीरे वह केदारबाबू पर अपना मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने को उद्यत हो उठा। आम की प्लेट उसने छुई तक नहीं। फिर क्षण भर बाद कुछ सोच-कर उसने कह दिया—"शंकर भैया में कई गुण तो ऐसे हैं कि उनको शासनाधिकार का बहुत ऊँचा पद मिलना चाहिए।"

केदारबाबू को बार-बार गयाबाबू के घर जाने की याद हो आती थी। सोचते थे—'यमुना का सारा परिवार आज दुखी होगा। मामा का बच्चा तो माँ को बहुत हींड़ता होगा!' फिर भी निष्काम की बात पर कुछ

गर्वान्वित हो उठे; पर फिर निष्काम की परीक्षा लेने के विचार से बोल उठे—"तुम ठहरे उसके मित्र, तुमको तो उसके गुण-ही-गुण दिखलाई पड़ते होंगे। फिर भी एकाध गुण बतलाओ। शायद मुझे अब तक उस गुण का पता न लग पाया हो। वैसे···इस विषय में अब मैं तुमको क्या बतलाऊँ! अरे हाँ, मैं तुम्हारा नाम पूछना तो भूल ही गया!"

निष्काम ने विनम्र होकर कह दिया—"मुझे लोग निष्काम कहते हैं।"

"वाह, बड़ा सुन्दर नाम है तुम्हारा।"

केदारबाबू के इस कथन के क्षण हन्नू ट्रे में चाय ले आया और वीणा आकर पूछने लगी—"आम और ले आऊँ आपको?" पर फिर निष्काम की ओर एक उछलती हुई दृष्टि डालकर सोचने लगी—'कैसे अपने जी को समझाऊँ! भाभी की मृत्यु से ऐसा जान पड़ता है, जीवन थोड़ी देर का एक नाटक है।' फिर निष्काम की ओर उन्मुख होती हुई कृत्रिम भाषा में बोली—"पर आप तो अपने-आपको बिलकुल नामानुरूप सिद्ध करने पर तुल गये हैं।" फिर केदारबाबू की ओर देखकर पूछा—मौसियाजी, आप तो दूध लेंगे न इसके बाद?"

पर वीणा के इस कथन के पूर्व ही केदारबाबू बोल उठे थे—"हाँ बेटा निष्काम, खाते भी चलो थोड़ा थोड़ा।" फिर वीणा की ओर दृष्टि डालकर कहने लगे—"क्या कहा? दूध?—नहीं रन्नो, सवेरे दूध कुछ अधिक हो गया था; सो देर तक पेट कुड़कुड़ बोलता रहा। इसलिए इस समय मैं दूध-ऊध कुछ न लूँगा। न होगा, एक प्याला चाय अन्त में मैं भी पी लूँगा।"

वीणा लौट गई और केदारबाबू सोचने लगे—"किसी काम में जी नहीं लग रहा है। माया की दुलहिन की मृत्यु ने जैसे सारे आनन्द पर एक काली चादर बिछा दी है!" फिर निष्काम की ओर उन्मुख हो बोले —"हाँ निष्काम, तो मैं अपनी प्रकृति की बात तुम्हें बतला रहा था। गुणों की अपेक्षा दोषों का प्रभाव मेरे ऊपर पहले पड़ता है। बल्कि कभी-

कभी तो ऐसा होता है कि मैं गुण देख ही नहीं पाता। बहुत छोटी-सी बात है। तुम मुन्नी के मित्र हो, इसलिए तुम्हें बतला देने में मैं कोई हानि नहीं समझता। इस मुन्नी में ही क्रोध की मात्रा मुझे बहुत अधिक जान पड़ती है। कभी-कभी तो मैं यह भी सोचने लगता हूँ कि कालान्तर में ऐसा भी एक दिन आ सकता है, जब अपने इस दोष के कारण मुन्नी को कहीं अपने पद से पृथक् न होना पड़े!"

"दादा, मैं आपके समक्ष बिल्कुल बच्चा हूँ और उमर में तो शंकर से भी दो वर्ष छोटा हूँ। इसलिए मेरा अनुभव अपूर्ण भी हो सकता है। पर मैंने जो-कुछ सीखा है आप जैसे गुरुजनों के चरणों के निकट बैठकर। मैं यह सोचता हूँ कि क्रोध भी मानव-प्रकृति का एक गुण ही है। यह क्रोध ही तो है, जो आदर्शों की रक्षा के नाम पर हमें अपना जीवन तक उत्सर्ग कर देने को विवश कर देता है। और फिर क्रोधहीन व्यक्ति वीरात्मा तो कभी हो ही नहीं सकता!"

निष्काम जब अपना यह कथन पूरा करने लगा, तभी शंकर आ गया।

मुख की चेष्टा देखते ही केदारबाबू समझ गये—जान पड़ता है, मुन्नी का क्रोध अब तक शांत नहीं हुआ। इतने में वह सचमुच आते-ही-आते गरज उठा—"कहाँ गया हन्नू? यह रास्ते में स्टूल क्यों रखा है?" और उसने स्टूल उठाकर एक ओर इतने जोर से फेंक दिया कि उसका एक पाया ही टूट गया! फिर उसने माँ की ओर दृष्टि डालकर कह दिया—"और अम्मा, जब आज प्रदोष था, तब तुमने मुझसे कहा क्यों नहीं कि मुझे फलाहार के लिए अमुक-अमुक चीज़ें चाहिएँ।···दादा के लिए तुमने फल-वल भला क्या मँगाये होंगे! चारों ओर भूलें, ग़लतियाँ, असावधानी, आलस्य और उत्तरदायित्वहीनता देख-देख कर मेरा तो दिल बैठने लगता है!···और दादा, लो देखो, छोटे जीजाजी की करतूत! तुमने कानपुर से पीठ क्या फेरी, चारों ओर अपकीर्ति, उपहास, सनसनी और हाहाकार मच गया है! सुरेशबाबू पर अविश्वास करके माधवबाबू ने दुर्नसान

निकालकर आज दुकान में ताले डलवा दिये हैं! उन्होंने मुझे अलग से इसी आशय का पत्र भी भेजा है। उनका कहना है कि सुरेशबाबू ने अपने-आप को बहुत छोटा बना लिया है। उन्हें पता होना चाहिए कि कभी दुकान के हिसाब-किताब में और माल के आने-जाने में किसी अन्य कारण से भी गड़बड़ी हो सकती है। दामाद दोषी न भी हो, पर एक बार जब वे बदनाम हो चुके हैं, तब उनपर संदेह होना स्वाभाविक है। उन्होंने यह भी न सोचा कि अगर कभी ऐसा अवसर आया, तो अपनी सम्मान-रक्षा का कौन-सा उपाय उनके पास रह जायगा! दादा ने इन्हीं सब बातों के विचार से उन्हें अपनी दुकान पर नहीं रक्खा था। पर चाचाजी इतने भोले निकले कि चट उनकी बातों में आ गये। इस परिस्थिति से बचने के लिए मुझे विवश होकर इंजंक्शन लगाना पड़ा है। आशा है आप बुरा न मानेंगे।"—पत्र पढ़कर उसने केदारबाबू के आगे फेंकते हुए कह दिया—"आज बाजार-भर में आपकी कीर्ति-पताका फहरा रही होगी! बाबू का तार है। उन्हें पता ही नहीं कि आप यहाँ बैठे हैं! और आपको क्या कहूँ! आपसे भी इतना न बना कि कम-से-कम घरवालों से कह तो आते!...काम इतना सिर पर है कि दम मारने का अवकाश नहीं। सोच रहा था कि एक दिन के लिए इलाहाबाद आपके साथ मैं भी चलूँगा, पर मेरी समझ में नहीं आता कि चिरकर चार कैसे बन जाऊँ! और आपको जलपान के लिए कल के आये ये बासी फल दिये गये हैं! अधिक पक जाने के कारण जिनका स्वाद क्षीण हो चुका होगा।...क्या मज़ाक बना रखा है!...रन्नो, तुमसे इतना भी न हो सका कि दादा के लिए तुम...कुछ ताज़े फल ही ले आतीं?...दादा, आपने आराम किया या नहीं? नींद तो भला क्या आई होगी! खैर, यह लीजिए, आपके लिए यह शेरवानी और चूड़ीदार पाजामे का थोड़ा-सा कपड़ा ले आया हूँ। देखिए, यह ठीक है या नहीं। सारी मुश्किल तो यह है कि मैंने कभी शेरवानी पहनी नहीं। इसलिए अगर मेरी रुचि का कपड़ा आपको रुचिकर न हो, तो इसमें

क्या आश्चर्य ? लो, अब यह साला पैंट भी जल्दी उतरने से रहा ! चार-चार छः-छः महीने में तो अब कपड़े सख्त होने लगते हैं ! समझ में नहीं आता, कैसे चलूं, कैसे आगे बढ़ूं !"

घृणा, डाँट-डपट, श्रद्धा, आदर, भक्ति, प्यार और अपनी परेशानियाँ बतलाते, बातें करते, कपड़े बदलते हुए शंकर जब स्नानगार की ओर चल दिया, तब केदारबाबू ने निष्काम से पूछा—"बोलो निष्काम मैं क्या कह रहा था ?"

निष्काम स्वयं भी स्तंभित हो उठा था। शंकर को इस रूप में देखने का उसे कभी अवसर ही नहीं मिला था। अतः क्षण-भर अवाक् स्तब्ध रहने के अनन्तर वह बोला—"इसकी कोई दवा अगर है तो बस एक है और वह है उत्तरदायित्व। जब घर के सभी सदस्य अपना-अपना उत्तरदायित्व निर्वाह करने में सदा सजग और तत्पर बने रहते हैं, तभी घर और समाज में शान्ति और सौख्य की मन्दाकिनी प्रवाहित होती रहती है; किन्तु जब सारा उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्ति पर आ पड़ता है और वह व्यक्ति स्वयं भी कभी अपनी भावनाओं पर नियंत्रण नहीं कर पाता, तब उसका जो परिणाम होना चाहिए वह अन्त में होकर रहता है। दादा, यह तो आप मानेंगे कि अपने प्रति ईमानदार व्यक्ति सदा तेजस्वी होता है। फिर उस व्यक्ति का क्या पूछना जो सारे विश्व के प्रति सच्चा रहना चाहता हो !"

वीणा ने अब तक शंकर के दो ही रूप देखे थे : विनोदी और आत्म-लीन। पर आज उसकी इस रूपरेखा को देखकर वह कम्पित हो उठी !

जब मुन्नी की माँ से कुछ न बन पड़ा तो वे माला जपने बैठ गईं।

केदारबाबू ने अब कोई प्रश्न नहीं किया। उनके लिए शंकर जो कपड़े ले आया था, उनका भी उन्होंने स्पर्श नहीं किया। उन्होंने कभी कल्पना भी न की थी कि मुन्नी खरी-खोटी सुनाने में सब के साथ-साथ उनको भी न छोड़ेगा ! आम वे पर्याप्त मात्रा में खा चुके थे। चाय का एक

प्याला ले लेना उन्होंने अवश्य स्वीकार कर लिया था, पर तब तक चाय ठण्डी हो चुकी थी।

यह स्थिति देख निष्काम ने पुकारा—"अरे हन्नू, ज़रा चाय के इस पानी को तो गरम कर ले आओ।"

हन्नू जब चाय-भरा जग उठाने लगा, तब केदारबाबू बोल उठे—"ज़रा मुझे पानी दे जाना हन्नू।"

हन्नू ने चाय का पानी गरम करने के लिए बाद में चढ़ाया, पहले वह पानी और तौलिया लेकर केदारबाबू के हाथ धुला गया।

वीणा ने अब तक निष्काम के भी दो ही रूप देखे थे : एक तो वह उसे विनोदी स्वभाव का प्रतीत हुआ था, दूसरे कला और संस्कृति के सम्बन्ध में उसके विचार सुनने का थोड़ा-सा अवसर उसे मिला था। पर आज की बातचीत से उसे यह भी विदित होते देर न लगी कि वह जीवन के प्रति अपना एक चेतन दृष्टिकोण भी रखता है। तब एकाएक निष्काम के प्रति उसके हृदय में सम्यक् समादर की भावना उत्पन्न हो उठी। और आज की अपनी धृष्टता के लिए वह तब मन-ही-मन लज्जित होने लगी। फिर उसे ध्यान हो आया—"मैं यहाँ बेकार रुक गई। मुझे तुरन्त चला जाना चाहिए था।"

केदारबाबू पलँग पर चुपचाप लेट रहे। न तो फिर उन्होंने चाय पी और न दूध पिया। रात को जब भोजन के लिए उनसे मुन्नी की माँ ने आग्रह किया, तब भी उन्होंने यही उत्तर दिया—"मुझे भूख नहीं है; नहीं तो मैं अवश्य भोजन कर लेता। यों भी माया के दुःख ने मेरी भूख भी हर ली है।" फिर जब घुमा-फिराकर, थोड़ा-सा दूध ही लेने के लिए, मुन्नी की माँ ने उनसे आग्रह किया तब भी उन्होंने यही उत्तर दिया—"जब मैंने एक बार कह दिया मुन्नी की माँ कि मुझे भूख नहीं है, तो फिर बार-बार मुझे क्यों तंग कर रही हो? जाओ सब लोग खाना खाओ। यह मत समझो कि मैं किसी प्रकार की नाराज़ी से ऐसा कह रहा हूँ।

मनुष्य पर चाहे जितना दुःख पड़ जाय, खाना नहीं छूटता ।"

इस प्रकार जब सब लोग आग्रह करते-करते हार गये, तब शंकर चुपचाप आकर केदारबाबू के पलँग के पैताने बैठ गया और फिर हाथ बढ़ाकर उनके पैर दाबने लगा ।

अब केदारबाबू ने अनुभव किया—"ठीक तो है । मुन्नी ज़रा भी नहीं बदला है । न तो उसमें कहीं अहंकार है, न भोग-लिप्सा, न अधिकार का मद, न आलस्य । वह अपना उत्तरदायित्व समझता है, वह परिश्रम की कमाई पर अवलम्बित है, अपने गुरुजनों के प्रति श्रद्धालु और आश्रित जनों के प्रति सदय वत्सल ।'

अब केदारबाबू को निष्काम का यह कथन भी याद हो आया कि शंकर भैया में कुछ गुण तो ऐसे हैं, जो उनको शासनाधिकार का ऊँचे-से-ऊँचा पद दिलाने में समर्थ हो सकते हैं ।

यद्यपि पैर दाबने का अभ्यास शंकर का कुछ छूट गया था, तथापि धीरे-धीरे कुछ ही मिनटों में उसे अपनी सारी कलाएँ स्मरण हो आईं ।

क्षण-भर में केदारबाबू बोलने लगे—"अरे धीरे से रे, हाँ, हाँ, बस यहाँ, यहीं मीठा-मीठा दर्द बना रहता है । इसी को मैं तुझसे ठीक कराना चाहता था । हाँ, यह है, बस यही । अरे बस कर, बस कर, अब जा । तू भी भोजन कर ले मुन्नी ।"

पर तभी उनके पैरों पर पुटपुटी लगाते हुए शंकर बोल उठा—"अभी कैसे 'बस' कर लूं ? जब तक पूरी सेवा न कर लूँगा, तब तक अन्न-जल ग्रहण न करूँगा । कितने दिनों से प्रार्थना करता आ रहा हूँ—दादा, दो-चार दिन को आ जाओ ' अच्छा, एक ही रात को आ जाओ । मगर दादा को क्या पड़ी है ! हूँ:, मुझे सेवा करने तक का अवसर नहीं देना चाहते ! मेरा ऐसा निर्माण कर देने के बाद, मेरे निकट न रहकर, अपनी छत्र-छाया से भी हम सब को एक साथ वंचित कर देना चाहते हैं !" मीरा का दुःख यों भी आँखों में उमड़-उमड़ उठता था । धीरे-धीरे छिपकर आँसू पोंछता हुआ

तव शंकर वोल उठा—"मैं भी आज अपनी इस डिप्टीगिरी से त्यागपत्र देकर आया हूँ। मुझे अव इन चरणों की सेवा ही तो करनी है। मेरे आगे अव काम ही कौन-सा है?"

शंकर अपनी वात करता-करता अन्त में उस स्थिति को जा पहुँचा जव वह अपना रुदन छिपा न सका।

तभी केदारवावू तमक कर उठ वैठे और वोले—"यह सव मैं क्या देख रहा हूँ मुन्नी! तू यह वक क्या रहा है!"

शंकर ने आँसू पोंछते हुए उत्तर दिया—"मैं कभी असत्य-भाषण नहीं करता दादा।"

"तो तू क्या सचमुच त्यागपत्र दे आया! ऐं!!"

केदारवावू का स्वर अव आश्चर्य-चिन्ता से कुछ कम्पित हो उठा था।

तव निर्विकार मन से शंकर ने उत्तर दिया—जव मैंने देखा कि मेरे कारण दादा के मन में गाँठें पड़नी शुरू हो गई हैं, तव मैंने वही किया जो ऐसी अवस्था में मेरे लिए उचित था।"

अव केदारवावू सोचने लगे—'तभी आज निष्काम कह रहा था शंकर भैया में कुछ गुण तो ऐसे हैं कि उन्हें शासनाधिकार का उच्च-से-उच्च पद मिलना ही चाहिए।' अव विना किसी प्रकार का संकोच और भय व्यक्त किये हुए उनके मुँह से निकल गया—"पर तूने अपने त्यागपत्र देने का कारण भी तो कुछ लिखा होगा?"

शंकर वोला—"पहला कारण तो यह विश्वविख्यात भ्रष्टाचार ही है! आज हमारी सम्पूर्ण भारतीय जनता जिसके लिए 'त्राहि माम्' 'त्राहि माम्' चिल्ला उठी है!"

तव केदारवावू के मुँह से निकल गया—"मुन्नी, आजकल महीनों से मैं यही सोचता रहता था कि तस्वीर वनाने में मुझसे कहीं ग़लती तो नहीं हो गई। अव तक मेरे इस प्रश्न का उत्तर न मिला था। पर आज मेरी समझ में आ गया, तस्वीर विल्कुल ठीक वनी है। खैर, कोई वात नहीं। मुझे विश्वास है तेरा

त्यागपत्र कभी स्वीकार न होगा।" इस कथन के साथ वे मन-ही-मन यह भी सोचने लगे—'और अगर स्वीकार भी हो गया तो अगले चुनाव में कांग्रेस का टिकिट मिलते और संसद में पहुँचते क्या देर लगती है! अब लक्ष्य-बिन्दु निकट है, पथ प्रशस्त। वह चाहे तो वह मिनिस्टर भी बन सकता है। सब प्रभु की लीला है। अपना कुछ नहीं है!'...इस मनोवाञ्छित कल्पना के साथ संतुष्ट होते हुए केदारबाबू बोले—"यों भूख तो मुझे न थी; पर फिर तेरी प्रतिज्ञा का मान तो मुझे रखना ही पड़ेगा। चल, एकाध रोटी तेरे साथ बैठकर मैं खा लूँ!" और फिर इस कथन के बाद केदारबाबू एक निःश्वास लेकर बोल उठे—"कौन जाने, छोटे भैया ने अब तक खाना खाया होगा या नहीं।"

केदारबाबू का इतना कहना था कि खाँसते-खाँसते कैलाशबाबू ने उनके सामने आकर उनका चरणस्पर्श करते-करते कह दिया—"कहाँ दद्दा, परसों इस समय खाना खाया था। खाया क्या था, किसी तरह पेट भर लिया था। उस दिन मैंने बेकार ही तुमको उलटा-सीधा कह डाला। आदमी की पहचान असल में तब होती है, जब वह आँख से ओझल हो जाता है। इधर का अनुभव तो यह है कि तुम्हारे बिना पेट-भर खाना दूर रहा, रात को एक झपकी तक तो ले नहीं सकता!"

और इस कथन के साथ कैलाशबाबू की आँखें भर आईं।

केदारबाबू एकाएक कैलाशबाबू को आया जान, फिर कथन के साथ कण्ठ में भारीपन और आँखों में आँसू देख, मर्माहत हो उठे!

तब उन्होंने पूछा—"साथ में कौन-कौन आया है?"

कैलाशबाबू ने उत्तर दिया—"किसको-किसको बतलाऊँ! सारा परिवार तो है। जब मैं चलने लगा तो एक-एक करके सभी लोग चिल्लाने लगे—'मैं भी चलूँगा, मैं भी चलूँगा।' तब मैं किस-किसको मना करता?"

तदनन्तर केदारबाबू ने पूछा—"और छाया के रूप में तुम्हारे पीछे

यह खड़ा कौन है ?"

अब कैलाशबाबू सिर नीचा करते हुए बोल उठे—"अरे वही लड़की है—रेणु। यहाँ उसकी कोई एक बुआ रहती है कहीं। उसके यहाँ विवाह है। वहीं निमन्त्रण में जा रही है। शायद कल बरात आयेगी। पर अब रात में कहाँ उसका घर खोजती फिरेगी बेचारी ! एक तो सयानी लड़की और फिर कुमारी !"

कैलाशबाबू का इतना कहना था कि केदारबाबू उनको एकान्त में ले जाकर समझाने लगे—"छोटे भैया, तुम बूढ़े हो गये, मगर तुमको तात्कालिक बुद्धि न आई, न आयेगी। तुम जानते हो, यह लड़की कौन है। दो ही चार महीने के बाद हम सबको जिसे बाजे-गाजे के साथ घर ले आना है, आज तुमने उसे साधारण वेष-भूषा में सामने लाकर खड़ा कर दिया ! अब मैं तुमको क्या कहूँ ?···अरे मुन्नी की माँ, भावी बहू को सम्मानपूर्वक बिठाओ, उसका स्वागत करो।"

तब मुन्नी की माँ, देवकी, सुशीला, कामना आदि ने रेणु को घेर लिया।

इतने में वीणा का उच्च स्वर सुनाई पड़ा—"अरे शंकर भैया, शंकर भैया, अरे ओ शंकर भैया !"

कुछ तीव्रता के साथ शंकर ने उत्तर दिया—"क्या है ?"

तब उछलती-सी वीणा शंकर के पास जा उसके कान से मुँह लगाकर बोली—"लाओ, मेरा नेग दे दो। मौसी राई-नोन उतारने को कह रही हैं !"

शंकर जो अँगूठी पहने हुए था, वही उतारकर उसने वीणा को दे दी। फिर न जाने कौन-सी बात वीणा के मन में आई कि वह निष्काम की चर्चा करती-करती रुक गई। सोचा—'उँह ! देखा जायगा !'

शंकर सोचने लगा—'दुःख के क्षणों में आनन्द का यह पावन आगमन !'

वीणा क्षण-भर बाद जब रेणु और शंकर पर राई-नोन उतारने

लगी, तभी आकाशवाणी से मीरा की मर्मवाणी में एक गीत प्रसारित हो उठा—"चाकर राखो जी।"

किसी तरह शंकर छुट्टी पाते ही आविष्ट-सा होकर केदारबाबू के पास जाकर बोला—"दादा, मैं तुम्हारी सभी आज्ञाएँ मानता चलता हूँ, तुम देख ही रहे हो। पर दुःख की इन मर्मान्तक घड़ियों में विवाह के शुभारम्भ का इसी क्षण से यह नाटकीय आयोजन मुझसे सहा न जायगा। देर पर देर हो रही है। मैं अब रात की ही गाड़ी से इलाहाबाद चला जाऊंगा।"

तब केदारबाबू एक बार फिर सोचने लगे—मैंने ठीक ही कहा था—'तसवीर ठीक बनी है।' फिर तत्काल बोल उठे—"अच्छा मुन्नी, मैं भी अब भूदान का संकल्प तभी करूँगा, जब विवाह-कृत्य के बाद तू मेरा आशीर्वाद लेने को मेरी ओर बढ़ेगा।"

फिर कथन के बाद वे सोचने लगे—'अहो लीलामय, तुम्हारी यह कैसी रचना है कि दुःख की घड़ियों में भी तुम सौख्य की अजस्र धारा बरसाते हो। प्रभो! तुम्हारी यह कैसी अनोखी लीला है?'

उधर रेणु को जल-पान कराती कंगन देती हुई वीणा कह रही थी—"सभी उपहार भाभी तुमको समय से मिलेंगे। पर पहला उपहार तुम मेरे कहने से अभी ले लो। इसे मीरा भाभी ने बड़े प्यार से, तुम्हें इसी समय भेंट करने के लिए दिया था मुन्नी को।

"चाकर राखो जी" मादक मधुर शब्दावली में मीरा का गीत अब भी प्रसारित हो रहा था!

---